BAPA(N)- 201

केन्द्रीय प्रशासन

CENTRAL ADMINISTRATION

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय-हल्द्वानी
फोन नं. 05946 – 261122, 261123
टॉल फ्री नं.18001804025
ई – मेल info@uou.ac.in
http://uou.ac.in

अध्ययन मंडल

प्रोफेसर गिरिजा प्रसाद पाण्डे निदेशक- समाज विज्ञान विद्याशाखा उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	प्रोफेसर अल्का धमेजा, लोक प्रशासन विभाग इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रोफेसर उमा मैदुरी, लोक प्रशासन विभाग इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, दिल्ली	प्रोफेसर बी0 अरूण कुमार, लोक प्रशासन विभाग वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा, राजस्थान
डॉ0 घनश्याम जोशी (असिस्टेन्ट प्रोफेसर) लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	श्री सुमित सिंह (असिस्टेन्ट प्रोफेसर- एसी) लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड
श्री शुभांकर शुक्ला (असिस्टेन्ट प्रोफेसर- एसी) लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	श्री प्रमोद चन्याल (असिस्टेन्ट प्रोफेसर- एसी) लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड
पाठ्यक्रम संकलन और सम्पादन डॉ0 घनश्याम जोशी(असिस्टेन्ट प्रोफेसर) कार्यक्रम समन्वयक, लोक प्रशासन लोक प्रशासन विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	

इकाई लेखक	**इकाई संख्या**
डॉ0 सूर्यभान सिंह, असिस्टेन्ट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	1, 3, 4, 5, 6, 7, 8
डॉ0 सुशील सिंह चौहान	9
डॉ0 कमल कुमार	10, 11
प्रो0 दुर्गाकान्त चौधरी, राजनीति विज्ञान विभाग एस0बी0एस0 पी0जी0 कालेज, रूद्रपुर	12
डॉ0 घनश्याम जोशी, असिस्टेन्ट प्रोफेसर, लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	13, 14, 15, 16

प्रकाशन वर्ष- 2024

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन- निदेशालय अध्ययन एवं प्रकाशन, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी- 263139

अनुक्रम

खण्ड- 1 भारतीय प्रशासन		
1	भारतीय संविधान की विशेषतायें	1 – 8
2	भारतीय प्रशासन का विकास	9 – 24
3	भारतीय प्रशासन की विशेषताऐं	25 – 32
4	भारतीय प्रशासन का सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व संवैधानिक पर्यावरण	33 – 42
खण्ड- 2 संघीय शासन		
5	राष्ट्रपति	43 – 56
6	प्रधानमंत्री	57 – 63
7	संसद- लोक सभा और राज्य सभा	64 – 74
8	केन्द्रीय सचिवालय, मन्त्रिमंडलीय सचिवालय , प्रधानमंत्री सचिवालय	75 – 87
9	केन्द्र -राज्य सम्बन्ध	88 – 98
खण्ड- 3 लोक सेवाऐं, केन्द्रीय सेवाएं एवं संस्थाऐं		
10	लोक सेवाऐं	99 – 110
11	अखिल भारतीय सेवाएं, केन्द्रीय सेवाएं, भर्ती एवं प्रशिक्षण	111 – 125
12	लोक सेवा आयोग एवं कर्मचारी चयन आयोग	126 – 142
खण्ड- 4 केंद्रीय संथाएं		
13	राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग	143 – 157
14	राष्ट्रीय महिला आयोग	158 – 164
15	राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग और राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग	165 – 176
16	पिछड़ा वर्ग आयोग और राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग	177 – 183

इकाई- 1 भारतीय प्रशासन की विशेषताऐं

इकाई की संरचना

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई उत्तरदायी कारण
1.3 भारतीय प्रशासन की विशेषताऐं
1.3.1 गतिशील प्रशासन
1.3.2 विकास प्रशासन
1.3.3 उत्तरदायी प्रशासन
1.3.4 नौकरशाही एवं लालफीताशाही
1.3.5 प्रशासन की तटस्थता
1.3.6 सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ
1.3.7 प्रशासन की बढ़ती हुई शक्तियाँ
1.3.8 प्रशासन का लक्ष्य सामाजिक-आर्थिक न्याय
1.3.9 समन्वित प्रशासन
1.4 सारांश
1.5 शब्दावली
1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.9 निबंधात्मक प्रश्न

1.0 प्रस्तावना

प्रथम इकाई के अध्ययन के पश्चात आप यह जानने और समझने में सक्षम हो गये होंगे कि किस प्रकार से भारतीय प्रशासन प्राचीन मौर्य काल से अपनी विकास की यात्रा शुरु करके मुगल काल से होते हुए ब्रिटिश काल तक की यात्रा पूर्ण की है। भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगमन के साथ ब्रिटिश प्रशासन के बीज पड़े। सन् 1600 में एक व्यापारिक कम्पनी के रूप में ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारत में आगमन हुआ, किन्तु देखते ही देखते यह कम्पनी और इसके माध्यम से ब्रिटिश संसद का भारत पर साम्राज्य स्थापित हो गया। ब्रिटिश साम्राज्य का भारतीय प्रशासन के विविध पक्षों पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

इस इकाई में हम भारतीय प्रशासन की विशेषताओं का अध्ययन करेंगे। जिसमें हम स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई उत्तरदायी कारणों का अध्ययन करते हुए संसदीय लोकतंत्र, संघात्मक शासन, स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन की बदलती प्रकृति (प्रशासन के लक्ष्यों और उद्देश्यों में परिवर्तन) का अध्ययन करेंगे। साथ ही यह भी देखेंगे कि किस प्रकार भारतीय संविधान, समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना करता है और अंततः हम यह अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार भारतीय प्रशासन गतिशील प्रशासन है, विकास प्रशासन है,

उत्तरदायी प्रशासन है और राजनीतिक उथल-पुथल से अपने को अलग रखते हुए सामाजिक-आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए समन्वित रूप से कार्य कर रहा है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई उत्तरदायी कारणों को जान सकेंगे।
- भारतीय प्रशासन की विशेषताओं को जान सकेंगे।
- संसदीय लोकतंत्र की स्थापना के उद्देश्यों को जान सकेंगे।
- संघात्मक शासन और उसकी स्थापना के कारणों को जान सकेंगे।

1.2 स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई उत्तरदायी कारण

जैसा कि हम जानते है कि 15 अगस्त 1947 को हमारे देश को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। देश को आजादी मिलाने के साथ ही उन सपनों को साकार करने के लिए भी प्रयास शुरू किये जाने लगे, जिनको लक्ष्य मानकर आजादी के दीवानों ने संघर्ष किया था। लेकिन उन सपनों को साकार करने के लिए यह आवश्यक था कि उसके अनुरूप प्रशासनिक तंत्र का निर्माण किया जाए साथ ही साथ इस नवनिर्मित प्रशासनिक तंत्र के लक्ष्य भी स्पष्ट किये जाए। स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई कारण उत्तरदाई थे, जो निम्नलिखित हैं-

1.2.1 संसदीय लोकतंत्र की स्थापना

स्वतंत्रता के पश्चात देश में संसदीय लोकतंत्र की स्थापना की गयी। आजादी के पूर्व कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी नहीं थी, वह केवल ब्रिटिश आकाओं के प्रति ही उत्तरदायी थी। परन्तु संसदीय लोकतंत्र की स्थापना के साथ ही कार्यपालिका को विधायिका के प्रति उत्तरदायी बनाया गया। कार्यपालिका का अर्थ मंत्रिमण्डल से है, जबकि विधायिका का तात्पर्य कानून निर्माण करने वाली संस्था 'संसद' से है। कार्यपालिका का गठन संसद के सदस्यों में से किया जाता है और कार्यपालिका के गठन का अवसर उस दल को मिलाता है, जिसे संसद के निम्न सदन में बहुमत प्राप्त होता है और संसद के निम्न सदन में जनप्रतिनिधि होते हैं जो जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुनकर आते है। इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि कार्यपालिका अपने अस्तित्व के लिए जनप्रतिनिधियों के बहुमत के साथ समर्थन पर निर्भर करती है और ये जनप्रतिनिधि जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार अब प्रशासन ,ब्रिटिश शासन के विपरीत,जनता के प्रति उत्तरदायी हैं।

1.2.2 संघात्मक शासन की स्थापना

ब्रिटिश शासन के समय हमारे देश में एकात्मक शासन था जिसमे एक केन्द्र से शासन संचालित किया जाता था । जब कि हमारे देश में भौगोलिक ,सामाजिक और सांस्कृतिक भिन्नताऐं पायी जाती हैं, इन भिन्नताओं के साथ इनकी समस्याऐं भी भिन्न प्रकृति की होती हैं, इसलिये इनका स्थानीय आधार पर बेहतर समाधान किया जा सकता है। शक्ति विभाजन के सिद्धान्त के आधार संघात्मक शासन की स्थापना की गयी जो सामाजिक और सांस्कृतिक भिन्नताओं को बनाए रखने के साथ ही उनकी समस्याओं के स्थानीय स्तर पर समाधान संभव हो सका।

1.2.3 प्रशासन की प्रकृति में परिवर्तन (प्रशासन के लक्ष्यों और उद्देश्यों में परिवर्तन)

जैसा कि यह सर्वविदित है कि भारतीय संविधान में उन लक्ष्यों और उद्देश्यों का स्पष्ट प्रावधान किया गया है, जिनकी सिद्धि के लिए प्रशासन को करना है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि स्वतंत्रता के पहले हमारे देश का प्रशासन नियामकीय प्रकृति का था, दूसरे शब्दों में प्रशासन के कार्य मुख्यतःनियामकीय थे, अर्थात प्रशासन का मुख्य कार्य क़ानून और व्यस्था बनाये रखना था, जिससे अंग्रेज शासन को अपने लक्ष्यों की सिद्धि में अनवरत सहूलियत बनी रहे।

परन्तु स्वतंत्रता के उपरान्त संविधान निर्माताओं ने स्पष्ट रूप से उन लक्ष्यों का प्रावधान किया जिनको ध्यान में रखकर प्रशासन को संचालित किया जाना था। पहले प्रशासन जनता पर अपना दबाव बनाकर कार्य करता था, जनता के कोई मौलिक अधिकार नहीं थे, जनता का यह दायित्व था की प्रशासन के निर्देशों का पालन करता रहे। किन्तु आजादी के बाद अब प्रशासन जनता के लिए काम करता है, क्योंकि जिसकी हम आप को ऊपर बता चुके हैं कि हमारे देश में संसदीय लोकतंत्र की स्थापना की गयी, जिसमें सरकार जनता द्वारा निर्वाचित होती है और जनता के लिए काम करती है, इसलिए अब प्रशासन जनता के दबाव में काम करता है। संविधान के द्वारा मौलिक अधिकारों का प्रावधान किया गया। ये वे अधिकार हैं, जो राज्य और व्यक्तियों के विरूद्ध प्रदान किये गये हैं। अर्थात इन अधिकारों के उल्लंघन होने पर चाहे वे व्यक्ति के द्वारा हों या राज्य के द्वारा हों, व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह अनुच्छेद- 32 के अनुसार सर्वोच्च न्यायलय और अनुच्छेद- 226 के तहत उच्च न्यायलय में जा सकता है।

इसी के साथ-साथ संविधान के भाग- 4 में नीति-निदेशक तत्वों का उपबन्ध भी करके राज्य को कुछ कल्याणकारी दायित्व भी सौंपे गये , जिनको लागू करने की जिम्मेदारी प्रशासन की है।

1.2.4 समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष राज्य

हमारे मूल संविधान में समाजवादी और 'पंथनिरपेक्ष' शब्द का समावेश नहीं किया गया था। 42वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा इनका समावेश संविधान किया गया। इन शब्दों के समावेश से प्रशासन के लक्ष्यों में आमूलचूल परिवर्तन कर दिया। इसको और अधिक स्पष्ट करने के लिए इनके अर्थ को भी स्पष्ट करना आवश्यक है। समाजवाद का तात्पर्य है कि राज्य लोगों के बीच आय की असमानताओं को न्यूनतम करने प्रयास करेगा। पंथनिरपेक्ष का अर्थ है कि राज्य का अपना कोई राजधर्म नहीं होगा, इसका तात्पर्य यह भी है कि राज्य सभी धर्मों के साथ सामान बर्ताव करेगा, किसी के साथ किसी भी प्रकार का पक्षपातपूर्ण व्यवहार नहीं करेगा। यद्यपि इन शब्दों के संविधान में समावेश के पूर्व भी ऐसे लक्ष्यों की पूर्ति के लिए उपबन्ध थे। इन उपबन्धों से प्रशासन की जिम्मेदारी में आमूलचूल परिवर्तन आया है।

1.3 भारतीय प्रशासन की विशेषताऐं

इस प्रकार से स्वतंत्रता के उपरान्त भारतीय प्रशासन के उद्देश्यों और लक्ष्यों में अभूतपूर्व परिवर्तन आया है। इस परिवर्तन के कारण भारतीय प्रशासन में निम्नलिखित विशेषताऐं दिखाई पड़ती हैं, जो इस प्रकार हैं-

1.3.1 गतिशील प्रशासन

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं कि आजादी के बाद प्रशासन के उद्देश्यों और लक्ष्यों में आमूलचूल परिवर्तन देखने को मिल रहा है। आज प्रशासन जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन बन गया है। समय के बदलाव के

साथ नित्य नई आवश्यकताऐं और समस्याऐं पैदा होती रहती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति और समस्याओं के समाधान हेतु प्रशासन को निरन्तर तत्पर रहना होता है और बदलती परिस्थितियों के अनुरूप अपने ढालते रहना है, क्योंकि अब प्रशासन जनता के स्वामी के रूप में नहीं वरन सेवक के रूप में कार्य कर रहा है।

1.3.2 विकास प्रशासन

विकास प्रशासन एक परिवर्तनशील अवधारणा है जो निरन्तर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों को लाने के लिए प्रयत्नशील है, साथ ही इन परिवर्तनों को सकारात्मक दिशा देने का भी कार्य कर रहा है। इसका सम्बन्ध योजना के निर्माण, इसके निर्माण हेतु आवश्यक पूर्वाश्यक्ताओं की पूर्ति से भी सम्बन्ध रखता है। विकास प्रशासन का सम्बन्ध नीतियों के कार्यान्वयन से है, इसलिए सरकार के जनकल्याणकारी और सशक्तिकरण सम्बन्धी नीतियों के क्रियान्वयन की जिम्मेदारी भी इसी पर होती है।

1.3.3 उत्तरदायी प्रशासन

संसदीय शासन की एक प्रमुख विशेषता, उत्तरदायी शासन की स्थापना। चूँकि हमारे देश में संसदीय शासन में निम्न सदन(लोक सभा) के सदस्यों का चुनाव जनता के द्वारा, प्रत्यक्ष रूप से वयस्क मताधिकार के आधार पर किया जाता है। मंत्री-परिषद का गठन संसद के सदस्यों में से ही किया जाता है। मंत्री-परिषद के सदस्य सम्बंधित विभाग के अध्यक्ष (राजनीतिक प्रमुख) होते हैं। इसलिए अपने विभाग के कार्यों के लिए वे जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

1.3.4 नौकरशाही एवं लालफीताशाही

हमारे देश में नौकरशाही का एक विस्तृत ढ़ाँचा विद्यमान है, जो नीति-निर्माण में सहयोगी भूमिका से लेकर, नीति के क्रियान्वयन तक के कार्यों में सक्रिय रहती है। परन्तु यह नौकरशाही अपने दायित्वों के निर्वहन में नियम-कानून और प्रक्रिया पर ज्यादा जोर देती दिखायी देती है, जिससे ये नियम-कानून और प्रक्रिया पर ज्यादा जोर देना ही साध्य के रूप में दिखायी देने लगता है, जिससे लालफीताशाही का दोष प्रशासन में उभरकर सामने आता है।

1.3.5 प्रशासन की तटस्थता

भारतीय प्रशासन की एक और महत्वपूर्ण विशेषता इसकी राजनीतिक तटस्थता। अर्थात लोक सेवक अपने सार्वजनिक जीवन में राजनीतिक अभिव्यक्तियों अर्थात राजनीतिक विचारों और व्यवहारों से सर्वथा दूर रखता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रशासनिक अधिकारी बिना किसी दलीय निष्ठा के पूर्वाग्रह से मुक्त होकर अपने दायित्वों का निर्वहन करता है। सरकार चाहे किसी भी दल की हो, उसका सम्बन्ध केवल नीतियों के निष्पक्ष क्रियान्वयन से होता है न कि दलीय भावना से। इस तरह के राजनीतिक तटस्थता के लिए लोक सेवकों हेतु भारतीय संविधान में उपबंध किये गये हैं।

1.3.6 सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ

आजादी के बाद सामान्य रूप से प्रशासन में सामान्यज्ञों की नियुक्ति होती थी, किन्तु उसके बाद के समय में विभिन्न प्रकार की जरूरतों को पूरा करने के लिए विशेषज्ञों की भी नियुक्ति की जाने लगी। जैसे डॉक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, कृषि वैज्ञानिक, अर्थशास्त्री,विधिवेत्ता आदि।

1.3.7 प्रशासन की बढ़ती हुई शक्तियाँ

स्वतन्त्रता के पूर्व प्रशासन की प्रकृति नियामकीय थी, जिसका प्रमुख लक्ष्य कानून और व्यवस्था बनाए रखना था। परन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात संसदीय लोकतंत्र की स्थापना की गयी, जिसमे सरकार जनता की भलाई के लिए कार्य करती है न कि अपने लाभ के लिए, जैसा कि अंग्रेज शासन काल में हुआ करता था। स्वतन्त्रता के पश्चात संविधान निर्माताओं ने मूलभूत सामजिक आर्थिक लक्ष्यों की घोषणा की है। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए नियोजन प्रक्रिया प्रारम्भ की गयी । इस कारण से प्रशासन की शक्तियों में अभूतपूर्व वृद्धि कर दी है। नित्य नवीन कल्याणकारी योजनाऐं लागू की जा रही हैं, इनको लागू करने की जिम्मेदारी प्रशासन पर ही होती है। इसके साथ ही साथ अब तो सशक्तिकरण से सम्बंधित नीतियां भी लागू की जा रही हैं, जिससे समाज में अब तक हासिए पर रहे समुदायों को भी समाज की मुख्य धारा से जोड़ा जा सके। यदि इन सब बातों को हम संक्षेप में कहें तो यह है कि व्यक्ति के जन्म से पूर्व माँ के स्वास्थ्य, जन्मोपरान्त जन्म प्रमाण-पत्र, बच्चे के स्वास्थ्य, पोषण, नाना प्रकार के टीके, जनगणना, उसकी शिक्षा, रोजगार, विवाह पंजीकरण, बृद्धावस्था में उनके हित में विभिन्न प्रकार के सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम और अंततः मृत्यु पंजीकरण और इसी प्रकार से अन्य जो भी लोकहित में आवश्यक कार्य हों प्रशासन के द्वारा ही किये जाते हैं। लोकतंत्र में प्रशासन की बढती जिम्मेदारियों ने उसकी शक्तियों में भी अभूतपूर्व बृद्धि कर दी है।

1.3.8 प्रशासन का लक्ष्य सामाजिक-आर्थिक न्याय

लंबे संघर्ष के पश्चात देश को आजादी मिली थी, जिसका उद्देश्य देशवासियों को उन सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों से सुसज्जित करना था, जिनसे अभी तक वे वंचित रहे हैं, क्योंकि परम्परागत भारतीय समाज में कुछ सामाजिक और आर्थिक निर्योग्यताऐं प्रचलित थीं। जैसे अश्पृश्यता(छुआ-छूत), व्यवसाय की निर्योग्यताऐं आदि। हमारे संविधान में एक तरफ तो इन निर्योग्यताओं को समाप्त किया गया तो दूसरी तरफ संविधान के द्वारा देशवासियों को विभिन्न प्रकार के सामाजिक और आर्थिक अधिकार प्रदान किये गये, जिससे वे सम्मान पूर्वक अपना जीवन यापन कर सकें। इस प्रकार के व्यापक उपबंध हमारे संविधान भाग-3 में मूलाधिकार और भाग-4 के नीति-निदेशक तत्वों में किये गये हैं।

1.3.9 समन्वित प्रशासन

हमारे देश में भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विविधताऐं हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए संविधान निर्माताओं ने संघात्मक शासन व्यवस्था को अपनाया। जिसकी मुख्य विशेषता- लिखित, निर्मित और कठोर संविधान, संघ सरकार और राज्य सरकार के बीच शक्तियों का विभाजन, संविधान की व्याख्या, नागरिकों के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा और संघ सरकार और राज्य सरकार के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों का निराकरण करने के लिए स्वतन्त्र, निष्पक्ष और सर्वोच्च न्यायलय की स्थापना। इसके साथ ही साथ मजबूत केन्द्र की स्थापना के लिए एकात्मक शासन के मुख्य प्रावधानों को भी सम्मिलित किया गया। ऐसा इसलिए किया गया क्योंकि देश, स्वतंत्रता के समय दुखद विभाजन को देख चुका था। इसी बात को ध्यान में रखते हुए संघ और राज्य के लिए सम्मिलित सेवाओं का प्रावधान किया गया, जिसे अखिल भारतीय सेवा कहते हैं। जिसमें तीन अखिल भारतीय सेवाऐं हैं, पहला- भारतीय प्रशासनिक सेवा, दूसरा- भारतीय पुलिस सेवा और तीसरा- भारतीय वन सेवा। इन सेवाओं का उद्देश्य केन्द्र और राज्य के बीच सहयोग को निरंतर प्रोत्साहित करना, जिससे राष्ट्र निर्माण का कार्य सफलता पूर्वक किया जा सके और कल्याणकारी और सशक्तिकारक नीतियों को भी सफलतापूर्वक लागू किया

जा सके। यहाँ हम यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि केन्द्र सरकार के पास अपना कोई अलग प्रशासनिक तंत्र नहीं है, अपितु केन्द्र की नीतियों को भी सफलतापूर्वक लागू करने में राज्य के प्रशासनिक तंत्र से सहयोग लिया जाता है। भारतीय प्रशासन की उपर्युक्त विशेषताओं के साथ ही साथ इसके कुछ अन्य पक्षों का भी अध्ययन करना आवश्यक होगा जो कि इनमें प्रायः दिखाई देता है-

- पिछले कुछ वर्षों में यह तथ्य उभरकर सामने आया है की प्रशासनिक अधिकारियों के अपने दायित्वों के निर्वहन में राजनीतिक हस्तक्षेप दिखाई दे रहा है, परिणामस्वरूप प्रशासकों में निराशा की भावना प्रबल होती दिखाई देती है। राजनीति में अपराधीकरण बहुत ही चिंता का विषय है। इसके निराकरण हेतु कोई संस्थागत उपाय और उन उपायों का समुचित क्रियान्वयन का प्रबंध करना उपयोगी होगा।
- कल्याणकारी योजनाओं, विकास कार्यों और सशक्तिकारक नीतियों के क्रियान्वयन में जनता की सक्रीय भागीदारी नहीं हो पाती है, जिसके फलस्वरूप नीतियों और कार्यक्रमों की सफलता संदिग्ध हो जाती है। इसका प्रमुख कारण प्रशासन के द्वारा जनता को साथ लेकर न चलने की प्रबृत्ति है। इस लिए आवश्यकता इस बात की है प्रशासन को जनता के प्रति संवेदनशील बनाया जाये और प्रशासकों के लिए भी नियत अंतराल पर नियमित प्रशिक्षण कार्यक्रम संचालित किये जाते रहें। साथ ही जिस क्षेत्र और जिस समुदाय विशेष के लिए नीति का निर्माण किया जाना है, उसकी भी नीति-निर्माण में भागीदारी सुनिश्चित करने के उपाय किये जाने चाहिए।
- देश को आजाद हुए छ: दशक से अधिक हो चुके हैं,परन्तु आज भी समाज का ढ़ाँचा सामंतवादी ही दिखाई देता है, फलस्वरूप बहुत से कार्यक्रमों का लाभ आम आदमी तक नहीं पहुँच पाता है। जिसकी चर्चा हमारे एक पूर्व प्रधानमन्त्री कर चुके हैं, जिसमें उन्होंने यहाँ तक कहा कि गाँव के लिए भेजे गये एक रुपये में, मात्र 15 पैंसे ही उन तक पहुँच पाता है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि इस तरह की सुविधाऐं देश के आम आदमी तक पहुँचे। इसके लिए सामाजिक अंकेक्षण जैसे उपायों के साथ इस प्रकार के अन्य उपायों को भी अपनाने पर जोर दिया जाना चाहिए।
- वोहरा समिति(1955) ने अपने प्रतिवेदन में राजनीतिज्ञों, प्रशासकों और माफियाओं के बीच संबंधों को उजागर करके यह स्पष्ट कर दिया कि अधिकतर योजनाएं आम आदमी के नाम से संचालित तो हो रही हैं, परन्तु उनका वास्तविक लाभ लक्षित व्यक्ति और समूह तक नहीं पहुँच पा रहा है।

अभ्यास प्रश्न-

1. 15 अगस्त 1947 को हमारे देश को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। सत्य/असत्य
2. संसद के निम्न सदन के जनप्रतिनिधि, जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुनकर आते हैं। सत्य/असत्य
3. शक्ति विभाजन के सिद्धान्त के आधार संघात्मक शासन की स्थापना की गयी है। सत्य/असत्य
4. मूल अधिकारों के उल्लंघन होने पर व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह अनुच्छेद- 32 के अनुसार सर्वोच्च न्यायलय और अनुच्छेद- 226 के तहत उच्च न्यायलय में जा सकता है। सत्य/असत्य
5. संविधान के भाग- 4 में नीति निदेशक तत्वों का उपबंध किया गया है। सत्य/असत्य
6. 42वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा समाजवादी, पंथनिरपेक्ष और अखण्डता का समावेश संविधान में किया गया। सत्य/असत्य
7. संविधान के भाग- 3 में मूल अधिकारों का प्रावधान किया गया है। सत्य/असत्य

1.4 सारांश

इस इकाई में हमने स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई उत्तरदाई कारणों का अध्ययन किया जिसमें संसदीय लोकतंत्र, संघात्मक शासन, स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन की बदलती प्रकृति (प्रशासन के लक्ष्यों और उद्देश्यों में परिवर्तन) का अध्ययन किया है। साथ ही यह भी अध्ययन किया कि किस प्रकार भारतीय संविधान, समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना करता है और अंततः हमने यह अध्ययन किया कि किस प्रकार भारतीय प्रशासन, गतिशील प्रशासन है, विकास प्रशासन है, उत्तरदायी प्रशासन है और राजनीतिक उथल-पुथल से अपने को अलग रखते हुए सामाजिक-आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए समन्वित रूप से कार्य कर रहा है। साथ ही यह भी देखा कि किस प्रकार से प्रशासन में लालफीताशाही के दुर्गुण उभरे हैं, जिसमें सामाजिक-आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपनायी जाने वाली प्रक्रिया को इतना महत्व देते दिखाई देते हैं कि, लक्ष्य गौण हो जाते हैं। परन्तु बावजूद इसके स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय प्रशासन ने सामाजिक-आर्थिक न्याय की स्थापना के मार्ग पर चलने का अच्छा प्रयास किया है, किन्तु बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालकर जन-आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए अभी बहुत कुछ करना बाकी है।

1.5 शब्दावली

संसद- भारत में कानून निर्माण की सर्वोच्च संस्था है जो राष्ट्रपति, राज्य सभा और लोक सभा से मिलकर बनती है।

संघात्मक शासन- स्थानीय स्वायत्तता के साथ राष्ट्रीय एकता और सुरक्षा को ध्यान में रखकर स्थापित की जाने वाली शासन व्यवस्था है।

समाजवादी- भारत के सन्दर्भ में इसका अर्थ यह है कि राज्य लोगों के बीच आर्थिक असमानताओं को न्यूनतम करने का प्रयास करेगा।

पंथनिरपेक्ष- इसका अर्थ है कि राज्य का अपना कोई राजधर्म नहीं होगा और वह सभी धर्मों को सामान रूप से संरक्षण प्रदान करेगा।

1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** सत्य, **3.** सत्य, **4.** सत्य, **5.** सत्य, **6.** सत्य, **7.** सत्य

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय लोक प्रशासन- बी0एल0 फड़िया।
2. भारतीय लोक प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी।

1.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान- डी0डी0 बसु।
2. भारतीय लोक प्रशासन- एस0सी0 सिंहल।

1.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारतीय प्रशासन के विशेषताओं की विवेचना कीजिये।
2. स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय प्रशासन की प्रकृति में परिवर्तन के कारणों को स्पष्ट कीजिये।

इकाई- 2 भारतीय प्रशासन का विकास

इकाई की संरचना

2.0 प्रस्तावना
2.1 उद्देश्य
2.2 भारतीय प्रशासन विकास
    2.2.1 मौर्य प्रशासन
        2.2.1.1 केन्द्रीय प्रशासन
        2.2.1.2 मंत्री-परिषद
        2.2.1.3 नौकरशाही
        2.2.1.4 राज्य का सप्तांग सिद्धान्त
        2.2.1.5 प्रान्तीय प्रशासन
        2.2.1.6 स्थानीय प्रशासन
        2.2.1.7 नगर प्रशासन
        2.2.1.8 कौटिल्य के अर्थशास्त्र की प्रांसगिकता
    2.2.2 मुगल प्रशासन
        2.2.2.1 केन्द्रीय प्रशासन
        2.2.2.2 प्रान्तीय प्रशासन
        2.2.2.3 स्थानीय प्रशासन
        2.2.2.4 मनसबदारी प्रथा
        2.2.2.5 जागीरदारी प्रथा
    2.2.3 ब्रिटिश प्रशासन
        2.2.3.1 केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद का विकास
        2.2.3.2 केन्द्रीय सचिवालय का विकास
        2.2.3.3 वित्तीय प्रशासन का विकास
        2.2.3.4 पुलिस प्रशासन का विकास
        2.2.3.5 न्याय व्यवस्था का विकास
2.3 सारांश
2.4 शब्दावली
2.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.8 निबंधात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

यद्यपि लोक प्रशासन एक अध्ययन के विषय के रूप में नवीन विषय है, जिसका जन्म 1887 में वुडरो विल्सन की राजनीति-प्रशासन द्वैतभाव की विचारधारा के प्रतिपादन के परिणामस्वरूप हुआ, तथापि लोक प्रशासन एक कार्य या प्रक्रिया के रूप में सभ्यता के अस्तित्व के साथ ही दिखाई देता है। जब से सभ्यता का अस्तित्व है, तब से मानव के विकास हेतु निरंतर संगठित प्रयास होते रहे और सभ्यता के अस्तित्व के साथ ही प्रशासन का अस्तित्व भी देखने को मिलता है।

भारतीय परिवेश में भी प्रशासन का विकास प्राचीन काल से ही देखा जा सकता है। हड़प्पा सभ्यता से लेकर आज तक भारतीय प्रशासन अनेक उतार-चढ़ावों से गुजरा है। भारतीय प्रशासन अपने वर्तमान रूप में विरासत और निरंतरता का परिणाम है, जिसके विकास की कड़ियां किसी न किसी रूप में अतीत से जुड़ी हुई है। हालांकि वर्तमान भारतीय शासन प्रणाली मूल रूप से ब्रिटिश काल की देन मानी जाती है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भारतीय प्रशासन के विकास प्रक्रिया को जान सकेंगे।
- मौर्यकाल में भारतीय प्रशासन के विकास प्रक्रिया को जान सकेंगे।
- मुगलकाल में भारतीय प्रशासन के विकास प्रक्रिया को जान सकेंगे।
- ब्रिटिश शासन में भारतीय प्रशासन के विकास प्रक्रिया को जान सकेंगे।

2.2 भारतीय प्रशासन विकास

वी0 सुब्रह्मण्यम के अनुसार वर्तमान प्रशासनिक प्रक्रिया का सिलसिला सदियों तक विचारों का रहा, न कि संस्थाओं का। संस्थागत सिलसिला अंग्रेजों के शासनकाल की देन है। भारतीय प्रशासन के विकास में मौर्यकाल, मुगलकाल तथा ब्रिटिशकाल का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इनकी विस्तार से चर्चा करते हैं-

2.2.1 मौर्य प्रशासन

मौर्य प्रशासन, भारतीय इतिहास में दिलचस्पी का विषय है। मौर्य प्रशासन का अध्ययन पूर्ववर्ती प्रक्रियाओं के परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है, अर्थात इसकी स्थिति वैदिक कबायली संरचना और सामांतवादी युग के बीच की है। मौर्यकाल में भारत ने पहली बार राजनीतिक एकता प्राप्त की तथा एक विशाल साम्राज्य पर मौर्य शासकों ने शासन किया। इस विशाल साम्राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था पर प्रकाश डालने वाले अनेक ऐतिहासिक स्रोत उपलब्ध हैं। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज की इंडिका, अशोक के शिलालेख व अनेक यूनानी रचनाओं से मौर्य शासन प्रणाली के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा अपने गुरू और प्रधानमन्त्री चाणक्य की सहायता से जिस शासन प्रणाली का प्रारम्भ किया गया, उसके अनेक तत्व वर्तमान प्रशासन में भी दृष्टिगोचर होते हैं। मौर्य प्रशासन के दौरान निम्नांकित बातों पर विशेष ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है। पहला- यह एक अति केन्द्रीकृत प्रशासन था, जिसकी पहुँच नागरिक जीवन के सभी क्षेत्रों में थी। इसकी चिंता बाजार-व्यवस्था के नियंत्रण से लेकर नागरिक जीवन में नैतिक मूल्यों की सुरक्षा तक थी। दूसरा- यह एक नौकरशाही पर

आधारित प्रशासन था, जिसमें सबल एवं निर्बल दोनों पक्ष थे। तीसरा- वस्तुतः मौर्य प्रशासन कोई नवीन प्रशासन नहीं था वरन् नंद शासकों की पद्धति का ही एक विकसित रूप था अर्थात् केन्द्रीकरण की प्रक्रिया नंद शासकों के समय ही शुरू हो गयी थी।

2.2.1.1 केन्द्रीय प्रशासन

मौर्य साम्राज्य का स्वरूप राजतंत्रात्मक था। अतः शासन का प्रधान राजा होता था। राजपद एक महत्वपूर्ण पद होगया और इस पद की शक्ति एवं अधिकार बढ़ गये। राजा, राज्य का प्रमुख होता था। जिसके पास कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका के अधिकारों के साथ वित्तीय शक्तियाँ भी थी। राजा की खुशी प्रजा की खुशी पर निर्भर करती थी। जनकल्याण पर राजा का कल्याण आश्रित था। राज्य में रहने वाले लोगों के हितों का सम्पादन ही राजा का प्रमुख कर्त्तव्य था।

राजा अब केवल दूरस्थ संरक्षक नहीं वरन् जनता का एक निकट संरक्षक बन गया। राजशक्ति निंरकुश पितृसत्तावाद पर आधारित थी। अशोक ने स्पष्ट रूप से अपने धौली शिलालेख में घोषणा की "कि सारी प्रजा मेरी संतान है।" अर्थात मौर्य शासक जनता के व्यक्तिगत जीवन में भी हस्तक्षेप करने लगे थे। राजा अब न केवल धर्मशास्त्र के द्वारा संचालित होता था। बल्कि अर्थशास्त्र के द्वारा संचालित होता था। अर्थशास्त्र में राजा की विवेकशीलता पर बल दिया गया, अर्थात् राजा न केवल पुराने कानूनों का पालन करवा सकता था वरन् प्रशासनिक आवश्यकताओं से प्रेरित होकर नए कानूनों का निमार्ण भी कर सकता था और फिर परंपरागत कानून तथा राजा के कानून में किसी प्रकार का विरोधाभास उत्पन्न होने की दशा में राजा का कानून ही ज्यादा मान्य होता था। अर्थशास्त्र के अनुसार प्रशासन के प्रत्येक पहलू में राजा का आदेश या विचार ही सर्वोपरि है।

अर्थशास्त्र में राजा के कर्त्तव्यों का भी निर्धारण किया गया। अर्थशास्त्र ने इस बात पर बल दिया, कि राजा को किसी भी समय कर्मचारियों एवं जनता की पहुँच से परे नहीं होना चाहिए। ऐसा होने पर गड़बड़ी एवं असंतोष फैलेगा और राजा शत्रुओं का शिकार हो जाएगा। मेगस्थनीज का भी कहना है कि मालिश करवाते समय राजा से विचार विमर्श के लिए मिला जा सकता है। अशोक के शिालालेख भी इस बात की पुष्टि करते है। अर्थशास्त्र में राजा के कुछ आवश्यक गुण भी निर्धारित किए गये, जिसके अनुसार जनसाधारण, राजा नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त राजा को दैवीय बुद्धि व शक्ति वाला, वृद्धजनों की बात सुनने वाला, धार्मिक व सत्यवादी होना आवश्यक है।

2.2.1.2 मंत्री-परिषद

सिद्धान्त के रूप में मौर्य काल में राज्य की संपूर्ण शक्ति राजा के हाथों में ही केन्द्रित थी, किन्तु व्यवहार में अनेक प्रतिबन्धों के कारण राजा की शक्ति की निरंकुशता सीमित थी विशाल मंत्री-परिषद व प्राचीन परंपराओं के पालन ने मौर्य शासकों की निरंकुशता पर सदैव अंकुश लगाए रखा। राजा को अपने कर्त्तव्यों के निवर्हन में सहायता हेतु एक मंत्री-परिषद होती थी। अर्थशास्त्र एवं अशोक के अभिलेखों में मंत्री-परिषद का जिक्र है। अर्थशास्त्र के अनुसार राज्यरूपी रथ केवल एक पहिए(राजा) के द्वारा नहीं चल सकता। अतएव दूसरे पहिए के रूप में उसे मंत्री-परिषद की आवश्यकता होती है।

मंत्री-परिषद एक परामर्शदात्री निकाय थी, जिसकी शक्ति राजा एवं मंत्रियों की परस्पर स्थिति पर निर्भर करती थी। सामान्यतः राजा के समानान्तर मंत्री-परिषद की शक्ति कमजोर थी और राजा मंत्री-परिषद की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं था। राजा के समानांतर मंत्रियों की स्थिति का अंदाजा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि राजा

अपने मंत्री को स्वयं नियुक्त करता था। मेगस्थनीज के अनुसार राजा के सलाहकार एक विशेष जाति से नियुक्त होते थे। राजा द्वारा मुख्यमंत्री तथा पुरोहित का चुनाव उनके चरित्र की भली भांति जाँच के बाद किया जाता था।
अर्थशास्त्र में मंत्रियों के कुछ गुण निर्धारित किए गये अर्थात उनमें उच्चकुल में जन्म, वीर, बुद्धिमान, ईमानदारी जैसे गुण होने चाहिए। मंत्री-परिषद से 3-4 मंत्रियों की एक छोटी उपसमिति भी बनती थी जो राजा को कुछ विशिष्ट बातों में परामर्श देती थी। कौटिल्य ने नीति निर्धारण की गोपनीयता पर बल दिया है। मंत्री-परिषद का अपना सचिव होता था, जिस पर उसके कार्यालय की देखभाल का भार था। कौटिल्य ने उसे मंत्री-परिषद अध्यक्ष कहा है। डॉ0 आर0सी0 मजूमदार ने मौर्यकालीन मंत्री-परिषद की तुलना इंग्लैण्ड की प्रिवि कौंसिल से की है।

2.2.1.3 नौकरशाही

मंत्री-परिषद व राजा के द्वारा मुख्यतः नीति निर्धारण का कार्य किया जाता था। तत्पश्चात् उन नीतियों को कार्यान्वित करने का प्रमुख कार्य नौकरशाही के द्वारा किया जाता था। मौर्यकालीन नौकरशाही अत्यधिक सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित थी। प्रशासन के संचालन में कौटिल्य ने 18 तीर्थों (अधिकारियों का नाम) एवं 27 अध्यक्षों की भूमिका पर बल दिया है। मौर्यकाल में प्रशासन की सुविधा के लिए 18 विभागों की स्थापना की गयी थी, जिन्हें तीर्थ कहते थे। प्रत्येक विभाग के संचालन व निरीक्षण के लिए अध्यक्ष होता था। एक महत्वपूर्ण केन्द्रीय अधिकारी सन्निधाता अर्थात् कोषाध्यक्ष होता था। वह केन्द्रीय खजाने का प्रभारी होता था। वह एक दूसरे महत्वपूर्ण अधिकारी समाहर्त्ता से मिलकर कार्य करता था। समाहर्त्ता भू-राजस्व की वसूली से जुड़ा हुआ था। युवराज, राजा का उत्तराधिकारी होता था। मंत्री सर्वोच्च सलाहकार था। पुरोहित शासकीय तथा धार्मिक मामलों में राजा का परमर्शदाता था।
अर्थशास्त्र में राजस्व के महत्वपूर्ण स्रोतों की चर्चा की गयी है, जैसे भूमि, खनन, जंगल, सड़क आदि। महत्वपूर्ण राजकीय खर्च- वेतन, सार्वजनिक कार्य निमार्ण, सड़क एवं कुऐं, विश्रामगृह, सिचाई से संबंधित कार्यों में होता था। अर्थशास्त्र में राष्ट्रीय कोष एवं राजा के व्यक्तिगत कोष में कोई अन्तर नहीं किया गया था।

2.2.1.4 राज्य का सप्तांग सिद्धान्त

कौटिल्य के अनुसार राज्य एक आवश्यक और अनिवार्य संस्था है। राज्य की स्थापना के बिना समाज में अराजकता तथा मत्स्य न्याय की स्थापना हो जाएगी तथा शक्तिशाली, दुर्बल को अपने हित का साधन बना लेगा। कौटिल्य राज्य की उत्पत्ति के सन्दर्भ में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त में विश्वास करता है। राजा व प्रजा के बीच समझौते के परिणामस्वरूप राज्य अस्तित्व में आया। चूंकि राज्य, व्यक्ति के लिए हितकारी संस्था है। अतः व्यक्ति की निष्ठा एवं आस्था राज्य में होती है। कौटिल्य के अनुसार राज्य के सात अंग हैं, जिन पर राज्य की व्यवस्था, स्थिरता और अस्तित्व निर्भर करता है। ये सात अंग हैं- राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोषालय, सशस्त्र सेना तथा मित्र। राज्य के इन भागों में सावयव एकता होती है।
राजा, राज्य का प्राण है। अर्थशास्त्र के अनुसार राजा धर्म का रक्षक होता है। उसमें निर्भयता, आत्मनियंत्रण, निणर्य लेने की क्षमता तथा विचार करने की शक्ति होनी चाहिए। यदि राजा अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार नहीं करता, तो वह आदर योग्य नहीं है। अयोग्य राजा को पद से हटा देना चाहिए।
राजा के बाद पदसोपान में दूसरा स्थान अमात्य का आता हैं। वह आजकल के मंत्रिमंडलीय सचिव के समान शासकीय अधिकारियों में सबसे उच्च अधिकारी होता था। अमात्य प्रशासन सम्बन्धी बातों को देखता था। राजा कुशल, बुद्धिवान तथा निर्णय लेने की क्षमता वाले व्यक्ति को अमात्य पद के लए चयन करता था।

जनपद, राज्य का तीसरा अंग था। इसमें भूमि-भाग के साथ साथ क्षेत्र में रहने वाले लोगों भी सम्मिलित होते थे। कौटिल्य के आनुसार श्रेष्ठ जनपद वह है जो प्राकृतिक सीमाओं जैसे नदी, पहाड़, जंगल में बसा हो। जनपद की भूमि उपजाऊ होनी चाहिए तथा रहने वाले लोग मेहनती, बुद्धिमान, वफादार होने चाहिए।

दुर्ग भी राज्य का एक अनिवार्य अंग था। राज्य की स्थिरता और युद्धों में सुरक्षा के लिए दुर्ग की भूमिका अहम होती थी। दुर्ग में पर्याप्त खाद्य सामग्री, अस्त्र-शस्त्र, पानी, दवाईयां आदि का रहना आवश्यक था, जो समय पर काम आ सके।

कोष व कोषालय भी राज्य के अस्तित्व के लिए अनिवार्य था। मौर्यकाल में वित्त की व्यवस्था बेहतर थी। विभिन्न प्रकार के करों से प्राप्त राशि कोषालय में एकत्रित होती थी। विभिन्न खर्चों के लिए बजट में व्यवस्था होती थी। आपात स्थितियों से निपटने के लिए आपात निधि की आवश्यकता थी।

सेना की राज्य में महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। कौटिल्य ने मौर्य सेना के संगठन तथा सैन्यशास्त्र का व्यापक चित्रण किया है। सैनिकों से राज भक्ति, साहस, बहादुरी की अपेक्षा की जाती थी। सीमा विस्तार पर विशेष ध्यान होने की वजह से सेना राज्य का आवश्यक अंग थी।

मित्र से तात्पर्य मित्र राज्यों से था। राज्य की प्रगति इस बात पर निर्भर करती है कि पड़ोसी राज्यों के साथ उसके सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हैं या नहीं।

इस प्रकार कौटिल्य ने राज्य के अस्तित्व एवं स्थिरता हेतु राज्य के सात अंगों पर आधारित होने की बात कहीं इन अंगों के बीच उचित संतुलन अनिवार्य था।

2.2.1.5 प्रान्तीय प्रशासन

मौर्यकाल में संपूर्ण साम्राज्य का विभाजन प्रान्तों में किया गया था। पाँच प्रान्तीय राजधानियां प्रमुख थी तथा उत्तरापथ की राजधानी तक्षशिला, अवंति राज्य की राजधानी उज्जैन, कलिंग प्रांत की राजधानी तोसली, दक्षिणापथ की राजधानी सुवर्णगिरि और पूर्वी प्रान्त की राजधानी पाटलिपुत्र। ये पाँच महत्वपूर्ण एवं बड़े प्रान्त थे तथा इनके अधीन छोटे छोटे प्रान्त भी थे। बड़े प्रान्तों का प्रशासक राजकुल का होता था। अशोक के फरमानों में उन्हें कुमार या आर्यपुत्र कहा गया है। अर्थशास्त्र में इस बात की चेतावनी दी गयी कि कुमार या आर्य पुत्र खतरे का कारण हो सकता है। इसलिए उसे राज्य पर सम्पूर्ण नियंत्रण नहीं होना चाहिए। प्रान्तीय प्रशासन में केन्द्रीकरण की प्रकृति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि प्रान्तीय मंत्रिपरिषदों को यह स्वतन्त्रता थी कि वह प्रान्तीय प्रशासक को सूचित किए बिना राजा को महत्वपूर्ण सूचना प्रेषित कर सकती है। इस बात की पुष्टि दिव्यावदान से भी होती है।

किन्तु क्षेत्रीय स्तर पर मौर्य प्रशासन में कुछ स्वायत्तता प्रदान की गयी थी, अर्थात संबंधित क्षेत्र के व्यक्ति को ही उस क्षेत्र का प्रशासक नियुक्त किया जाता था। उदाहरण के लिए रुद्रदमन के जूनागढ़ अभिलेखों से ज्ञात होता है कि काठियावाड़ का शासक यौनराज तुशाष्क था।

2.2.1.6 स्थानीय प्रशासन

प्रान्तों का विभाजन विभिन्न जिलों में किया गया था। जिले को विषय या आहार कहा जाता था। जिला प्रशासन से जुड़े तीन पदाधिकारी थे- प्रादेशिक, रज्जुक और युक्त। प्रादेशिक नामक अधिकारी कानून एवं व्यवस्था को बनाऐ रखने और भू-राजस्व की वसूली से जुड़े हुए थे, जबकि रज्जुक नामक अधिकारी विशेष रूप से न्यायिक कार्यों से जुड़े हुए थे। रज्जुक की नियुक्ति ग्रामीण जन कल्याण के उद्देश्य से की जाती थी। उसके अतिरिक्त युक्त का कर्त्तव्य सचिव एवं लेखा संबधी काम देखना था। अशोक के अभिलेखों में इन अधिकारियों की चर्चा की गयी है।

जिला एवं ग्रामीण प्रशासन के बीच एक और प्रशासनिक इकाई थी। जो संभवतः पांच या दस गांवों का समूह होती थी। इसका महत्वपूर्ण अधिकारी गोप होता था जिसका काम सामान्य प्रशासन की देख रक रेख करना था। गोप के अतिरिक्त स्थानिका नामक अधिकारी भी होता था जिसका मुख्य कार्य कर की वसूली था। वह सीधे प्रादेशिक के अधीन था। ऐसा प्रतीत होता है कि स्थानिका आधुनिक सहायक कलेक्टर और प्रादेशिका जिला कलेक्टर के समान थे और ये दोनों अधिकारी समाहर्त्ता या चीफ कलेटर के अधीन होते थे।

सबसे निचले स्तर पर ग्रामीण प्रशासन था जिसका प्रधान मुखिया होता था। वह ग्रामीण वृद्धजनों में से निर्वाचित होता था। छोटे गांवों में मुखिया ही एक मात्र अधिकारी होता था किन्तु बड़े गावों में मुखिया की सहायता के लिए लेखपाल एवं लिपिकों की नियुक्ति की जाती थी और अधिकारियों का वेतन या तो भू-राज्स्व से या फिर भूमि प्रदान करके पूरा किया जाता था।

2.2.1.7 नगर प्रशासन

मौर्यकाल में नगर प्रशासन का अपना श्रेणीबद्ध संगठन था। नगर प्रशासन का प्रधान नगरक नामक अधिकारी होता था। अशोक के एक अभिलेख में नगर-व्यवहारिक की चर्चा की गयी है। नगरक या नगर निरीक्षक का काम नगर कानून व्यवस्था बनाए रखना था। आकाल पड़ने पर गोदामों से अनाज बंटवाने का काम भी नगरक करता था। इस नगरक नामक अधिकारी की सहायता एवं मंत्रणा के लिए समाहर्त्ता एवं प्रादेशिका नामक अधिकारी होते थे। मेगस्थनीज के इंडिका में विस्तार से पाटलिपुत्र के नगर प्रशान की चर्चा की गयी है। मेगस्थनीज के अनुसार पाटलिपुत्र के प्रशासक के लिए पांच-पांच सदस्यों की छ: समितियां होती थी, जिनके कार्य एवं कार्त्तव्य निम्नलिखित थे- उद्योगों व शिल्पों का निरीक्षण, विदेशियों की देखभाल, जन्म-मरण का पंजीकरण, वाणिज्य व्यापार की देखभाल, सार्वजनिक बिक्री का निरीक्षण और बिक्री कर संग्रह।

2.2.1.8 कौटिल्य के अर्थशास्त्र की प्रांसगिकता

कौटिल्य का अर्थशास्त्र प्राचीन भारत में लोक प्रशासन पर किया गया सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। यद्यपि अर्थशास्त्र में स्पष्ट रूप से लोक प्रशासन के सिद्धान्त नहीं रखे गये हैं, लेकिन इसमें वर्णित सरकारी कार्यप्रणाली महत्वपूर्ण है। कौटिल्य ने एक कल्याणकारी प्रशासन की बात की थी। राजा को प्रजा के हित के लिए कार्य करना चाहिए। उसे प्रजा को पुत्र की भांति पालना चाहिए, क्योंकि 'प्रजा हिते, हिते राज्ये, प्रजानाम च सुखे सुखम्'। अर्थात प्रजा के हित में ही राज्य का हित है और प्रजा के सुख से ही राज्य सुखी है। कल्याणकारी प्रशासन के साथ ही कौटिल्य ने सुशासन की बात की है, अर्थात जनता की सारी सुविधाओं को सरकार द्वारा मुहैया कराया जाना चाहिए। क्षेत्रों की आवश्यकतानुसार उन्हें संसाधन उपलब्ध कराना राष्ट्र का दायित्व है।

कौटिल्य ने राजस्व संग्रहण के सन्दर्भ में उचित करारोपण को महत्व दिया है। करारोपण राज्य की आवश्यकता व प्रजा की स्थिति के अनुरूप होना चाहिए, उसके अनुसार उचित करारोपण की व्यवस्था वैसी ही होनी चाहिए, जैसे वृक्ष से फल गिरते हैं। कौटिल्य ने जट को जनता को खुशहाली की गारंटी देती है। कौटिल्य का कथन है कि सभी उद्यम वित्त पर निर्भर है अतः कोषागार पर सर्वाधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

कौटिल्य का विचार है कि राजा का लोकसेवक कोषागार रक्षक मात्र होना चाहिए। प्रशासन के नियमों का उल्लंघन करने पर न्यायपालिका के दायरे में नहीं आते, किन्तु निजी गुप्तचर व्यवस्था तथा विदेश सम्बन्धी आदि विषयों पर कौटिल्य के द्वारा दिए गये विचार वर्तमान भारतीय प्रशासन के सन्दर्भ में पर्याप्त रूप से प्रासंगिक है।

2.2.2 मुगल प्रशासन

मुगल प्रशासन, जिसने प्रशासन को एक नयी दिशा दी,का अध्ययन निम्न बिन्दुओं के आधार पर करते हैं-

2.2.2.1 केन्द्रीय प्रशासन

प्रशासन के शीर्ष पर बादशाह होता था। वह सभी प्रकार के सैनिक एवं असैनिक मामलों का प्रधान होता था। बादशाह मुगल साम्राज्य के प्रशासन की धुरी था बादशाह की उपाधि धारण करता था, जिसका आशय था कि राजा अन्य किसी भी सत्ता के अधीन नहीं है। वह समस्त धार्मिक तथा धर्मोत्तर मामलों में अंतिम निर्णायक व अंतिम सत्ताधिकारी है। वह सेना, राजनीतिक, न्याय आदि का सर्वोच्च पदाधिकार है। वह सम्पूर्ण सत्ता का केन्द्र है तथा खुदा का प्रतिनिधि है।

मुगल बादशाह बहुत शानो-शौकत का जीवन व्यतीत करते थे। उनको बहुत से विशेषाधिकार प्राप्त थे और उनकी इच्छा ही कानून थी। तुर्की मंगोल परम्परा से ही मुगल प्रशासन को केन्द्रीकृत प्रशासन की अवधारणा विरासत में प्राप्त हुई थी। वैसे कुछ विद्वानों का मानना है कि अकबर के समय केन्द्रीकृत तुर्की मंगोल परम्परा में संशोधन किया गया। इन सबके उपरान्त भी राजा का जीवन नियमों से बंधा हुआ था और यह माना जाता था कि जनता की भलाई में ही राजा की भलाई है। कुरान में स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि प्रजा के कल्याण का पूरा उत्तरदायित्व राजा के कंधों पर है। केन्द्रीय प्रशासन के संचालन हेतु राजा के द्वारा निम्नांकित पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी-

1. **वकील या वजीर-** वकील सम्पूर्ण प्रशासन का पर्यवेक्षण करता था। इसे राजस्व और वित्त का अधिभार दिया गया था, यह भू-राजस्व का आकलन करता था और उसकी वसूली का निरीक्षण करता था। वह इससे संबंधित हिसाब की जाँच भी करता था।
2. **दीवाने-आला/दीवाने-कुल-** दीवाने आला वित्तीय शक्तियाँ रखता था। इसे राजस्व और वित्त का अधिभार दिया गया था। यह भू-राजस्व का आकलन करता था और उसकी वसूली का निरीक्षण करता था। वह इससे संबंधित हिसाब की जाँच भी करता था।
3. **मीर बख्शी-** यह साम्राज्य का सर्वोच्च भुगतान अधिकारी होता था क्योंकि मुगलकाल में मनसबदारी प्रथा प्रचलित थी तथा सैनिक एवं असैनिक सेवाओं का एकीकरण किया गया था। इसलिए यह साम्राज्य के सभी अधिकारियों को भुगतान करता था। यह मनसबदारों की नियुक्ति की सिफारिश करता था और उनके लिए जागीर की अनुशंसा करता था।
4. **दीवाने-शामा/खान-ए-शामा-** यह राजकीय कारखनों का निरीक्षण करता था तथा राजकीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उन कारखानों के उत्पादन को नियंत्रित करता था।
5. **सद्र-उस-सूद्र-** यह बादशाह का मुख्य धार्मिक परामर्शदाता होता था। यह धार्मिक अनुदानों को नियंत्रित करता था। साथ ही यह धार्मिक मामलों से संबंधित मुकद्दमे भी देखता था।
6. **मुख्य काजी-** यह न्याय विभाग का प्रधान होता था।
7. **मुहतसिब-** यह जनता के नैतिक आचरण का निरीक्षण करता था और देखता था कि शरीयत के अनुसार कार्य हो रहा है या नहीं साथ ही यह माप तौल का निरीक्षण भी करता था।

उपरोक्त सातों अधिकारियों के अतिरिक्त केन्द्रीय प्रशासन में कुछ छोटे-छोटे पद भी होते थे, जैसे- दरोगा-ए-तोपखाना, दरोगा-ए-डाकचौकी, मीर-माल (टकसाल प्रधान), मीर-बर्र (वन अधीक्षक) आदि।

2.2.2.2 प्रान्तीय प्रशासन

मुगल सम्राट बाबर ने अपने साम्राज्य का विभाजन जागीरों में किया था तथा उसके समय किसी प्रकार की प्रान्तीय प्रशासनिक व्यवस्था विकसित नहीं हुई थी। सबसे पहले पहले एकरूप प्रान्तो का निर्माण अकबर के शासनकाल में हुआ। सन् 1580 में अकबर ने अपने साम्राज्य का विभाजन 12 प्रान्तों में किया, जिसकी संख्या शाहजहां के काल तक 22 हो गयी। अकबर की प्रशासनिक नीति प्रशासनिक एक रूपता तथा रोक और संतुलन के सिद्धांतों पर आधारित थी परिणामस्वरूप प्रान्तीय प्रशासन का ही प्रतिरूप था।

प्रान्तीय प्रशासन का प्रमुख सूबादार/नजीम कहलाता था, जिसकी नियुक्ति बादशाह करता था। आमतौर पर सूबेदार का कार्यकाल तीन वर्ष का होता था। नजीम की सहायता हेतु कुछ अन्य अधिकारी भी होते थे। प्रान्तीय दीवान की नियुक्ति केन्द्रीय दिवान की अनुशंसा पर बादशाह करता था। प्रान्तीय दीवान, नजीम के बराबर का अधिकारी होता था और कभी-कभी श्रेष्ठ अमीर को भी दीवान का पद दे दिया जाता था। इसी तरह प्रान्तीय बख्शी की नियुक्ति केन्द्रीय बख्शी की अनुशंसा पर होती थी और प्रान्तीय बख्शी सुरक्षा से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण बातें नजीम को बताए बिना केन्द्रीय बख्शी तक प्रेषित कर देता था। अकबर ने केन्द्रीय सद्र शक्ति को कम करने के लिए प्रान्तीय सद्र को नियुक्त करना शुरू किया। अब प्रान्तीय सद्र के परामर्श से भी धार्मिक बातों का निर्णय लिया जा सकता था। इनके अतिरिक्त प्रान्तीय स्तर पर काजी भी होता था।

2.2.2.3 स्थानीय प्रशासन

प्रान्तों के विभाजन सरकार में होता था। सरकार से जुड़े हुए अधिकारी थे- फौजदार, अमालगुजार, खजानदार आदि। फौजदार शांति व्यवस्था की देख-रेख करता था और अमालगुजार भू-राजस्व से जुड़ा अधिकारी था। खजानदार सरकार के खजाने का संरक्षक होता था। कभी-कभी एक सरकार में कई फौजदार होते थे और कभी-कभी दो सरकारों पर एक फौजदार भी होता था। सरकार का विभाजन परगनों में होता था। परगनों से जुड़े अधिकारी सिकदार, आमिल, पोतदार, कानूनगों आदि थे। सिकदार शांति व्यवस्था का संरक्षक होता था और भू-राजस्व संग्रह में आमिल की सहायता करता था। आमिल भू-राजस्व प्रशासन से जुड़ा अधिकारी था। पोतदार, खजांची को कहा जाता था तथा कानूनगो गाँव के पटवारियों का मुखिया होता था और स्वयं कृषि भूमि का पर्यवेक्षण करता था।

सबसे नीचे ग्राम होता था जिससे जुड़े अधिकारी मुकद्दमे और पटवारी थे। मुगलकाल में ग्राम पंचायत की व्यवस्था थी। इस विभाजन के अतिरिक्त नगरों में कानून व्यवस्था की देख-रेख के लिए कोतवाल की नियुक्ति होती थी। अबुल फजल के आइने-अकबरी में कोतवाल के कार्यों का विवरण दिया गया है। इसी तरह प्रत्येक किले पर किलेदार कीह नियुक्त होती थी।

इस प्रकार मुगल प्रशासन केन्द्रीय प्रशासन से लेकर गाँव तक श्रृंखलाबद्ध था। लेकिन कुछ इतिहासकार जिनमें इरफान हबीब और आर्थर अली महत्वपूर्ण हैं, मुगल प्रशासनिक ढ़ाँचे को अतिकेन्द्रीकृत मानते हैं।

2.2.2.4 मनसबदारी व्यवस्था

अकबर के द्वारा स्थापित की गयी मनसबदारी पद्धति मौलिक रूप से एक प्रशासनिक सामरिक उपकरण थी, जिनका उद्देश्य अमीरों एवं सेना का एक सक्षम संगठन स्थापित करता था। वस्तुतः मनसबदारी पद्धति की व्याख्या केन्द्रीकृत राजनैतिक ढ़ाँचे के परिप्रेक्ष्य में की जा सकती है। इसके साथ साम्राज्य की शक्ति को एक चैनल में बांध दिया गया और अमीर-वर्ग, सेना तथा नौकरशाही तीनों को जोड़ दिया गया।

मुगल साम्राज्य के सभी पंजीकृत अधिकारियों को एक मनसब प्रदान किया गया, जो जोड़े के अंक में प्रस्तुत किया जाता था। प्रथम, संबधित अधिकारी के जात रैंक का बोध होता था तथा दूसरे उसके सवार रैंक का बोध कराता था। जात रैंक किसी भी अधिकारी का विभन्न अधिकारियों के पदानुक्रम में पद और स्थान को निर्धारित करता था। दूसरी तरफ सवार रैंक उसके सैनिक उत्तरदायित्व को रेखांकित करता था। सैद्धान्तिक रूप से मनसब के कुल 66 ग्रेड होते थे। निम्नतम 10 और उच्चतम 10 हजार होता था, किन्तु व्यवहारिक रूप में केवल 33 ग्रेड ही प्रचलित थे। पांच हजार से अधिक रैंक सामान्यतः राजकीय व्यक्ति को ही प्रदान किए जाते थे, किन्तु यह प्रतिष्ठा कुछ राजपूत योद्धाओं को भी प्राप्त हुई।

2.2.2.5 जागीरदारी प्रथा

वस्तुतः जागीरदारी पद्धति की स्थापना के पीछे साम्राज्य का एक व्यापक उद्देश्य था, जिसके द्वारा उन राजपूत जमींदारों से भू-राजस्व संग्रह करना सम्भव हो गया, जो सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली थे और जाति, गोत्र के आधार पर विभाजित थे। अकबर मनसबदारों का वेतन नकद में देना चाहता था, किन्तु उस समय के कुलीन वर्ग को भू-संपत्ति से जबर्दस्त आकर्षण था। इसलिए जागीरदारी प्रथा के अंतर्गत कुछ अधिकारियों को जागीर में वेतन दिया जाता था।

दिल्ली सल्तनत काल में इक्तादारी पद्धति प्रचलित थी और इक्ता के मालिक इक्तादार कहे जाते थे। इक्तादारी पद्धति भी कृषकों से अधिशेष प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण जरिया था किन्तु इक्ता और जागीर में एक महत्वपूर्ण अंतर यह था कि इक्ता में भूमि का आबंटन होता था जबकि जागीर में भू-राजस्व का आबंटन होता था। जागीरदारी व्यवस्था और इकतादारी व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण अंतर यह भी था कि जागीरदारों को केवल भू-राजस्व की वसूली का अधिकार दिया गया था संबंधित क्षेत्र के प्रशासन का नहीं, जागीरदार को राजकीय नियमों के अनुरूप केवल प्राधिकृत राजस्व वसूलने का अधिकार था तथा प्रशासनिक कार्यो के लिए राज्य जिम्मेदार था। यदि भू-राजस्व की वसूली में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित होता, तो जागीरदार उस क्षेत्र के फौजदार से सैनिक सहायता भी प्राप्त कर सकता था। जागीरदारी व्यवस्था के द्वारा प्रशासनिक केन्द्रीकरण का प्रयास हुआ था और नौकरशाही को ग्रामीण समुदाय पर आरोपित कर दिया गया था।

2.2.3 ब्रिटिश प्रशासन

भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगमन के साथ ब्रिटिश प्रशासन के बीज पड़े। सन् 1600 में एक व्यापारिक कम्पनी के रूप में ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारत में आगमन हुआ, किन्तु देखते ही देखते यह कम्पनी और इसके माध्यम से ब्रिटिश संसद का भारत पर साम्राज्य स्थापित हो गया। प्रारम्भ में कम्पनी का उद्देश्य व्यापार करना था और मुम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास के बंदरगाहों से होकर शेष भारत से इसका सम्पर्क रहता था। धीरे-धीरे कम्पनी की प्रादेशिक महत्वकांक्षा प्रबल होती गयी और शीघ्र ही वह भारत में एक प्रमुख युरोपीय शक्ति बन गयी। यही कम्पनी आगे चलकर मुगल शासन की उत्तराधिकारी बनी। प्लासी और बक्सर के युद्ध के बाद भारत में कम्पनी की साम्राज्यीय महत्वकांक्षाऐं प्रबल हुई और सन् 1765 की इलाहाबाद की संधि के द्वारा कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अधिकार प्राप्त हुए, परिणामस्वरूप द्वैध शासन की शुरूआत हुई, जहां कि राजस्व संग्रहण का कार्य ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकार में था, लेकिन सामान्य प्रशासन की जिम्मेदारी संबंधित प्रान्त में मुगल प्रशासन द्वारा नियुक्त नवाब के जिम्मे होती थी। इस प्रकार कर्त्तव्य नवाब के पास थे लेकिन शक्तियाँ कम्पनी के पास। यद्यपि नवाब की नियुक्ति में भी कम्पनी का हस्तक्षेप होता था और उप-नवाब की नियुक्ति का अधिकार तो

कम्पनी के पास ही था। इस प्रकार सारी शक्तियाँ कम्पनी के हाथ में केन्द्रीत हो गयी, लेकिन कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व नहीं, परिणामस्वरूप द्वैध शासन की वजह से अकाल, अव्यवस्था जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ा।

कम्पनी के शासन की शुरूआत होने और उसकी शक्तियों में वृद्धि होने के साथ-साथ ब्रिटिश संसद का भी भारतीय प्रशासन सम्बन्धी मामलों में कम्पनी के माध्यम से अप्रत्यक्ष नियंत्रण प्रारम्भ हुआ, जो कि 1857 की क्रांति के बाद कम्पनी शासन की समाप्ति और भारत में प्रत्यक्ष ब्रिटिश शासन की स्थापना में परिणत हो गया।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन की स्थापना के बाद ब्रिटिश संसद ने समय समय पर विभिन्न अधिनियम पारित करके कम्पनी के शासन पर नियंत्रण करने का प्रयास किया, जिनकी संक्षिप्त चर्चा निम्नांकित रूप में की जा सकती है-

2.2.3.1 केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद का विकास

भारतीय संवैधानिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था के विकास में सन् 1773 के रेग्यूलेटिंग एक्ट का विशेष महत्व है। सरकार ने कम्पनी के आर्थिक, प्रशासनिक एवं सैनिक कार्यों पर संसद के आंशिक नियंत्रण के लिए यह अधिनियम पारित किया था। इस अधिनियम के द्वारा बंगाल के गवर्ननर को कम्पनी के भारतीय प्रदेशों का गर्वनर जनरल बनाया गया तथा इसकी सहायता के लिए चार सदस्यों की एक परिषद की स्थापना की गयी। इस कानून में मुम्बई और मद्रास के प्रेसीडेंसी को कलकत्ता प्रेसीडेंसी बंगाल के अधीन कर दिया गया, साथ ही भारतीय मामलों में संसद का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप आरम्भ हुआ। परिणामस्वरूप इस कानून से भारत में प्रशासन के केन्द्रीकरण का कार्य शुरू हुआ।

सन् 1784 में पिट्स इंडिया एक्ट के माध्यम से गवर्नर जनरल की कौंसिल में सदस्यों की संख्या चार से घटाकर तीन कर दी गयी, साथ ही मद्रास तथा बम्बई प्रेसीडेंसियों पर गवर्नर जनरल के निरीक्षण एवं नियंत्रण के अधिकार अधिक स्पष्ट कर दिए गये । इस अधिनियम का उद्देश्य कम्पनी पर ब्रिटिश क्राउन का नियंत्रण बढ़ाना था। अतः ब्रिटेन में छः सदस्यों के 'बोर्ड ऑफ कंट्रोल' की स्थापना की गयी। '1786 के अधिनियम' के द्वारा गवर्नर जनरल को परिषद् से अधिक शक्तियाँ प्रदान की गयी और उसे मुख्य सेनापति बनाया गया।

1793 के अधिनियम से गवर्नर जनरल को अपनी कौंसिल की अनुशंसा को रद्द करने का अधिकार दिया गया। 1813 के चार्टर एक्ट द्वारा भारत में ब्रिटिश कम्पनी का व्यापारिक एकाधिकार समाप्त कर दिया गया, लेकिन भू-राजस्व प्रशासन एवं भारतीय प्रशासन का कार्य कम्पनी के अधीन रहने दिया गया। 1833 के चार्टर अधिनियम से बंगाल का गवर्नर भारत का गवर्नर जनरल कहलाने लगा। बंबई एवं मद्रास प्रेसीडेंसी को पूर्णतः बंगाल के अधीन कर दिया गया। सम्पूर्ण भारत के लिए विधि निर्माण का एकाधिकार गवर्नर जनरल तथा उसकी परिषद को प्रदान किया गया तथा बंबई और मद्रास प्रेसीडेंसी से विधि निमार्ण के अधिकार छीन लिए गये। अधिनियम के द्वारा गवर्नर जनरल की काउंसिल में एक चौथा सदस्य फिर से जोड़ा गया, जिसे विधि सदस्य का नाम दिया गया। इस प्रकार इस अधिनियम से भारत में केन्द्रीकृत प्रशासन की स्थापना हुई।

'1858 के अधिनियम' द्वारा भारत पर ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के स्थान पर ब्रिटिश संसद के शासन की स्थापना हुई। भारत सचिव के पद का सृजन किया गया। तथा समस्त संवैधानिक, प्रशासनिक तथा वित्तीय शक्तियाँ भारत सचिव तथा उसकी 15 सदस्यीय परिषद में केन्द्रित हो गयी। भारत में सत्ता का केन्द्रीकरण गवर्नर जनरल तथा उसकी परिषद में निहित हो गया। गवर्नर जनरल को वायसराय कहा जाने लगा।

1861 के अधिनियम द्वारा भारतीय प्रशासन में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गये। पहली बार प्रान्तीय विधायिकाओं की स्थापना हुई। यद्यपि इनके कई अधिकार सीमित थे। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद तथा विधायिका का पुनर्गठन किया गया। अधिनियम की व्यवस्था द्वारा कार्यकारिणी के महत्व में कमी एवं गवर्नर जनरल के प्रभाव में वृद्धि हुई। गवर्नर जनरल को इस बात के लिए अधिकृत किया गया कि वह प्रशासनिक व्यवस्था हेतु विधि बनाए। कैनिंग के द्वारा विभागीय व्यवस्था की शुरूआत की गयी। अधिनियम के द्वारा मद्रास और बंबई प्रेसीडेंसी को पुनः विधिक निर्माण के अधिकार तथा अन्य प्रान्तों में ऐसी ही विधायिकाओं की स्थापना की व्यवस्था करके विधि-निर्माण में विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया की नींव पड़ी।

1892 के भारतीय परिषद अधिनियम के अन्तर्गत विधायिकाओं की सदस्य संख्या और शक्ति में वृद्धि हुई तथा प्रतिनिधि संस्थाओं की सिफारिशें पर मनोनीत किया जाने लगा। 1909 के मार्ले-मिन्टो सुधारों द्वारा विधायिकाओं की सदस्य संख्या में वृद्धि हुई परन्तु बहुमत सरकारी सदस्यों का ही बना रहा। अधिनियम में अप्रत्यक्ष चुनाव पद्धति को अपनाया गया अर्थात् केन्द्रीय विधान परिषद में विभिन्न प्रान्तों से सदस्य चुनकर आने थे। इस अधिनियम का सबसे बड़ा दोष पृथक निर्वाचन व्यवस्था थी।

1919 में मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार द्वारा वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में भारतीयों को स्थान दिया गया। केन्द्रीय स्तर पर द्वि-संदनीय व्यवस्थापिका की स्थापना हुई। अधिनियम के द्वारा केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों का स्पष्ट विभाजन किया गया। आरक्षित विषयों का प्रशासन गवर्नर को अपने पार्षदों की सहायता से करना था तथा हस्तांतरित विषयों का प्रशासन निर्वाचित मंत्रियों की सहायता से किया जाना था।

सन् 1919 से स्वतंत्रता तक, प्रशासनिक व्यवस्था '1935 के भारत सरकार अधिनियम' का भारत के संवैधानिक इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। इस अधिनियम ने भारत में संघात्मक व्यवस्था का सूत्रपात किया। इस संघ का निर्माण ब्रिटिश भारत के प्रान्तों, देशों राज्यों और कमिश्नरी के प्रशासनिक क्षेत्र को मिलाकर किया जाना था। संघ स्तर पर 'द्वैध शासन-प्रणाली' को अपनाया गया और आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना करने का प्रावधान किया गया। संघीय कार्यपालिका, संघीय विधान मण्डल तथा संघीय न्यायालय की स्थापना की गयी। प्रान्तों में प्रान्तीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकार की कार्यपालिका शक्ति समस्त प्रान्तीय विषयों तक स्थापित हो गयी। प्रान्तों से द्वैध शासन-प्रणाली का अन्त कर दिया गया, किन्तु व्यवहार में गवर्नर की शक्ति अब भी बनी रही। गवर्नर की शक्तियों को तीन भागों में विभाजित किया गया, पहला- स्वेच्छा से काम में आने वाली शक्तियाँ, दूसरा- व्यक्तिगत शक्तियाँ और तीसरा- विधायिका के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों की सलाह से काम में आने वाली शक्तियाँ।

इस अधिनियम का सबसे विवादास्पद पहलू धारा- 93 थी, जिसके अनुसार गवर्नर विशेष परिस्थितियों में प्रान्तीय प्रशासन को अपने नियंत्रण में ले सकता था। इसी शक्तियों का प्रयोग कर 1939 में विभिन्न प्रान्तों में गवर्नर ने शासन कार्य अपने हाथ में ले लिया। भारतीय स्वतंत्रता तक इसी अधिनियम के अनुसार भारतीय प्रशासन का संचालन किया जाता रहा। स्वतंत्रता के बाद भारतीय प्रशासन स्वतंत्र भारत के संविधान द्वारा प्रारम्भ हुआ।

2.2.3.2 केन्द्रीय सचिवालय का विकास

स्वतंत्र भारत में केन्द्रीय सचिवालय औपचारिक रूप से 30 जनवरी, 1948 को स्थापित हुआ, लेकिन मूल रूप से केन्द्रीय सचिवालय अन्य प्रशासनिक संस्थाओं की भाँति ब्रिटिश शासनकाल की देन है। ब्रिटिश काल में इसे "इंपीरियल सेक्रेटेरिएट" कहा जाता था। ब्रिटिश साम्राज्य के समय भारत में प्रशासनिक एकता स्थापित करने में केन्द्रीय सचिवालय की विशेष भूमिका थी। समय के परिवर्तन के साथ जैसे जैसे सरकार का कार्यभार बढ़ता गया,

विभागों की संख्या भी बढ़ती गयी। 1919 से 1947 तक का काल केन्द्रीय सचिवालय में विभिन्न सुधारों के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण रहा। सन् 1919 की लिविलियन स्मिथ कमेटी के सुझाव पर-

- विभागीय विषयों को पुनर्गठित किया गया।
- लिखित आलेखों की प्रथा प्रारम्भ की गयी ।
- केन्द्रीकृत भर्ती की व्यवस्था आरम्भ हुई।
- सचिवालय में प्रतिनियुक्ति व्यवस्था को सुदृढ़ किया गया।

1919 में पुनर्गठित सचिवालय में कुल 11 विभाग थे।

सन् 1936-37 में नियुक्त होने वाली व्हीलर समिति और मैक्सवेल समिति (संगठन तथा प्रक्रिया समिति) ने केन्द्रीय सचिवालय के संगठन और कार्य-पद्धति में सुधार हेतु और भी सुझाव प्रस्तुत किए। आजादी के उपरान्त गठित सरकार को कुछ ऐसी विशेष समस्याओं का सामना करना पड़ा, जिनके परिणामस्वरूप केन्द्रीय सचिवालय का कार्यभार अत्यधिक हो गया। ये समस्याऐं निम्नांकित थीं-

- देश का विभाजन होने के कारण पाकिस्तान से आए शरणार्थियों को भारत में बसाना।
- जम्मू-कश्मीर में बाह्य आक्रमण की समस्या।
- रियासतों का भारतीय संघ में एकीकरण।
- आंतरिक सुरक्षा की समस्या।
- आवश्यक वस्तुओं के अभाव की समस्या।
- प्रशासनिक अधिकारियों की संख्या में भारी मात्रा में कमी।

कल्याणकारी राज्य की स्थापना से प्रेरित होने के कारण भी सरकार के कार्यभार में अत्यधिक मात्रा में बढोत्तरी हुई, परिणामस्वरूप केन्द्रीय सचिवालय का कार्यभार बढ़ा 15 अगस्त, 1947 को जब सत्ता का हस्तांतरण हुआ तो केन्द्रीय सचिवालय में 19 विभाग थे, जिनका फिर से पुनर्गठन एवं सुधार करने के लिए स्वतंत्र भारत की सरकार ने सर गिरिजा शंकर बाजपेयी की अध्यक्षता में सचिवालय पुनर्गठन समिति की स्थापना की। कालांतर में विभागों की संख्या बढ़ी जैसे 1978 में 69 विभाग और 2001 में 81 विभाग।

2.2.3.3 वित्तीय प्रशासन का विकास

भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासक स्थापित होने के बाद प्रान्तों को वित्त के सम्बन्ध में बहुत अधिक सीमा तक स्वतंत्रता दी गयी, किन्तु 1833 के चार्टर अधिनियम के द्वारा वित्त का केन्द्रीकरण कर दिया गया। अधिनियम के द्वारा यह निश्चित किया गया कि किसी प्रान्तीय सरकार को नए पद तथा नए वेतन भत्ते की स्वीकृति का अधिकार नहीं होगा, जब तक कि गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति न मिल जाए।

1833-1870 तक प्रान्तीय सरकारें केन्द्र सरकार के अभिकर्त्ता के रूप में ही कार्य करती रहीं, उन्हें कर लगाने अथवा उसे खर्च करने का कोई अधिकार नहीं था। सर्वप्रथम 1870 में वित्तीय विकेन्द्रीकरण की दिशा में लार्ड मेयो की सरकार द्वारा एक निश्चित योजना को अपनाया गया।

- जिसके अन्तर्गत जेलें, रजिस्ट्रेशन, पुलिस, शिक्षा, सड़कें, चिकित्सा सेवाऐं, छपायी आदि के व्यय की मदों तथा उनसे प्राप्त होने वाले राजस्व को प्रान्तीय सरकारों के नियंत्रण में हस्तांतरित कर दिया गया।
- प्रान्तों को कुछ निश्चित वार्षिक अनुदान देने की व्यवस्था की गयी।

1877 में स्ट्रेची द्वारा प्रस्तावित नवीन योजना के अन्तर्गत भूमि कर, स्थानीय चुंगी, स्टाम्प, स्टेशनरी, कानून व न्याय और सामान्य प्रशासन की कुछ व्यय मदें प्रान्तीय सरकारों के नियंत्रण में हस्तांतरित कर दी गयी। वित्तीय विकेद्रीकरण की दिशा में 1882 में प्रस्तावित नई योजना के अनुसार राजस्व के समस्त साधनों को तीन भागों में विभक्त किया गया। केन्द्रीय, प्रान्तीय व विभाजित।

केन्द्रीय मदों से प्राप्त होने वाले राजस्व को केन्द्रीय नियंत्रण में तथा प्रान्तीय राजस्व को प्रान्तीय नियंत्रण में रखा गया। विभाजित मदों से प्राप्त होने वाली आय को केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के बीच बराबर-बराबर बांटने का निश्चय किया गया। विकेन्द्रीकरण के सम्बन्ध में 1907 में चार्ल्स हॉब हाऊस की अध्यक्षता में एक शाही आयोग नियुक्त किया गया। आयोग ने सिफारिश की, कि गवर्नर जनरल को प्रान्तीय राजस्व में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। 1919 के अधिनियम द्वारा प्रान्तीय बजट केन्द्र सरकार से बिल्कुल पृथक कर दिए गये और प्रान्तीय सरकारों को अपने बजट के निमार्ण का पूर्ण अधिकार दिया गया। प्रान्तों को पहली बार प्रान्तीय या स्थानीय प्रकृति के कर लगाने का अधिकार मिला। 1935 के अधिनियम द्वारा प्रान्तीय स्वायत्ता की व्यवस्था की गयी और संघीय सरकार तथा प्रान्तों के बीच तीन सूचियों के आधार पर न केवल कार्यों का वर्गीकरण किया गया, बल्कि वित्तीय साधनों का भी विभाजन किया गया। संघ सरकार तथा राज्यों के पृथक-पृथक आय साधन रखे गये। कुछ सीमा में प्रान्तों को उधार लेने का अधिकार भी दिया गया। प्रान्तों को अपना घाटा पूरा करने के लिए केन्द्र सरकार की ओर से निमेंयर रिपोर्ट के अनुसार वित्तीय सहायता प्रदान की गयी। निमेंयर रिपोर्ट की इस बात को स्वीकार कर लिया गया, कि आयकर की भी आधी धनराशि प्रान्तों में बांट दी जाए।

2.2.3.4 पुलिस प्रशासन का विकास

मुगल साम्राज्य के विघटन के उपरान्त भारत में कानून-व्यवस्था की स्थिति बगड़ती गयी। पुलिस शक्ति क्षेत्रीय जमीदारों के हाथ आ गयी। जब क्लाइव ने बंगाल की दीवानी प्राप्त की तो उसने प्रचलित प्रशासनिक व्यवस्था को बनाए रखा। वारेन हेस्टिंग्स ने भी पुलिस व्यवस्था की ओर ध्यान नहीं दिया। सर्वप्रथम कार्नवालिस ने एक संगठित पुलिस व्यवस्था की शुरुआत की। उसने थाना व्यवस्था का आधुनिकीकरण किया तथा प्रत्येक क्षेत्र में एक पुलिस थाने की स्थापना कर उसे एक दरोगा के अधीन रखा। जिला स्तर पर जिला पुलिस अधीक्षक के पद का सृजन किया गया। ग्राम स्तर पर चौकीदारों को पुलिस शक्ति दी गयी। इस तरह आधुनिक पुलिस व्यवस्था की शुरुआत हुई।

सक्षम पुलिस व्यवस्था ने बहुत सारे उद्देश्य पूरे किए। मध्य भारत में ठगों का दमन, क्रांतिकारी षड्यंत्रों का पर्दाफाश तथा राष्ट्रीय आंदोलन को इसी पुलिस व्यवस्था के द्वारा कुचला गया। इसने भारतीय जनता के साथ क्रूर व्यवहार भी किया। 1813 ईस्वी में संसद की एक समिति ने रिपोर्ट दी कि पुलिस ने भारतीय जनता को डाकुओं की तरह प्रताड़ित किया है। वस्तुतः महत्वपूर्ण पदों पर भारतीयों की नियुक्ति के मामले में ब्रिटिश कम्पनी सतर्क रही। कार्नवालिस ने तो स्पष्ट रूप से भारतीयों को भ्रष्ट मान लिया एवं उन्हें उत्तरदायी पदों से दूर रखा। कुछ छोटे-छोटे पदों पर भारतीयों की नियुक्ति अवश्य की गयी , जैसे- अमीन एवं दरोगा। 1793 ईसवीं के बाद आधिकारिक नीति भारतीयों को महत्वर्पूण पदों से वंचित करने की रही।

2.2.3.5 न्याय व्यवस्था का विकास

मुगल साम्राज्य के विघटन के बाद मुगलकालीन न्याय व्यवस्था टूट गयी। मुगलकाल के उत्तरार्द्ध में भूमि सुपुर्दगी प्रथा से समृद्ध भू-स्वामियों के हाथों में आ गयी। न्यायिक शक्तियाँ भी भू-स्वामियों के हाथों में आ गयी। बंगाल की दीवानी प्राप्त करने के बाद क्लाइव ने प्रचलित व्यवस्था में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। न्याय व्यवस्था में सुधार की दृष्टि से वारेन हेंस्टिंग्स का काल महत्वपूर्ण है। भारत में ब्रिटिश न्याय प्रणाली की स्थापना इसी काल में हुई ब्रिटिश न्याय प्रशासन भारतीय और ब्रिटिश प्रणालियों तथा संस्थाओं का सम्मिश्रण था। कानून के शासन तथा न्याय पालिका की स्वतंत्रता इस प्रणाली की विशेषता थी। वारेन हेसिटंग्स ने सिविल तथा फौजदारी मामलों के लिए अलग-अलग अदालतें स्थापित की। उसने न्याय सुधार में मुगल व्यवस्था को ही आधार बनाया।

सर्वप्रथम वारेन हेंस्टिंग्स ने सिविल अदालतों की श्रृंखला स्थापित की। सबसे नीचे मुखिया, फिर जिले में जिला दीवानी अदालत तथा सबसे ऊपर कलकत्ता की सदर दीवानी अदालत थी। इसी तरह फौजदारी अदालतों का पुनर्गठन किया गया। प्रत्येक जिले में एक फौजदारी अदालत स्थापित की गयी जो काजी, मुफ्ती एवं मौलवी के अधीन होती थी। इसके ऊपर कलकत्ता की सदर दीवानी अदालत थी।

कार्नवालिस के द्वारा उपरोक्त व्यवस्था में सुधार किए गये। उसके सुधारों में यूरोपीय तत्व प्रबल थे। कार्नवालिस ने शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के अन्तर्गत लगान प्रबन्ध से दीवानी प्रशासन को पृथक कर दिया। 1793 में कार्नवालिस संहिता द्वारा कलेक्टर से न्यायिक एवं फौजदारी शक्तियाँ ले ली गयी। जिला अदालतों के लिए श्रेणी निर्धारित की गयी तथा दीवानी अदालतों का पुनर्गठन हुआ। फौजदारी अदालतों की भी नई श्रृंखला बनाई गयी। इसके अतिरिक्त विचारधारा से प्रेरित होने के कारण दण्ड-संहिता में परिवर्तन किया। विलियम बैंटिक के शासनकाल में उपयोगितावादी विचारधारा से प्रेरित होने के कारण दण्ड विधान की कठोरता को कम करने का प्रयत्न किया गया। कुछ महत्वपूर्ण न्यायिक पदों पर भारतीयों को नियुक्त किया गया। 1859 से 1861 के बीच दण्ड विधि, सिविल कार्य विधि तथा दण्ड प्रक्रिया पारित की गयी। इन सुधारों में सम्पूर्ण भारत के लिए एक ही विधि प्रणाली लागू की गयी। 1861 मे भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम पारित हुआ तथा कलकत्ता एवं मद्रास में उच्च न्यायालय की स्थापना की गयी। आगे लाहौर, पटना आदि स्थानों पर भी उच्च न्यायालय स्थापित हुए।

1935 के भारत शासन अधिनियम के आधार पर एक संघीय न्यायालय की स्थापना की गयी । इस न्यायालय में एक प्रधान न्यायाधीश तथा सरकार द्वारा नियुक्त अन्य न्यायाधीश होते थे। न्यायालय के क्षेत्र में प्रारम्भिक एवं अपीलीय तथा परामर्श सम्बन्धी विषय थे। प्रान्तीय न्यायालयों को दीवानी, आपराधिक, वसीयती, गैर-वसीयती और वैवाहिक क्षेत्राधिकार मौलिक एवं अपीलीय दोनों प्रकार के प्राप्त थे।

अभ्यास प्रश्न-

1. रेग्यूलेटिंग एक्ट कब पारित हुआ?
2. पिट्स इंडिया एक्ट कब पारित हुआ?
3. ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारतमें आगमन कब हुआ?
4. 1919 के अधिनियम को किस नाम जाना जाता है?
5. केन्द्रीय स्तर पर द्विसंदनीय व्यवस्थापिका की स्थापना किस अधिनियम से हुई?
6. अशोक ने किस शिलालेख में घोषणा की कि "सारी प्रजा मेरी संतान है"?
7. अर्थशास्त्र के लेखक कौन हैं?
8. मेगस्थनीज की पुस्तक का क्या नाम है?

2.3 सारांश

इस प्रकार उपरोक्त अध्ययन के पश्चात आप यह जानने और समझने में सक्षम हो गये होंगे कि किस प्रकार से भारतीय प्रशासन प्राचीन मौर्य काल से अपनी विकास की यात्रा शुरु करके मुगल काल से होते हुए ब्रिटिश काल तक की यात्रा पूर्ण की है। इस अध्ययन में आप ने यह देखा कि मौर्य साम्राज्य का स्वरूप राजतंत्रात्मक था जिसमें शासन का प्रधान राजा होता था। राजपद एक महत्वपूर्ण पद हो गया और इस पद की शक्ति एवं अधिकार बढ़ गये। राजा, राज्य का प्रमुख होता था। जिसके पास कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका के अधिकारों के साथ वित्तीय शक्तियाँ भी थी। राजा की खुशी प्रजा की खुशी पर निर्भर करती थी। जनकल्याण पर राजा का कल्याण आश्रित था। राज्य में रहने वाले लोगों के हितों का सम्पादन ही राजा का प्रमुख कर्त्तव्य था। प्रशासन के शीर्ष पर बादशाह होता था। वह सभी प्रकार के सैनिक एवं असैनिक मामलों का प्रधान होता है था। बादशाह मुगल साम्राज्य के प्रशासन की धुरी था और बादशाह की उपाधि धारण करता था, जिसका आशय था कि राजा अन्य किसी भी सत्ता के अधीन नहीं है। वह समस्त धार्मिक तथा धर्मोत्तर मामलों में अंतिम निर्णायक व अंतिम सत्ताधिकारी है। वह सेना, राजनीतिक, न्याय आदि का सर्वोच्च पदाधिकार है। वह सम्पूर्ण सत्ता का केन्द्र है तथा खुदा का प्रतिनिधि है। इसके बाद भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगमन के साथ ब्रिटिश प्रशासन के बीज पड़े। सन् 1600 में एक व्यापारिक कम्पनी के रूप में ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारत में आगमन हुआ, किन्तु देखते ही देखते यह कम्पनी और इसके माध्यम से ब्रिटिश संसद का भारत पर साम्राज्य स्थापित हो गया। ब्रिटिश साम्राज्य का भारतीय प्रशासन के विविध पक्षों पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

2.4 शब्दावली

राजतंत्र- राजतंत्र वह शासन है जिसमें शासन का प्रधान राजा होता है। राजा, राज्य का प्रमुख होता था। जिसके पास कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका के अधिकारों के साथ वित्तीय शक्तियाँ निहित हों।

सद्र-उस-सूद्र- यह बादशाह का मुख्य धार्मिक परामर्शदाता होता था। यह धार्मिक अनुदानों को नियंत्रित करता था। साथ ही यह धार्मिक मामलों से संबंधित मुकद्दमे भी देखता था।

मुख्य काज- मुगल काल में यह न्याय विभाग का प्रधान होता था।

जागीरदारी प्रथा- मुगल काल में राजपूत जमींदारों के माध्यम से भू-राजस्व संग्रह करने की प्रथा, जो सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली थे और जाति, गोत्र के आधार पर विभाजित थे। अकबर मनसबदारों का वेतन नकद में देना चाहता था, किन्तु उस समय के कुलीन-वर्ग को भू-संपत्ति से जबर्दस्त आकर्षण था। इसलिए जागीरदारी प्रथा के अन्तर्गत कुछ अधिकारियों को जागीर में वेतन दिया जाता था।

इक्तादारी और जागीरदारी प्रथा- दिल्ली सल्तनत काल में इक्तादारी पद्धति प्रचलित थी और इक्ता के मालिक इक्तादार कहे जाते थे। इक्तादारी पद्धति भी कृषकों से अधिशेष प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण जरिया था किन्तु इक्ता और जागीर में एक महत्वपूर्ण अंतर यह था कि इक्ता में भूमि का आबंटन होता था, जबकि जागीर में भू-राजस्व का आबंटन होता था। जागीरदारी व्यवस्था और इक्तादारी व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण अंतर यह भी था कि जागीरदारों को केवल भू-राजस्व की वसूली का अधिकार दिया गया था, संबंधित क्षेत्र के प्रशासन का नहीं।

2.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सन् 1773, **2.** सन् 1784, **3.** सन् 1600, **4.** मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड, **5.** मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड, **6.** धौली शिलालेख, **7.** कौटिल्य, **8.** इंडिका

2.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय संविधान- ब्रज किशोर शर्मा।
2. भारतीय लोक प्रशासन- बी0एल0 फड़िया।
3. भारतीय लोक प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी।

2.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान- डी0डी0 बसु।
2. भारतीय लोक प्रशासन- एस0सी0 सिंहल।

2.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. ब्रिटिश काल में भारतीय प्रशासन के विकास पर निबंध लिखिये।
2. मुगल प्रशासन,केन्द्रीय प्रशासन था, स्पष्ट कीजिये।
3. मौर्य प्रशासन में राजा पर कर्त्तव्य का अंकुश था, व्याख्या कीजिये।

इकाई- 3 भारतीय संविधान की विशेषताऐं

इकाई की संरचना

3.0 प्रस्तावना
3.1 उद्देश्य
3.2 भारतीय संविाधान की प्रस्तावना
3.3 भारतीय संविधान की विशेषताऐं
3.4 विभिन्न स्रोतों से लिए गये उपबंध
3.5 लोक कल्याणकारी राज्य
3.6 सारांश
3.7 शब्दावली
3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.11 निबंधात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

इकाई एक में हमने भारतीय संविधान के निमार्ण में विदेशी संविधान के प्रभावों का अध्ययन किया साथ ही भारतीय संविधान के महत्वपूर्ण पक्षों का भी अध्ययन किया है।

इस इकाई में भारतीय संविधान की विशेषताओं का विस्तृत अध्ययन किया जायेगा। जिससे भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप को समझने में और सुविधा हो सके। यहाँ हम यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि भारतीय संविधान में विश्व के संविधानों के उन्हीं पक्षों को शामिल किया गया है, जो हमारे देश की आवश्यकताओं के अनुरूप है। चाहे वह संसदीय शासन हो चाहे संघात्मक शासन हो या एकात्मक शासन हो। भारत ने ब्रिटेन के संसदीय शासन को अपनाया गया, किन्तु उसके एकात्मक शासन को नहीं अपनाया गया।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भारतीय संविधान इतना विस्तृत क्यों हुआ, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- भारतीय संविधान में संसदीय तत्व क्यों अपनाये गये, इसकी जानकारी प्राप्त कर पायेंगे।
- भारतीय संविधान में संघात्मक उपबन्ध क्यों किये गये, इसकी जानकारी प्राप्त कर पायेंगे।
- संसदीय शासन के बाद भी संविधान की सर्वोच्चता हैं, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।

3.2 भारतीय संविधान की प्रस्तावना

प्रत्येक देश का संविधान उसके देश-काल की आवश्यकताओं के अनुरूप तैयार किया जाता है। चूंकि प्रत्येक देश की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियां भिन्न-भिन्न होती हैं, इसलिए संविधान निर्माण

के समय उन सभी पक्षों को शामिल किया जाता है। इस भिन्नता के कारण यह संभव है कि किसी देश में कोई व्यवस्था सफल हो तो वह अन्य देश में उसी स्वरूप में न सफल हो या उसे उसी रूप में लागू न किया जा सके। यदि हम देखें तो हमारे संविधान निर्माताओं ने संविधान निर्माण के समय विश्व के प्रचलित संविधानों का अध्ययन किया और उन संविधानों के महत्वपूर्ण प्रावधानों को अपने देश की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप ढालकर अपनाने पर जोर दिया है। जैसे- हमारे देश में ब्रिटेन के संसदीय शासन का अनुसरण किया गया है किन्तु उसके एकात्मक शासन को नहीं अपनाया गया है बल्कि संसदीय के साथ संघात्मक शासन को अपनाया गया है। यहाँ यह स्पष्ट करना नितान्त आवश्यक है कि संसदीय के साथ एकात्मक शासन न अपनाकर संघात्मक शासन क्यों अपनाया गया है? चूंकि हमारे देश में भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक बहुलता पायी जाती है, इसलिए इनकी पहचान को बनाए रखने के लिए संघात्मक शासन की स्थापना को महत्व प्रदान किया गया। परन्तु संघात्मक शासन में पृथक पहचान, पृथकतावाद को बढ़ावा न दे, इसके लिए एकात्मक शासन के लक्षणों का भी समावेश किया गया है, जिससे राष्ट्रीय एकता को खतरा न उत्पन्न हो, क्योंकि आजादी के समय हमारा देश विभाजन के दु:खद अनुभव को झेल चुका था।

यहाँ हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि अन्य देशों के संविधान की भांति हमारे देश के संविधान का प्रारम्भ भी प्रस्तावना से हुआ है। प्रस्तावना को प्रारम्भ में इसलिए रखा गया है, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि इस संविधान के निर्माण का उद्देश्य क्या था? साथ ही वैधानिक रूप से संविधान के किसी भाग की वैधानिक व्याख्या को लेकर यदि स्पष्टता नहीं है, तो प्रस्तावना मार्गदर्शक का कार्य करती है। संविधान की प्रस्तावना के महत्व को देखते हुए सर्वप्रथम प्रस्तावना का अध्ययन करना आवश्यक है-

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मूल संविधान में 'समाजवादी, पंथनिरपेक्ष और अखण्डता' शब्द नहीं था। इसका भारतीय संविधान में समावेश 42वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा किया गया है।

अब हम प्रस्तावना में प्रयोग में लाये गये महत्वपूर्ण शब्दों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे-

1. **हम भारत के लोग-** इसका तात्पर्य यह है कि भारतीय संविधान का निर्माण किसी विदेशी सत्ता के द्वारा नहीं किया गया है, बस भारतीयों ने किया है। प्रभुत्व शक्ति का स्रोत स्वंय जनता है और अन्तिम सत्ता का निवास जनता में है।
2. **सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न**- इसका तात्पर्य परम सत्ता या सर्वोच्च सत्ता से है, जो निश्चित भू-क्षेत्र अर्थात भारत पर लागू होती है। वह परम सत्ता किसी राजे-महाराजे या विदेशी के पास न होकर स्वंय भारतीय जनता के पास है और भारतीय शासन अपने आंतरिक प्रशासन के संचालन और परराष्ट्र संबंधों के संचालन में पूरी स्वतंत्रता का उपयोग करेगा। यद्यपि भारत राष्ट्रमंडल का सदस्य है, परन्तु इससे उसके सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।
3. **पंथ निरपेक्ष-** यह शब्द मूल संविधान में नहीं था, वरन् इसका समावेश संविधान में 42वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा किया गया है। इसका तात्पर्य है कि- राज्य किसी धर्म विशेष को 'राजधर्म' के रूप में संरक्षण नहीं प्रदान करेगा, वरन् वह सभी धर्मों के साथ समान व्यवहार करेगा और उन्हें समान रूप से संरक्षण प्रदान करेगा।
4. **गणराज्य-** इसका तात्पर्य है कि भारतीय संघ का प्रधान, कोई वंशानुगत राजा या सम्राट ना होकर के निर्वाचित राष्ट्रपति होगा। ब्रिटेन ने वंशानुगत राजा होता है, जबकि अमेरिका में निर्वाचित राष्ट्रपति है। इसलिए भारत, अमेरिका के समान गणराज्य है।

5. **न्याय-** हमारा संविधान नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की गारण्टी देता है। न्याय का तात्पर्य है कि राज्य का उद्देश्य सर्वजन का कल्याण और सशक्तिकरण है, न कि विशेष लोगों का। सामाजिक न्याय का तात्पर्य है कि अब तक हासिये पर रहे वंचित समुदायों को भी समाज की मुख्यधारा में लाने वाले प्रावधान किये जायें तथा उनका क्रियान्वयन भी सुनिश्चित किया जाए। आर्थिक न्याय का तात्पर्य है कि प्रत्येक नागरिक को अपनी न्यूनतम आवश्यकता को वस्तुओं की उपलब्धता सुनिश्चित करने का अवसर प्रदान किये जाए। राजनीतिक न्याय का तात्पर्य है कि प्रत्येक नागरिक को धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान का भेदभाव किये बिना उसे अपना प्रतिनिधि चुनने और स्वंय को प्रतिनिधि चुने जाने का अधिकार होना चाहिए।
6. **एकता और अखण्डता-** मूल संविधान में एकता शब्द ही था। पर 42वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा अखण्डता शब्द का समावेश किया गया। जिसका तात्पर्य यह है कि धर्म, भाषा, क्षेत्र, प्रान्त, जाति आदि की विभिन्नता के साथ एकता के आदर्श को अपनाया गया है। इसके साथ अखण्डता शब्द को जोड़कर 'अखण्ड एकता' को साकार करने का प्रयास किया गया है। इसके समर्थन में भारतीय संविधान में 16वॉं संवैधानिक संशोधन भी किया गया है।

3.3 भारतीय संविधान की विशेषताऐं

भारतीय संविधान की विशेषताऐं निम्नलिखित हैं-

1. **लोकप्रिय प्रभुसत्ता पर आधारित संविधान-** संविधान के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है, प्रभुसत्ता अर्थात सर्वोच्च सत्ता का स्रोत जनता है। प्रभुसत्ता का निवास जनता में है। इसको संविधान की प्रस्तावना में स्पष्ट किया गया है कि 'हम भारत के लोग .....।'
2. **विश्व में सर्वाधिक विस्तृत संविधान-** हमारा संविधान विश्व में सबसे बड़ा संविधान है। जिसमें 22 भाग, 395 अनुच्छेद और 12 अनुसूचियाँ हैं। जबकि अमेरिका के संविधान में 7 अनुच्छेद, कनाडा के संविधान में 147 अनुच्छेद है। भारतीय संविधान के इतना विस्तृत होने के कई कारण है। जो निम्नलिखित हैं-
    - हमारे संविधान में संघ के प्रावधानों के साथ-साथ राज्य के शासन से सम्बन्धित प्रावधानों को भी शामिल किया है। राज्यों का कोई पृथक संविधान नहीं है केवल जम्मू-कश्मीर को छोड़कर। जबकि अमेरिका में संघ और राज्य का पृथक संविधान है।
    - जातीय, सांस्कृतिक, भौगोलिक व सामाजिक विविधता भी संविधान के विशाल आकार का कारण बना, क्योंकि इसमें अनुसूचित जातियों, जनजातियों, आग्ल भारतीय, अल्पसंख्यक आदि के लिए पृथक रूप से प्रावधान किये गये हैं।
    - नागरिकों के मूल अधिकारों का विस्तृत उल्लेख करने के साथ ही साथ नीति-निदेशक तत्वों और बाद में मूल-कर्तव्यों का समावेश किया जाना भी संविधान के विस्तृत होने का आधार प्रदान किया है।
    - नवजात लोकतन्त्र के सुचारू रूप से संचालन के लिए कुछ महत्वपूर्ण प्रशासनिक एजेन्सियों से सम्बन्धित प्रावधान भी किये गये हैं। जैसे- निर्वाचन आयोग, लोक सेवा आयोग, वित्त आयोग, भाषा आयोग, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक, महिला आयोग, अल्पसंख्यक आयोग,

अनुसूचित जाति आयोग, अनुसूचित जनजाति आयोग आदि। संघात्मक शासन का प्रावधान करने के कारण केन्द्र राज्य सम्बन्धों का विस्तृत उपबन्ध संविधान में किया गया है।

3. **सम्पूर्ण प्रमुख सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य-** जैसा कि हम ऊपर प्रस्तावना में स्पष्ट कर चुके हैं कि अन्तिम सत्ता जनता में निहित है। भारत अब किसी के अधीन नहीं है। वह अपने आन्तरिक और वाह्य मामले पूरी तरह से स्वतन्त्र है। संघ का प्रधान कोई वंशानुगत राजा न होकर निर्वाचित राष्ट्रपति है, न कि ब्रिटेन की तरह सम्राट।
4. **पंथ निरपेक्ष-** भारतीय संविधान के द्वारा भारत को एक पंथ-निरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है। यद्यपि इस शब्द का समावेश संविधान में 42वें संविधान संशोधन 1976 के द्वारा किया है, किन्तु इससे सम्बन्धित प्रावधान संविधान के विभिन्न भागों में पहले से विद्यमान है। जैसे- मूल अधिकार में और इसी प्रकार कुछ अन्य भागों में भी। पंथनिरपेक्षता का तात्पर्य है कि राज्य का अपना कोई राजधर्म नहीं है। सभी धर्मों के साथ वह समान व्यवहार करेगा और समान संरक्षण प्रदान करेगा।
5. **समाजवादी राज्य-** इस शब्द को निश्चित रूप से परिभाषित करना आसान कार्य नहीं है, परन्तु भारतीय सन्दर्भ में इसका तात्पर्य है कि राज्य विभिन्न समुदायों के बीच आय की असमानताओं को न्यूनतम करने का प्रयास करेगा।
6. **कठोरता और लचीलेपन का समन्वय-** संविधान में संशोधन प्रणाली के आधार पर दो प्रकार के संविधान होते हैं। पहला- कठोर संविधान, दूसरा- लचीला संविधान। कठोर संविधान वह संविधान होता है, जिसमें संशोधन कानून निर्माण की सामान्य प्रक्रिया से नहीं किया जा सकता है। इसके लिए विशेष प्रक्रिया की आवश्यकता होती है, जैसा कि अमेरिका के संविधान में है। अमेरिका के संविधान में संशोधन तभी सम्भव है जब कांग्रेस के दोनों सदन(सीनेट, प्रतिनिध सभा) दो तिहाई बहुमत से संशोधन प्रस्ताव पारित करें और उसे अमेरिकी संघ के 50 राज्यों में से कम से कम तीन चौथाई राज्य उसका समर्थन करें। अर्थात न्यूनतम राज्य।

   लचीला संविधान वह संविधान है, जिसमें सामान्य कानून निर्माण की प्रक्रिया से संशोधन किया जा सके। जैसे ब्रिटेन का संविधान। क्योंकि ब्रिटिश संसद साधारण बहुमत से ही यातायात कर लगा सकती तो वह साधारण बहुमत से ही क्राउन की शक्तियों को कम कर सकती है।

   किन्तु भारतीय संविधान न तो अमेरिका के संविधान के समान कठोर है और न ही ब्रिटेन के संविधान के समान लचीला है। भारतीय संविधान में संशोधन तीन प्रकार से किया जा सकता है-

   - पहला- कुछ अनुच्छेदों में साधारण बहुमत से संशोधन किया जा सकता है।
   - दूसरा- संविधान के ज्यादातर अनुच्छेदों में संशोधन दोनों सदनों के अलग-अलग बहुमत से पारित करके साथ ही यह बहुमत उपस्थित सदस्यों का दो तिहाई है।
   - तीसरा- भारतीय संविधान में कुछ अनुच्छेद, जो संघात्मक शासन प्रणाली से सम्बन्धित हैं, उपरोक्त क्रम दो के साथ (दूसरे तरीका) कम से कम आधे राज्यों के विधान मण्डलों के द्वारा स्वीकृति देना भी आवश्यक है।

     इस प्रकार से स्पष्ट है कि भारतीय संविधान कठोरता और लचीलेपन का मिश्रिण होने का उदाहरण पेश करता है। भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री जवाहर लाल नेहरू ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा था कि- 'हम संविधान को इतना ठोस और स्थायी बनाना चाहते हैं, जितना हम बना सकें।

परन्तु सच तो यह है कि संविधान तो स्थायी होते ही नहीं हैं। इनमें लचीलापन होना चाहिए। यदि आप सब कुछ कठोर और स्थायी बना दें तो आप राष्ट्र के विकास को तथा जीवित और चेतन लोगों के विकास को रोकते हैं। हम संविधान को इतना कठोर नहीं बना सकते कि वह बदलती हुई दशाओं के साथ न चल सके।

7. **संसदीय शासन प्रणाली-** हमारे संविधान के द्वारा ब्रिटेन का अनुसरण करते हुए संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि यह संसदीय प्रणाली को न केवल संघ में वरन राज्यों में भी अपनाया गया हैं।

   इस प्रणाली की कुछ विशेषताऐं हैं-

   - नाममात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका में भेद- नाममात्र की कार्यपालिका, संघ में राष्ट्रप्रति और राज्य में राज्यपाल होता है जबकि वास्तविक कार्यपालिका, संघ और राज्य दोनों में मंत्री-परिषद होती है।
   - राष्ट्रपति (संघ में) राज्यपाल (राज्य में) केवल संवैधानिक प्रधान होते हैं।
   - मंत्री-परिषद (संघ में) लोक सभा के बहुमत के समर्थन पर ही अपने अस्तित्व के लिए निर्भर करती है। राज्य में मंत्री-परिषद अपने अस्तित्व के लिए विधान सभा के बहुमत के समर्थन पर निर्भर करती है। लोक सभा और विधान सभा दोनों निम्न सदन हैं, जनप्रतिनिधि सदन है। इनका निर्वाचन जनता प्रत्यक्षरूप से करती है।
   - कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, क्योंकि कार्यपालिका का गठन व्यवस्था के सदस्यों में से ही किया जाता है।

8. **एकात्मक लक्षणों के साथ संघात्मक शासन-** यद्यपि भारत में ब्रिटेन के संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। किन्तु उसके साथ वहाँ के एकात्मक शासन को नहीं अपनाया गया है। क्योंकि भारत में सामाजिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक बहुलता पायी जाती है। इस लिए इनकी अपनी सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक अस्मिता की रक्षा के लिए संघात्मक शासन प्रणाली अपनाया गया है। लेकिन संघात्मक शासन के साथ राष्ट्र की एकता और अखण्डता की रक्षा के लिए संकटकालीन स्थितियों से निपटने के लिए एकात्मक तत्वों का भी समावेश किया गया है। इस क्रम में हम पहले भारतीय संविधान में संघात्मक शासन के लक्षणों को जानने का प्रयास करेंगे। जो निम्नलिखित हैं-

   - लिखित निर्मित और कठोर संविधान।
   - केन्द(संघ) और राज्य की शक्तियों का विभाजन (संविधान द्वारा)।
   - स्वतन्त्र, निष्पक्ष और सर्वोच्च न्यायालय जो संविधान के रक्षक के रुप में कार्य करेगी। संविधान के विधिक पक्ष में कही अस्पष्टता होगी तो उसकी व्याख्या करेगी। साथ ही साथ नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करेगी।

किन्तु यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि भारतीय संघ हेतु, कनाडा के संघ का अनुसरण करते हुए संघीय सरकार (केन्द्र सरकार) को अधिक शक्तिशाली बनाया गया है। भारतीय संविधान के द्वारा यद्यापि संघात्मक शासन तो अपनाया गया है, किन्तु उसके साथ मजबूत केन्द्र की स्थापना हेतु, निम्नलिखित एकात्मक तत्वों का भी समावेश किया गया है-

- केन्द्र और राज्य में शक्ति विभाजन केन्द्र के पक्ष में हैं, क्योंकि तीन सूचियों (संघ सूची, राज्य सूची, समवर्ती सूची) के माध्यम से शक्ति विभाजन किया गया है। संघ सूची में संघ सरकार को, राज्य सूची पर राज्य सरकार को और समवर्ती सूची पर संघ और राज्य दोनों को कानून बनाने का अधिकार होता है, किन्तु दोनों के कानूनों में विवाद होने पर संघीय संसद द्वारा निर्मित कानून ही मान्य होता है। इन तीनों सूचियों के अतिरिक्त जो अवशिष्ट विषय हों, अर्थात जिनका उल्लेख इन सूचियों में न हो उन पर कानून बनाने का अधिकार भी केन्द्र सरकार का होता है।
- इसके अतिरिक्त राज्य सूची के विषयों पर भी संघीय संसद को कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्य सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है जैसे- संकट की घोषणा होने पर दो या दो से अधिक राज्यों द्वारा प्रस्ताव द्वारा निवेदन करने पर, राज्य सभा द्वारा पारित संकल्प के आधार पर।
- इकहरी नागरिकता- संघात्मक शासन में दोहरी नागरिकता होती है एक तो उस राज्य की जिसमें वह निवास करता है दूसरी संघ की। जैसा कि अमेरिका में है। जबकि भारत में इकहरी नागरिकता है, अर्थात कोई व्यक्ति केवल भारत का नागरिक होता है।
- एकीकृत न्यायपालिका- एक संविधान, अखिल भारतीय सेवाऐं, आपातकालीन उपबन्ध, राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति आदि। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय संविधान संघात्मक शासन है, जिसमें संकटकालीन स्थितियों से निपटने हेतु कुछ एकात्मक लक्षण भी पाये जाते हैं।

3.4 विभिन्न स्रोतों से लिए गये उपबंध

जैसा कि हम प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर चुके है कि हमारे संविधान निर्माताओं ने संविधान निर्माण की प्रक्रिया में दुनियॉ में तत्कालीन समय में प्रचलित कई संविधानों का अध्ययन किया और उसमें से महत्वपूर्ण पक्षों को जो हमारे देश में उपयोगी हो सकते थे, उन्हें अपने देश-काल की परिस्थितियों के अनुरुप ढालकर संविधान में उपबन्धित किया।

वे स्रोत निम्नलिखित हैं, जिनका प्रभाव भारतीय संविधान पर पड़ा-

स्रोत	विषय
भारतीय शासन अधिनियम 1935	तीनों सूचियां, राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियाँ
ब्रिटिश संविधान	संसदीय शासन
अमरीकी संविधान	प्रस्तावना, मौलिक अधिकार, सर्वोच्च न्यायालय, उपराष्ट्रपति का पद, संविधान में संशोधन प्रक्रिया
आयरलैण्ड का संविधान	नीति-निदेशक तत्व, राष्ट्रपति के निर्वाचन में निर्वाचक मण्डल
कनाडा का संविधान	संघात्मक शासन(अवशिष्ट शक्तियाँ, केन्द्र के पास हैं)
आस्ट्रेलिया का संविधान	समवर्ती सूची
दक्षिण अफ्रीका का संविधान	संविधान में संशोधन की प्रक्रिया
पूर्व सोवियत संघ	मूल कर्तव्य

3.5 लोक कल्याणकारी राज्य

लंबे संघर्ष के पश्चात देश को आजादी मिली थी। जिसमें संसदीय लोकतन्त्र को लागू किया गया है। संसदीय लोकतन्त्र में अन्तिम सत्ता जनता में निहित होती है। इसलिए भारतीय संविधान के द्वारा ही भारत को कल्याणकारी राज्य के रुप में स्थापित करने का प्रावधान भारतीय संविधान के विभिन्न भागों में किए गये, विशेष रुप से भाग- 4 के नीति निदेशक तत्व में, मौलिक अधिकारों में, अनुच्छेद- 17 के द्वारा अस्पृश्यता के समाप्ति की घोषणा के साथ इसे दण्डनीय अपराध माना गया है। प्रस्तावना में सामाजिक-आर्थिक न्याय की स्थापना का लक्ष्य घोषित किया गया। मौलिक अधिकार के अध्याय में किसी भी नागरिक के साथ धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान के आधार पर विभेद का निषेध किया गया। साथ ही अब तक समाज की मुख्यधारा से कटे हुए वंचित समुदायों के लिए विशेष प्रावधान किए गये, जिससे वे भी समाज की मुख्यधारा से जुड़कर राष्ट्र के विकास में अपना अमूल्य योगदान दे सकें।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारत में ब्रिटेन के संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। सत्य/असत्य
2. संसदीय शासन प्रणाली की विशेषता है, नाममात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका में भेद। सत्य/असत्य
3. लचीला संविधान वह संविधान है, जिसमें सामान्य कानून निर्माण की प्रक्रिया से संशोधन किया जा सके। सत्य/असत्य
4. भारतीय संविधान के द्वारा भारत को एक पंथ निरपेक्ष राज्य घोषित किया गयाहै। सत्य/असत्य
5. पंथ-निरपेक्ष शब्द का समावेश संविधान में 42वें संशोधन 1976 के द्वारा किया है। सत्य/असत्य

3.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के के बाद आप को यह जानने में समर्थ हो पाये कि भारतीय संविधान की क्या विशेषताऐं हैं। जिसमें यह भी जानने का अवसर प्राप्त हुआ कि किन कारणों से यह संविधान इतना विस्तृत हुआ है, क्योंकि हमारा नवजात लोकतंत्र की रक्षा और इसके विकास के लिए यह नितान्त आवश्यक था कि संभावित सभी विषयों का स्पष्ट रूप से समावेश कर दिया जाए। जैसे मूल अधिकार और नीति-निदेशक तत्वों को मिलाकर संविधान एक बड़ा भाग हो जाता है इसी प्रकार से अनुसूचित जातियों और जनजातियों से सम्बंधित उपबंध संघात्मक शासन अपनाने के कारण केन्द्र-राज्य सम्बन्ध और संविधान के संरक्षण, उसकी व्याख्या और मौलिक अधिकारों के रक्षक के रूप में स्वतंत्र निष्पक्ष और सर्वोच्च न्यायलाय की स्थापना का प्रावधान किया गया है। जिसकी वजह से संविधान विस्तृत हुआ है। इसके साथ-साथ विभिन्न संवैधानिक आयोगों की स्थापना जैसे निर्वाचन आयोग, अल्पसंख्यक आयोग, अनुसूचित जाति आयोग, अनुसूचित जनजाति आयोग, राजभाषा आयोग आदि कारणों से संविधान विस्तृत हुआ। इसके साथ ही साथ हमने इस तथ्य का भी अध्ययन किया की संविधान निर्माण में संविधान निर्माता किन देशों में प्रचलित किस पक्ष को अपने देश की आवश्कताओं के अनुरूप पाये, जिस कारण से उन्होंने भारतीय संविधान में शामिल किया है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हमें संसदीय और अध्यक्षीय शासन के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त हुई।

3.7 शब्दावली

लोक प्रभुसत्ता- जहाँ सर्वोच्च सत्ता जनता में निहित हो, वहाँ लोक प्रभुसत्ता होती है।
धर्म निरपेक्षता- राज्य का कोई धर्म न होना और राज्य के द्वारा सभी धर्मों के प्रति समभाव का होना।
समाजवादी राज्य(भारतीय संन्दर्भ में)- जहाँ राज्य के द्वारा आर्थिक असमानताओं को कम करने का प्रयत्न किया जाये।
संघीय व्यवस्था- केन्द्र और राज्य दोनों संविधान के द्वारा शक्ति विभाजन अपने-अपने क्षेत्र में दोनों संविधान की सीमा में स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करें।

3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** सत्य, **3.** सत्य, **4.** सत्य, **5.** सत्य

3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय शासन एवं राजनीति- डॉ0 रूपा मंगलानी।
2. भारतीय सरकार एवं राजनीति- त्रिवेदी एवं राय।
3. भारतीय शासन एवं राजनीत- महेन्द्र प्रताप सिंह।

3.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान- ब्रज किशोर शर्मा।
2. भारतीय संविधान- दुर्गादास बसु।

3.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारतीय संविधान की विशेषताओं की विवेचना कीजिये।
2. आप इस बात से कहाँ तक सहमत हैं कि भारतीय संविधान एकात्मक लक्षणों वाले संघात्मक शासन की स्थापना करता है?

इकाई- 4 भारतीय प्रशासन का सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीति, आर्थिक और संवैधानिक पर्यावरण

इकाई की संरचना

4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 भारतीय प्रशासन का पर्यावरण
    4.2.1 भारतीय प्रशासन सांस्कृतिक पर्यावरण
    4.2.2 भारतीय प्रशासन सामाजिक पर्यावरण
    4.2.3 भारतीय प्रशासन राजनीतिक पर्यावरण
    4.2.4 भारतीय प्रशासन आर्थिक पर्यावरण
    4.2.5 भारतीय प्रशासन संवैधानिक पर्यावरण
4.3 सारांश
4.4 शब्दावली
4.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.8 निबंधात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

पर्यावरण दो शब्द 'परि' और 'आवरण' से मिलकर बना है। जिसका शब्दिक अर्थ हैं चारों ओर घिरा हुआ। समाजिक विज्ञान में पर्यावरण का स्वरूप प्राकृतिक विज्ञान के जैविकीय एवं अजैविकीय संघटनों से भिन्न है। यद्यपि लोक प्रशासन में पर्यावरण या परिवेश अथवा परिस्थिति के अध्ययन का विचार वनस्पति विज्ञान से ग्रहण किया गया है। परन्तु तात्विक रूप से दोनों में भिन्नता है।

डॉ0 एम0पी0 शर्मा के अनुसार किसी भी सामाजिक व्यवस्था में पर्यावरण का अर्थ होता है संस्थान, इतिहास, विधि, आचारशास्त्र, दर्शन, धर्म, शिक्षा, परम्परा, विश्वास, मूल्य, प्रतीक, पौराणिक गाथाऐं आदि जिसमें भौतिक एवं अभौतिक नाचने-गाने तथा अन्य प्रकार के मनोरंजन और कलायें सम्मिलित हैं।

जबकि जीव विज्ञान में पर्यावरण से तात्पर्य सृष्टि के छोटे बड़े सभी जीवधारियों और प्रकृति के समस्त अजैविक तत्वों का समाहार है, जो जीवित प्राणीयों के अस्तत्व जीवन ओर पुनरूत्पादन को प्रभावित करते है।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भारतीय प्रशासन में पर्यावरण का क्या तात्पर्य है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- किस प्रकार से भारतीय प्रशासन सांस्कृतिक पर्यावरण से प्रभावित होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।

- किस प्रकार से भारतीय प्रशासन सामाजिक पर्यावरण से प्रभावित होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- किस प्रकार से भारतीय प्रशासन राजनीतिक पर्यावरण से प्रभावित होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- किस प्रकार से भारतीय प्रशासन आर्थिक पर्यावरण से प्रभावित होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- किस प्रकार से भारतीय प्रशासन संवैधानिक पर्यावरण से प्रभावित होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।

4.2 भारतीय प्रशासन का पर्यावरण

सन् 1961 में एफ0डी0 रिग्स की पुस्तक 'द इकोलॉजी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' प्रकाशित हुई। इस पुस्तक ने इस क्षेत्र में तहलका मचा दिया। इस पुस्तक में लोक प्रशासन तथा पर्यावरण के बीच परस्पर क्रिया को तुलनात्मक ढंग से समझने का प्रयास किया गया था। रिग्स के अतिरिक्त जॉन एम0 ग्रास, संवर टफल, रास्को पार्टिन आदि विद्वानों ने लोक प्रशासन में पर्यावरण के अध्ययन को व्यापक विस्तृत बनाया है। आज जब राज्य का स्वरूप प्रशासनिक हो गया है। किसी भी संस्थान या संगठन के विस्तृत विवेचन हेतु पर्यावरण का अध्ययन एवं विवेचन आवश्यक हो गया है। यह निर्विवाद सत्य है कि लोक प्रशासन कई तत्वों से प्रभावित होता है जैसे सांस्कृतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिवेश। लोक प्रशासन समाज विज्ञान के अन्तर्गत है। इसे समझने के लिए देश में चारों ओर होने वाली घटनाओं का अध्ययन आवश्यक है। अब लोक प्रशासन के विषय के अन्तर्गत यहाँ भारतीय प्रशासन के सन्दर्भ पर्यावरण की चर्चा करेंगे।

4.2.1 भारतीय प्रशासन का सांस्कृतिक पर्यावरण

संस्कृति शब्द मूल रूप से संस्कृत भाषा का शब्द है। संस्कृति अंग्रजी भाषा के 'Culture' शब्द का रूपान्तरण है। कलचर शब्द लैटिन भाषा के कलचुरा तथा कोलियर शब्द से बना है जिसका अर्थ है उत्पादन और परिष्कार। अतः संस्कृति के अन्तर्गत समुदाय के रहन सहन, खानपान, जीवन शैली, बौद्धिक उपलब्धियों एवं जीवन दर्शन आते हैं। जी0 ई0 ग्लैडन ने अपनी पुस्तक 'डायनामिक ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' में लोक प्रशासन और संस्कृति पर्यावरण के संबंधों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि यदि प्रशासनिक संस्कृति, रूपान्तरण के कारण हुई प्रगति से सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाती है तो सामाजिक असंतोष और हिंसा से सामाजिक ढ़ाँचा अंततः ध्वस्त हो जायेगा। सामाजिक संस्कृति की अनुकूल क्षमता ही प्रशासन में लोक सामंजस्य और व्यवस्था बनाये रखने में प्रमुख भूमिका निभाती है।

भारतीय संस्कृति के विषय में एक चिर-परिचित और प्रिय उक्ति है। 'भारतीय संस्कृति में अनेकता में एकता का समावेश है'। भारतीय संस्कृति की धारा का मूल स्रोत वैदिक धर्म है। यही सनातन धर्म के नाम से विख्यात है। यह भी सत्य है कि वैदिक आर्य और उनकी संस्कृति अपनी पूर्ववर्ती सिन्धु संस्कृति से भी प्रभावित रही है। कालान्तर में विकसित हिन्दू संस्कृति में कई अवैदिक तत्वों का समावेश किया गया है। जैसे शिव महादेव की कल्पना। पीपल की पूजा, पशुओं की देव वाहन के रूप में कल्पना आदि। भारतीय संस्कृति की धारा में निरन्तरता प्रवाहता सदैव बनी रही। मध्यकाल में इस्लामिक संस्कृति आगमन व ईसाई संस्कृति इसे अवरूद्ध ना कर सकी, बल्कि इसकी अपनी अमरता ने परिष्कृत ही किया है। मध्यकाल के भक्ति आंदोलन और आधुनिक काल के नवजागरण इसके प्रमाण है। भारत अनेक जातियों, धर्मों और भाषाओं का जमघट है। भारत के राजनैतिक इतिहास में अनेक जातियों के प्रवेश किया है। उनकी न केवल भाषाओं बल्कि धर्म, विश्वास, परम्परा भिन्न रही है। 15 अगस्त 1947 के बाद

में भारत अपनी अखण्डता अक्षुणता को अवश्य बनाये हुए है, परन्तु एक राष्ट्र राज्य के रूप में अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है। इसकी सांस्कृतिक भिन्नताऐं इसमें अवरोध उत्पन्न करती है। प्रशासनिक सन्दर्भ में तो भिन्नताऐं बहुत अधिक पीड़ादायक सिद्ध हुई।

सहिष्णुता जहाँ एक नैतिक आदर्श प्रस्तुत करके सामाजिक जीवन को सरल, सुगम दर्शन प्रदान करते हैं, वहीं प्रशासनिक दृष्टिकोण से यही चीजें कठिनाईयां प्रस्तुत करती हैं। प्रशासन मानव जीवन को सुखमय और संघर्ष रहित बनाने के लिए होता है। परन्तु महज सांस्कृतिक भिन्नता के कारण भिन्न समुदायों के लिए भिन्न-भिन्न कार्यक्रमों का निर्माण करना और उनको क्रियान्वित करना थोड़ा कठिन होता है। यद्यपि प्रशासनिक श्रेष्ठता या हीनता का यह एक मात्र कारण नहीं है। यदि संस्कृति में कुछ और गुण विद्यमान हों तो यह दुर्गुण प्राकृतिक गुण में बदल सकता है। भारतीय प्रशासन के माध्यम से जब सामाजिक बुराईयों को दूर करने एवं प्रगतिशील व उन्नत कार्यक्रम चलाये जाते हैं, तो सांस्कृतिक परम्पराओं के कारण उसका विरोध किया जाता है। जब कभी कोई सामाजिक लक्ष्य प्राप्त करने की चेष्ठा की जाती है, तो भारतीय समाज के विभिन्न वर्ग सिर्फ सांस्कृतिक अन्तर्विरोधों के कारण उसका विरोध करते हैं। अतः लोकतांत्रिक पृष्ठभूमि के कारण प्रशासन अवसादग्रस्त हो जाता है। स्वतन्त्रता के पश्चात राष्ट्रीय भाषा का निधारर्ण परिवार नियोजन के सम्बन्ध में कानून और अनुच्छेद-44 का क्रियान्वयन इसके उदाहरण है।

सांस्कृतिक भिन्नता के कारण भारतीय समाज में सांस्कृतिक वैमनस्य को जन्म देता है। जिसके करण पुलिस प्रशासन पर अत्यधिक दबाव रहता है। धर्म एवं जातिगत भिन्नता के कारण उनमें आपस में खानपान, वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाते। परन्तु जब कभी शिक्षित युवा लड़के-लड़कियां प्रेम सम्बन्धों या वैवाहिक सम्बन्धों के कारण एक-दूसरे के नजदीक आते हैं, तो जाति धर्म की भिननता उनके आड़े आती है। उत्तर भारत के कुछ राज्यों हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार में ऐसे सम्बन्धों का अभिभावक कड़ा विरोध करते हैं, जिनका परिणाम कभी-कभी 'ऑनर किलिंग' जैसे अपराधों में दृष्टिगत होता है।

भाषाई आधार पर प्रदेशों का निर्माण और प्रान्तों के बीच असहयोगपूर्ण बर्ताव सांस्कृतिक भिन्नता की पृष्ठभूमि पर आधारित है। प्रान्तों का बँटवारा भौगोलिक एवं प्रशासनिक सुविधा पर होना अधिक श्रेष्ठ है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था और प्रशासन के लिए एक दु:खद सत्य है कि प्रान्तों के नेता चाहे वे सत्ता में हों या विपक्ष में राष्ट्रीय आदर्शों के प्रेरणा नहीं होते। वे मन के अनुकूल अधिक क्षेत्रीय या प्रान्तीय विभाजन चाहते हैं।

भारतीय जीवन धर्म तत्व से अनुप्राणित रहा है। धर्म शब्द स्वजातिक है और इसका अनुवाद मजहब या रिलिजन नहीं हो सकता। यहाँ धर्म का अर्थ कत्तव्यों का पालन करना है। समग्र सृष्टि को अच्छी प्रकार से धारण एवं परिपालन करने वाले तत्वों की समष्टि को ही धर्म कहते हैं। अर्थात वे तत्व जिनके रहने से समाज है और जिनके न होने पर यह समाज नष्ट हो जाता है, धर्म के अन्तर्गत आते हैं। जैसे धैर्य, क्षमा, उदारता, संतोष, ईमानदारी, पवित्रता, ज्ञान, प्रेम, दया, अहिंसा, ममता, परोपकार, सहयोग तथा अपनी भांति दूसरों की चिन्ता करना आदि। श्रेष्ठ जीवन मूल्यों की समष्टि को ही भारतीय शास्त्रों में धर्म कहा गया है। इन तत्वों को धारण करने वाले व्यक्ति आध्यात्मिक शांति को प्राप्त कर समाज को व्यवस्थित एवं गतिमान बनाने में सहयोगी बनते हैं। चूँकि आज सत्ता धर्म के बिना सम्भव नहीं, अतः धर्म के तत्वों की रक्षा में सक्रिय होना समाज के प्रत्येक विचारशील नागरिक का पवित्र कर्तव्य बन जाता है। भारतीय जीवन में धर्म एक अग्रणी तत्व रहा। धर्म एकान्त में रहकर जीवन यापन करने वाले मनुष्यों का प्रेरक नहीं है। धर्म सामाजिक जीवन का सद्-गुण है। भारतीय राजनीतिक दर्शन में धर्म और राज्य में विरोधी

संबंधों की कोई कल्पना नहीं की गयी है। आदर्श राज्य में धर्म आत्मा के सदृश्य राज्य रूपी शरीर में विद्यमान व्यक्ति का राजकीय जीवन, धार्मिक जीवन का पर्याय माना गया है। राम, कृष्ण, विदूर, भीष्म, मन, युधिष्ठिर, चाणक्य, गाँधी और अनगिनत राजर्षि इसके उदाहरण है। भारतीय नागरिकों में कोई हिन्दू हैं और वे लोग अधार्मिक हैं जो किसी पन्थ या सम्प्रदाय से नहीं जुड़े हैं। यह बात उतनी ही असत्य है, जितना की यह कहना कि सूर्य पृथ्वी का चक्कर लगाता है। भारतीय समाज यदि पूर्णतया धार्मिक होता तो इसके सामाजिक, राजनीतिक जीवन में इतनी बुराईयां ना होती। अधिकांश भारतीय धार्मिक होने का दावा करते हैं, परन्तु वे आचरण में धर्म की अभिव्यक्ति नहीं करते। आज की भारतीय समाज में नैतिक मूल्यों का जो ह्रास देखा जा रहा है उसके आधार पर राजनीतिक एवं प्रशासनिक जीवन के आदर्श का प्रतिनिधित्व भारतीय कर पायेंगे, इसमें संदेह है। यह सच है कि भारतीय समाज मानव जीवन के विभिन्न कृत्यों को ईश्वरीय छाया से निष्पादित मानते हैं, परन्तु वे व्यवहारिक जीवन में उसे स्वीकार नहीं करते।

धर्म को जीवन और आचरण में पूर्णता से उतार लेने के लिए और व्यक्ति के आत्मिक विकास के लिए भारत में विभिन्न दर्शनों, समुदायों का विकास हुआ है। भारत के ऐसे अनेक संप्रदाय हैं, जिनमें अद्वैत, वैष्णौ, शाक्त, जैन, बौद्ध, सिख आदि प्रमुख हैं। इन विभिन्न सम्प्रदायों की उपासना पद्धतियों में भले ही भिन्नता हो परन्तु लक्ष्य सभी का परम् सत्य और धर्म ही है। अर्थात धर्म साध्य है, जबकि सम्प्रदाय साधन। भारतीय समाज सहिष्णुता के कारण अनेक उप-सम्प्रदायों को भी जन्म देता है। बौद्धौं में महायान, हीनयान, जैन में श्वेताम्बर, दिगाम्बर आदि हैं। यद्यपि ये भिन्नताऐं प्रशासनिक दृष्टिकाण से बहुत महत्व नहीं रखती। राजनीतिक और साम्प्रदायिक षड़यंत्रों के कारण देश का वातावरण बहुधा विषाक्त हो जाया करता है।

हिन्दू समाज की सहिष्णुता अनुपम है। भारतीय संस्कृति किसी दूसरे धर्म में हस्तक्षेप नहीं करती है। हमारे इतिहास में ऐसे विभिन्न उदाहरण देखने को मिलते हैं, जिनमें हमारे मनुष्यों ने यह सिद्ध कर दिया है कि सत्य को प्राप्त करने के अनेक मार्ग है।

हमारे पूर्वजों का दृष्टिकोण सदैव अन्तर्राष्ट्रीय ही रहा है। मानव एक ही ईश्वर की संतान है। यह संकल्पना सदैव उपस्थित रही है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श आज से चार हजार वर्ष पूर्व भारतीय संस्कृति का नारा था। हिन्दू संस्कृति ने अनेक संस्कृतियों को अपना कर अपनी ताकत बढ़ाई। है। यहाँ तक की इस्लाम जो अपने व्यक्तित्व को स्वतंत्र रखने का मनसूबा लेकर चला था, वह भी भारत में आकर बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है। आज भारतीय मुसलमान सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय है।

4.2.2 भारतीय प्रशासन का सामाजिक पर्यावरण

एफ0डब्लू0 रिग्स ने अपनी पुस्तक 'इकॉलॉजी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेसन' में कहा है कि किसी समुदाय का सामाजिक परिवेश उसके संस्थानों, संस्थागत नमूनों, जात सम्बन्धों, परम्पराओं, धर्म मूल्यों की व्यवस्था, विश्वास आदि पर आधारित होता है। ये समस्त तत्व प्रशासन पर बड़ा गहरा प्रभाव डालते हैं। लोक प्रशासन में मानवीय तत्व विशेष का प्रभाव होता है। इसलिए लोक प्रशासन का मानवीय तत्व समाज विशेष की ऊपज होता है। विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाऐं और संस्थाऐं लोक कर्मचारियों के चरित्र की रचना करती हैं। भारत में आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक आदि आधारों पर अनेक वर्ग बन जाते हैं। समाज के इन वर्गों को पहचानना तथा उनमें जो वर्ग पिछड़ा और कमजोर है, उसे विशेष सुविधा देकर ऊपर उठाना, प्रशासन का महत्वपूर्ण दायित्व बन जाता है।

प्रशासन को केवल कानूनी न्याय के आदर पर नहीं चलाया जा सकता। बल्कि प्रशासन के संचालन के लिए आज सामाजिक न्याय अधिक आवश्यक बन गया है। इसके साथ समाजिक संस्थाओं का लोक प्रशासन की नौकरशाही से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। सामाजिक संस्थाओं का प्रशासन पर निरन्तर दबाव रहता है। इस सामाजिक दबाव के कारण लोक प्रशासन सतर्क एवं उत्तरदायी बना रहता है। दूसरी ओर सामाजिक जागरूकता भी प्रशासनिक व्यवहार को जनोपयोगी बनाने में सहायता करती है। इससें स्पष्ट है कि प्रशासन को सामाजिक पर्यावरण के अनुसार संचालित होना पड़ता है। समाज प्रशासन के अनुसार कभी कभी ही क्रियाशील होता है। भारतीय समाज की विशेषता है कि वह बहुलवादी समाज है। जिसमें विविध सम्प्रदायों के अनुयायी भाषाभाषी एवं जाति, धर्म वाले लोग रहते हैं। भारत में हिन्दू, मुस्लिम, सिख, जैन, बौध, परसी आदि धर्माबलम्बी रहते हैं। भाषाओं की संख्या तो अनगिनत है, फिर भी संविधान की आठवीं सूची में 22 भाषाओं को रखा गया है। भारत में 74% हिन्दू, 22% मुस्लिम, 2.5% ईसाई और 2% सिख है। बहुसंख्यक हिन्दू के सामाजिक जीवन का आधार पुरातन काल से स्थापित वर्णाश्रम व्यवस्था है। यद्यपि वर्ण व्यवस्था अपनी पूर्व अवस्था में नहीं रह गयी, परन्तु अभी भी अघोषित रूप में समाजिक जीवन को इसी सिद्धान्त पर चिह्नित किया जाता है। वर्ण व्यवस्था का सूत्रपात श्रम और व्यवसायिक वर्गों के विभाजन से हुआ था, जो कालान्तर में जन्म पर आधारित बन गया। वर्ण व्यवस्था का सबसे हानिकारक पक्ष है, पिछड़ी जातियों के प्रति अस्पृश्यता का व्यवहार। उच्च वर्ग में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ग की स्थिति सम्मानित और गौरवशाली हुआ करती थी। परन्तु सूद्र वर्ग समाज में गरीब और शोषित वर्ग हुआ करता था। स्वतंत्रता के पश्चात वर्ण-व्यवस्था को अवैध एवं गैर-कानूनी घोषित किया गया और योग्यता के आधार पर व्यवसायों के चयन को प्रमाणित माना गया। परन्तु भारत के कुछ राज्यों में भूमि पर उच्च वर्गों का एकाधिकार अभी भी स्थापित है। बिहार, पंजाब, राजस्थान, जैसे राज्यों में भू-आबंटन लागू ही नहीं हो पाया और कुछ राज्यों में लगभग ही क्रियान्वित हो सका। उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश में ठाकुर, राजपूत, जाट, गुर्जर भूमि पर अधिकार रखते हैं। बिहार में भूमिहार, ब्राह्मण, कायश्थ, कोयरी और राजस्थान में जाट और ब्राह्मण जबकि आन्ध्र प्रदेश में रेड्डी, कम्मा और बेलगा भूमि पर अधिपत्य कायम किये हुए हैं।

भारत की राजनीति संरचना और प्रक्रियाऐं लोकतांत्रिक प्रक्रिया को प्रभावित करता है। पंचायती राज के तीनों स्तरों पर जो अलोकतांत्रिक एवं सामंती मानसिकता का प्रदर्शन होता है, वह इस समाज की अलोकतांत्रिक मानसिकता परिलक्षित होती है। यह भारतीय राजनीतिक जीवन की सच्चाई है। भारतीय राजनीति अपराधियों, कानून भंजकों और बेईमान लोगों का व्यापार बन गया। यहाँ पर भारतीय समाज के कुछ विशेष मुद्दों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

1. **जाति-** भारतीय समाज की संचार का आधार जाति और उपजातियां हैं। भारतीय प्रशासन सदियों पुरानी समाजिक विषमता को ठीक करने में व्यस्त है। अनुसूचित जनजातियों, अनुसूचित जातियों और पिछड़ी जातियों के लिए शिक्षा एवं सेवाओं में आरक्षण का प्रावधान भारतीय समाज की एकरूपता एवं समरसता प्रदान करने का विवादित प्रयास है। आरक्षण की व्यवस्था आर्थिक पीछड़ेपन पर आधारित न होकर जाति पर आधारित है। दूसरे मूल संविधान में इसे दस वर्षों तक जारी रखने का प्रावधान था, परन्तु संसद द्वारा इसे समय समय पर बढ़ाया जाता रहा। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए आरक्षण बहुत हद तक उचित है। परन्तु पीछड़ी जातियों के लिए आरक्षण का प्रावधान राजनीतिक स्वार्थों से प्रेरित है। राजनीतिक दल वोट बैंक के लिए पिछड़ी जातियों के आरक्षण का समर्थन करते हैं।

प्रशासनिक स्तर पर जाति भावना एक गंभीर समस्या है। समजात वर्ग के अधिकारी एवं कर्मचारी एक-दूसरे के लिए अवैध और अनुचित कार्यों को करने के लिए तैयार रहते हैं। परन्तु विजातीय लोगों के लिए उचित एवं वैध कार्यों के लिए टालमटोल करते हैं। जिस प्रकार से राजनीतिक स्तर पर जातियों को संगठित कर एक संगठित बोट बैंक के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है, लगभग उसी प्रकार राजनेताओं द्वारा प्रशासनिक अधिकारियों का इस्तेमाल अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए किया जाता है। राज्यों के विधान सभा के उपचुनाव में इस जाति भावना का प्रशासन खुल कर प्रयोग होता है। आम जनमानस में प्रायः देखा और सुना जाता है कि समान जाति है तो एसे में अजीब आशा और विश्वास का संचार होता है। परन्तु जब वह विजातीय अधिकारी या कर्मचारी के पास जाते हैं, तो उनमें भय और शंका का समावेश होता है।

2. **भारतीय समाज का निम्न नैतिक स्तर-** राष्ट्रीय आन्दोलन के काल में भारत के नेताओं ने नैतिक मूल्यों एवं आदर्श मानवीय गुणों का जो उद्-घाटन किया था विश्व स्तर पर भारत के ब्रिटिश आधिपत्य को असंगत प्रमाणित किया था। विश्व के अनेक विद्वानों ने कहा, भारत को सभ्य बनाने का अधिकार ब्रिटेन को नहीं है। भारतीय पुर्नजागरण और स्वतंत्रता के काल तक भारत के नैतिक मूल्यों, आदर्शों के कारण भारत एक आध्यात्मिक गुरू के रूप में उभर रहा था। परन्तु पिछले साठ वर्षों से भारतीय समाज का नैतिक पतन बड़ी तीव्र गति से हो रहा था। भारतीय समाज ने मानवीय बुराईयों को फैशन बना लिया है और समान्य जनता इन वर्गों की बुराईयों को अनुयायी बनकर अपनाती जा रही है। उच्च-वर्ग में भ्रष्टाचार, बेईमानी कत्तव्यहीनता, मिथ्या, दंभ, बड़े होने और सभ्य होने के प्रमाण माने जाते हैं। अर्थ का लाभ भारतीय समाज को उसके आदर्शों से पदच्यूत कर रहा है। राजनेता जितना बड़ा आर्थिक घोटाला करते हैं, उतना ही उनके राजनैतिक कद का प्रमाण माना जाता है। समाज में नैतिक मूल्यों का पतन इतनी गहराई तक पहुँच गया है कि लोग सामाजिक, प्रशासनिक बुराईयों को मौन स्वीकृति प्रदान कर देते हैं।

भारतीय प्रशासन, भारतीय समाज के नैतिक पजन का प्रतिबिम्ब भारत के 90 प्रतिशत अधिकारी और कर्मचारी भ्रष्ट और चरित्रहीन होते हैं। यह सच है कि उन्हें भ्रष्ट होने और रिश्वत खोर होने के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद सभी नीतियों का इस्तेमाल प्रशासनिक-वर्ग और राजनीतिक-वर्ग द्वारा ही किया जाता है। भ्रष्टाचारमुक्त भारत सदगुणी व्यक्तियों के लिए अभी भी एक सपना है। प्रशासन के सभी विभागों में रिश्वत खोर, दलालों का जमघट होता है। पुलिस प्रशासन, स्वास्थ, शिक्षा, और राजस्व विभाग का निर्माण जैसे लोककल्याण के लिए नहीं बल्कि जनता के उत्पीड़न के लिए हुआ है।

4.2.3 भारतीय प्रशासन का आर्थिक पर्यावरण

'अर्थ' वह भौतिक तत्व जिस पर व्यक्ति के जीवन की गति निर्धारित होती है। राज्य की आर्थिक दशा और अर्थ के वितरण की व्यवस्था उसके सामाजिक, राजनीतिक एवं प्रशासनिक ढ़ाँचे का स्वरूप तय करता है। प्रशासन के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ समय पहले राजनीतिक परिस्थितियों को ही अधिक महत्व दिया जाता था। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से आर्थिक विकास के अनुसार ही प्रशासन की सफलता एवं असफलता के अध्ययन को भी सम्मिलित किया जाने लगा है।

किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की आर्थिक स्थिति का वहाँ के लोक प्रशासन के स्वरूप, संगठन और कार्यों पर प्रभाव पड़ता है। प्रायः सभी विकासशील देशों में तीव्र आर्थिक विकास एवं आधुनिकीकरण के लिए प्रशासनिक सुधारों को अनिवार्य समझा जाता है। आज आर्थिक विकास के लिए प्रशासनिक विकास की भी आवश्यकता है। प्रशासन को आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला जाता है और इसके लिए समय समय पर प्रशासनिक सुधार किये जाते हैं। किसी भी देश की योजना को लागू करने का दायित्व प्रशासन का होता है। अतः देश की प्रशासनिक प्रणाली वहाँ के आर्थिक जीवन को नियमित करती है। आज की प्रशासनिक व्यवस्था सिर्फ कानून और व्यवस्था के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि प्रशासन व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पहलु को अधिकाधिक खुशहाल बनाने के लिए लोक कल्याणकारी बन गया है।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था अपनी विशाल जनसंख्या के भार से दबी हुई है। आर्थिक प्रगति के बावजूद गरीबी, भुखमरी, कुपोषित जीवन जीने वालों की संख्या में वृद्धि हुई है। भारतीय राजनीतिक नेतृत्व व प्रशासन दोनों के लिए भारतीय समाज का समावेशी विकास एक दुसाध्य लक्ष्य बना हुआ है। लोक प्रशासन अनेक प्रकार से देश के जीवन को नियंत्रित करता है। जैसे एक बाजार व्यवस्था तभी सुचारू रूप से कार्य कर सकती है, जब उसके ऊपर विभिन्न प्रकार के नियंत्रण लगाये जाए तथा प्रशासन द्वारा अनेक सुविधाऐं उपलब्ध करायी जाये। प्रशासन ही वह यंत्र है, जो अल्प आर्थिक संसाधनों को अपने कौशल से अधिक उपयोगी और कल्याणकारी बना सकता है और यदि प्रशासन तंत्र भ्रष्ट और लुटेरा हो तो विश्व के समस्त संसाधनों से दरिद्रता नहीं दूर की जा सकती। प्रशासन में भ्रष्टाचार का मूल आधार आर्थिक है। यदि हम प्रशासन को पवित्र और भ्रष्टाचार रहित बनाना चाहते हैं, तो आर्थिक विषमताओं को दूर करना आवश्यक है। इसी प्रकार अकुशल प्रशासन निम्न आर्थिक स्तर का एक दुष्चक्र होता है। जब किसी राज्य की आर्थिक स्थिति खराब होती है तो वहाँ योग्य तथा कुशल कर्मचारी उपलब्ध नहीं हो पाते। फिर भी मैं कहूँगा कि भारतीय प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार न तो आर्थिक असमानता व दरिद्रता का परिणाम है और ना ही भारत की विकास योजनाओं की, बल्कि यह नैतिक और चारित्रिक समस्या है।

स्वाधीनता के बाद देश का औद्योगीकीकरण एक पूंजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था के आधार पर करने का प्रयत्न किया गया। पूँजीवादी औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया ने कई तरह की बुराईयाँ उत्पन्न कर दी। उनसे अर्थव्यवस्था की पूराने ढ़ाँचे को समाप्त कर दिया गया। किन्तु किसी नये ढ़ाँचे का निर्माण नहीं किया गया। पूँजी अपने निवेश के लिए उन्हीं क्षेत्रों को चुनती है, जो उसे प्रारम्भिक सुविधाऐं प्रदान करते हैं। चूंकि ये सुविधाऐं पहले से मौजूद शहरी क्षेत्रों में प्राप्त होती हैं। अतः नये उद्यम और व्यवसायिक प्रतिष्ठान समान्यतः शहरों तथा शहरों के उपनगरीय क्षेत्रों में शुरू किये जाते हैं। इससे अनेक समस्याऐं उत्पन्न हुई। जैसे- आर्थिक विषमता, असन्तुलित आर्थिक विकास आदि।

स्वाधीनता के बाद भारत ने विकसीत देशों से उधार ली गयी अत्यधिक पूँजी प्रदान टेकनोलॉजी को अपनाया। भारी उद्योगों के निमार्ण के लिए विदेशी सहायता लेनी पड़ी और देश की अर्थ व्यवस्था विदेशी निगमों के शिकंजे में फँसने लगी। आज देश की अर्थ व्यवस्था पर बड़े औद्योगिक घरानों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का प्रभाव सर्वत्र दिखाई देता है। राजनीतिज्ञ, प्रशासक, सलाहाकार संस्थान, सामान्य जन के कल्याण की उपेक्षा करके पूंजीपतियों के हितों की पैरवी करते नजर आते हैं। भारतीय अर्थ-व्यवस्था के आर्थिक पर्यावरण को निम्न विशेषताओं के सन्दर्भ में समझा जा सकता है-

1. **कृषि की प्रधानता-** भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषता कृषि व्यवसाय की प्रधानता है। यहाँ की कुल कार्यशील जनसंख्या का 56% कृषि व्यवसाय में तथा 32% उद्योग व सेवाओं में लगा हुआ है।

2. **ग्रामीण अर्थव्यवस्था-** भारतीय अर्थव्यवस्था ग्रामीण है। यहाँ लगभग 72.2% जनसंख्या गावों में निवास करती है। यह प्रतिशत अन्य देशों की तुलना में बहुत ज्यादा है। उदाहरण के लिए अमेरिका में 24% जापान में 22% व आस्ट्रेलिया में 15% जनसंख्या गावों में निवास करती हैं।
3. **प्रतिव्यक्ति निम्न आय-** भारतीय अर्थवयवस्था की एक विशेषता यह है कि यहाँ प्रति व्यक्ति आय बहुत निम्न है। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो भारत की प्रति व्यक्ति आय जहां 460 डालर है, वहीं विश्व की औसत प्रति व्यक्ति आय 5159 डालर है। भारत में प्रति व्यक्ति आय कम होने से गरीबी व्याप्त है। लेकिन यह गरीबी आँकड़ों से भी और अधिक है। क्योंकि एक अनुमान के अनुसार 20% जनसंख्या को केवल एक ही समय भोजन मिल पाता है। वह 37.4% जनसंख्या को कम पौष्टिक भोजन मिलता है और वे कुपोषित जीवन जीते हैं।
4. **व्यापक बेरोजगारी-** भारत में व्यापक बेरोजगारी है और यह निरन्तर बढ़ रही है। वर्तमान में 8 करोड़ व्यक्ति बेरोजगार है। इनमें से अधिकांश पाकेटमारी, चोरी, डकैती करते हैं। परन्तु सफेदपोश अपराधियों और सभ्य डाकुओं की अपेक्षा ये बेरोजगार चोर, पाकेटमारी, समाज का नुकसान कम ही करते हैं।
5. **परम्परावादी समाज-** भारतीय अर्थव्यवस्था का एक लक्षण यह है कि यहाँ का समाज रूढ़िवादी, भाग्यवादी और ढोंगी है। यही कारण है कि यहाँ बहुत सी कुरीतियां हैं। जैसे मृत्युभोज व अनेक सामाजिक परम्पराऐं हैं, जिनमें काफी धन व्यय कर दिया जाता है। ऐसी परम्पराओं और रीति-रिवाजों के कारण यहाँ का समाज सुखी जीवन व्यतीत नहीं कर पाता और अपने परिवार का जीवन स्तर नहीं उठा पाता।

भारत के आर्थिक परिवेश में प्रशासन के समक्ष अनेक चुनौतियां उपस्थित हो जाती हैं। पंचायती शासन के माध्यम से विकास योजनाओं का क्रियान्वयन आर्थिक संसाधनों के बंदरबांट का ज्वलंत उदाहरण है। प्रशासन को भारत की आर्थिक, समाजिक समस्याओं का समाधान खोजना और एक स्वास्थ समाज का निर्माण करना है।

4.2.4 भारतीय प्रशासन का संवैधानिक पर्यावरण

किसी भी देश का प्रशासन संवैधानिक व्यवस्था के अनुरूप ही होता है। जहाँ संविधान का शासन है, वहाँ प्रशासन का स्रोत भी संविधान ही होता है। भारतीय प्रशासनिक संस्थाओं और उसकी कार्यप्रणाली का विस्तृत विवरण संविधान के अनुच्छेदों में विस्तार से है। इन संस्थाओं में निर्वाचन आयोग, लोक सेवा आयोग, वित्त आयोग आदि संवैधानिक संस्थाऐं हैं। भारतीय संविधान की कुछ विशिष्ट विशेषताऐं प्रशासन की प्रकृति, रूपरेखा व कार्यप्रणाली आदि का निर्धारण करती है। जैसे- संसदीय शासन व्यवस्था प्रशासन में अनुचित राजनीतिक हस्तक्षेप की भूमिका तय करता है। दूसरी ओर मंत्रियों की अनभिज्ञता उन्हें प्रशासनिक कार्यों के प्रति उदासीन बनाती है और नौकरशाही का प्रभुत्व प्रशासन पर स्थापित हो जाता है। संविधान का लिखित होना प्रशासन के उद्देश्य एवं दिशा का निर्धारण करता है। नागरिकों के मौलिक अधिकार एवं राज्यों के नीति-निदेशक तत्व इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है। संघात्मक शासन के कारण प्रशासन के दो स्तर- केन्द्रीय एवं प्रान्तीय होते हैं। इस परिस्थिति में दोनों स्तरों में पर्याप्त सहयोग एवं सामंजस्य की आवश्यकता होती है। कभी-कभी सुरक्षा सम्बन्धी मामलों में केन्द्रीय एवं प्रान्तीय प्रशासनीक संस्थाओं में अन्तरविरोध देखा जाता है। उदाहरणार्थ बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड में नक्सली समस्याओं के सम्बन्ध में केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सुरक्षा एजेन्सियों में सहयोग का अभाव दिखाता है।

संविधान में प्रशासकों के चयन प्रक्रिया को योग्यता पर आधारित और निष्पक्ष बनाने के लिए संघ लोक सेवा आयोग, राज्य लोक सेवा आयोग जैसी संस्थाओं का प्रावधान किया गया है। स्वतंत्र न्यायपालिका के द्वारा लोक सेवकों के पदच्यूति को भी न्यायिक प्रक्रिया का विषय बना दिया गया है। जिससे लोक सेवक बिना किसी भय के निष्पक्ष होकर कार्य कर सकें। प्रशासनिक अधिकारियों एवं कर्मचारियों के अवैध कार्यों के विरूद्ध मुकद्दमा चलाने का अधिकार पीड़ितों को दिया गया है।

निःसंदेह भारतीय संविधान में जनता के कल्याण और मानव सम्मान व अन्य प्रतिष्ठा को ध्यान में रखा गया है। परन्तु अभी तक कुछ गिने-चुने लोगों तक यह सीमित है। गरीबों और कमजोर लोगों के लिए 'अधिकार' 'न्याय' 'कानून' केवल शब्द मात्र हैं। स्वतंत्र न्यायिक व्यवस्था जनहित के मुकद्दमें, जनसूचना का अधिकार की उपलब्धता, न्याय एक दुर्लभ बस्तु बन गया है। उत्कृष्ट संविधान कानून और संस्थाओं के होते हुए भी समाज की उन्नति नहीं हो पा रही है। स्वतंत्रता के समय भारत की जनता समझती थी कि आजादी मिलने पर भारत एक नये युग में प्रवेश करेगा। परन्तु 60-65 वर्षों के उपरान्त औद्योगिक, तकनीकी व आर्थिक प्रगति के बावजूद भारत की सामाजिक प्रगति और सामान्य जनता की स्थिति के सम्बन्ध में संशय है, जो देश अपने 60% जनसंख्या के लिए रोटी, कपड़ा और मकान की व्यवस्था ना कर सका उसके लिए आर्थिक प्रगति, औद्योगिक उन्नति जैसे शब्द बेईमानी लगती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. पर्यावरण किन दो शब्दों से मिलकर बना है?
2. 'द इकोलॉजी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' के लेखक कौन हैं?
3. 'डायनामिक ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन'के लेखक कौन हैं?
4. भारत की लगभग कितने प्रतिशत जनसंख्या गावों में निवास करती है?

4.3 सारांश

उपरोक्त अध्ययन से आप समझ सके होंगे कि किस प्रकार देश का प्रशासन देश के संवैधानिक पर्यावरण की सीमाओं में रहकर ही कार्य करता है। भारतीय प्रशासन और संवैधानिक पर्यावरण को समझने के लिए भारतीय संविधान की विशेषताऐं निर्मित, लिखित, लोकप्रिय सम्प्रभुता, लोककल्याण कार्य, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष राज्य, संसदीय व्यवस्था, स्वतंत्र न्यायपालिका, मूल अधिकारों की व्यवस्था, आदि को समझना आवश्यक है। साथ ही अध्ययन से यह भी स्पष्ट हुआ होगा कि देश विशेष की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, संवैधानिक और सांस्कृतिक परिस्थितियां प्रशासन को न केवल प्रभावित करती हैं, अपितु कार्यप्रणाली एवं ढ़ाँचे को नया रूप प्रदान करती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रशासन और पर्यावरण में घनिष्ट सम्बन्ध है।

4.4 शब्दावली

पर्यावरण- पर्यावरण दो शब्द 'परि' और 'आवरण' से मिलकर बना है। जिसका शब्दिक अर्थ है 'चारों ओर घिरा हुआ।' समाजिक विज्ञान में पर्यावरण का स्वरूप प्राकृतिक विज्ञान के जैविकीय एवं अजैविकीय संघटनों से भिन्न है। यद्यपि लोक प्रशासन में पर्यावरण या परिवेश अथवा परिस्थिति के अध्ययन का विचार वनस्पति विज्ञान से ग्रहण किया गया है। परन्तु तात्विक रूप से दोनों में भिन्नता है।

संस्कृति- संस्कृति के अन्तर्गत समुदाय के रहन-सहन, खानपान, जीवन शैली, बौद्धिक उपलब्धियों एवं जीवन दर्शन आते हैं।

4.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 'परि' और 'आवरण', **2.** एफ0डी0 रिग्स, **3.** जी0 ई0 ग्लैडन, **4.** 72.2%

4.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय संविधान- ब्रज किशोर शर्मा।
2. भारतीय लोक प्रशासन- बी0एल0 फड़िया।
3. भारतीय लोक प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी।

4.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान- डी0डी0 बसु।
2. भारतीय लोक प्रशासन- एस0सी0 सिंहल।

4.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारतीय प्रशासन के पर्यावरण पर निबंध लिखिये।
2. स्वतन्त्रता के बाद भारतीय प्रशासन के पर्यावरण में किस प्रकार का परिवर्तन आया है? स्पष्ट कीजिये।

इकाई- 5 राष्ट्रपति

इकाई की संरचना

5.0 प्रस्तावना
5.1 उद्देश्य
5.2 राष्ट्रपति
5.3 राष्ट्रपति का निर्वाचन
    5.3.1 योग्यता
    5.3.2 निर्वाचन
    5.3.3 राष्ट्रपति द्वारा शपथ
    5.3.4 राष्ट्रपति की पदावधि
    5.3.5 उन्मुक्तियां
    5.3.6 वेतन
    5.3.7 महाभियोग की प्रक्रिया
5.4 राष्ट्रपति की शक्तियाँ
    5.4.1 कार्यपालिका शक्तियाँ
    5.4.2 विधायी शक्तियाँ
    5.4.3 राजनयिक शक्तियाँ
    5.4.4 सैनिक शक्तियाँ
    5.4.5 न्यायिक शक्तियाँ
    5.4.6 आपात कालीन शक्तियाँ
5.5 राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति
5.6 सारांश
5.7 शब्दावली
5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
5.11 निबंधात्मक प्रश्न

5.0 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाइयों के अध्ययन से आप को भारतीय प्रशासन के विभिन्न पक्षों के बारे में जानने में सहायता मिली है। प्रस्तुत इकाई में हम भारत में संघ के कार्यपालिका के प्रमुख, राष्ट्रपति के बारे में जान सकेंगे। इसके अध्ययन से हम राष्ट्रपति के निर्वाचन, उनकी शक्तियों और उनकी संवैधानिक स्थिति तथा वास्तविक स्थिति के बारे में भी जान सकेंगे।

इस इकाई के अध्ययन से हमें आगे की इकाइयों में प्रधानमन्त्री सहित मंत्री-परिषद के वास्तविक कार्यपालिका प्रधान के रुप में समझने में सहायता मिलेगी। साथ ही संसदीय शासन की परम्परा में राष्ट्रपति पद के महत्व को और भी स्पष्ट रुप से समझने में सहायता मिलेगी।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राष्ट्रपति के चुनाव की प्रक्रिया के बारे में जान सकेंगे।
- राष्ट्रपति की शक्तियों को जान सकेंगे।
- यह जान सकेंगे कि वह कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान ही नहीं है।

5.2 राष्ट्रपति

शासन के तीन अंग होते हैं, जो क्रमशः व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका हैं। व्यवस्थापिका का सम्बन्ध कानून निर्माण से है, कार्यपालिका का सम्बन्ध व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों और नीतियों के क्रियान्वयन से है, जबकि न्यायपालिका का सम्बन्ध न्यायिक कार्यों से है।

संघ की कार्यपालिका के शीर्ष पर राष्ट्रपति होता है। चूँकि राष्ट्रपति संवैधानिक प्रधान है (नाममात्र की कार्यपालिका) फिर भी उनके पद को सत्ता और गरिमा से युक्त किया गया है। वह राज्य के शक्तिशाली शासक हाने की अपेक्षा, भारत की एकता के प्रतीक हैं। उनकी स्थिति वैधानिक अध्यक्ष की है, फिर भी शासन में उनका पद एक धुरी के समान है जो संकट के समय संवैधानिक तंत्र को संतुलित कर सकता है।

5.3 राष्ट्रपति का निर्वाचन

भारतीय संविधान के अनुसार भारत एक गणतन्त्र है। गणतन्त्र में राष्ट्र का अध्यक्ष वंशानुगत राजा न होकर निर्वाचित होता है। राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति से होता है।

5.3.1 योग्यता

राष्ट्रपति पद के निर्वाचन के लिए निम्नलिखित योग्यताऐं आवश्यक हैं -

1. वह भारत का नागरिक हो,
2. वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो,
3. वह लोक सभा का सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो,
4. वह संघ सरकार और राज्य सरकारों या स्थानीय सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर न हो,
5. राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यपाल और मन्त्रियों के पद लाभ के पद नहीं माने जाते, इसलिए उन्हें त्याग-पत्र देने की आवश्यकता नहीं होती।

5.3.2 निर्वाचन

अनुच्छेद- 54 के अनुसार राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मंडल के सदस्य करते है जिसमें-

1. संसद के दोनों सदनों (लोक सभा, राज्य सभा) के निर्वाचित सदस्य।
2. राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य शामिल होंगे।

राष्ट्रपति के निर्वाचन में संघीय संसद के साथ-साथ राज्यों के विधान सभाओं के सदस्यों को शामिल कर इस बात का प्रयत्न किया गया है, कि राष्ट्रपति का निर्वाचन दलीय आधार पर न हो तथा संघ के इस सर्वोच्च पद को वास्तव में राष्ट्रीय पद का रूप प्राप्त हो सके।

भारतीय संविधान के 71वें संवैधानिक संशोधन द्वारा यह व्यवस्था की गयी है कि पोण्डेचेरी और राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली की विधान सभाओं के सदस्य, राष्ट्रपति के निर्वाचक मंडल में शामिल किये जायेंगे।

1957 के राष्ट्रपति चुनाव में कुछ स्थान रिक्त होने पर राष्ट्रपति के चुनाव की वैधता को चुनौती दी गयी । न्यायालय ने अपने निर्णय में ऐसी स्थिति में भी चुनाव संभव बताया। इस समस्या के निराकरण हेतु 1961 में 11वें संवैधानिक संशोधन द्वारा अनुच्छेद- 71 में उपबन्ध किया गया है कि निर्वाचक मंडल का स्थान रिक्त होने पर भी चुनाव वैध हैं।

राष्ट्रपति का निर्वाचन ऊपर वर्णित निर्वाचन मण्डल द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा किया जाता है, अनुच्छेद 55(3)। मतदान गुप्त होता है। इस पद्धति में चुनाव में सफलता प्राप्त करने के लिए प्रत्याशी को न्यूनतम कोटा प्राप्त करना होता है। न्यूनतम काटा निर्धारण का सूत्र इस प्रकार है-

$$\text{न्यूनतम कोटा} = \frac{\text{दिये गये मतों की संख्या}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रत्याशियों की संख्या}} + 1$$

राष्ट्रपति के निर्वाचन में निर्वाचन मण्डल के सदस्यों के मतों का मूल्य समान नहीं होता है। कुछ राज्यों की विधान सभाओं के सदस्य अधिक जनसंख्या का और कुछ कम जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए विधान सभा सदस्य के मत का मूल्य उनकी जनसंख्या के अनुपात में होता है। साथ ही राष्ट्रपति के चुनाव में केन्द्र और राज्य को बराबर की हिस्सेदारी देने के लिए सभी राज्यों और संघीय क्षेत्रों की विधान सभाओं के समस्त सदस्यों के मत मूल्य और संसद के सभी निर्वाचित सदस्यों के मतों के मूल्य बराबर रखने पर जोर दिया जाता है। जिससे राष्ट्रपति का चुनाव दलगत राजनीति का शिकार न हो और वह राष्ट्र का सच्चा प्रतिनिधि हो सके।

मत मूल्य निकालने का तरीका-

$$\text{विधान सभा के एक सदस्य के मत का मूल्य} = \frac{\text{राज्य की जनसंख्या}}{\text{कुल विधायकों की संख्या x 100}}$$

$$\text{संसद सदस्य के एक मत का मूल्य} = \frac{\text{सभी राज्यों और संघीय क्षेत्रों विधान सभा सदस्यों के मतों का मूल्य}}{\text{संसद के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या}}$$

राष्ट्रपति के निर्वाचन में उस प्रत्याशी को निर्वाचित घोषित किया जाता है, जो न्यूनतम कोटा अर्थात आधे से अधिक मत प्राप्त करे। राष्ट्रपति के निर्वाचन में जितने प्रत्याशी होते हैं, मतदाता को उतने मत देने का अधिकार होता है। मतदाता अपना मत वरीयता क्रम के आधार पर देता है। जैसे-

	प्रत्याशी	A	B	C	D
मतदाता	P	1	3	2	4
	G	2	1	3	4
	R	4	1	2	3
	S	3	1	2	4
	T	2	3	1	4

इस आरेख में चार प्रत्याशी A, B, C, D, हैं, मतदाता P, G, R, S, T हैं, जिन्होंने अपने मत वरीयता के आधार पर राष्ट्रपति प्रत्याशी को दिये हैं। सर्वप्रथम, प्रथम वरीयता के मत की गणना की जाती है। यदि उसे न्यूनतम कोटा प्राप्त हो जाय तो वह विजयी घोषित होता है। यदि कोटा न प्राप्त हो सके तो द्वितीय वरीयता के मत की गणना होती है। इस द्वितीय दौर में जिस उम्मीदवार को प्रथम वरीयता का सबसे कम मत मिला हो उसे गणना से बाहर कर, उसके द्वितीय वरीयता के मतमूल्य को स्थानान्तरित कर दिया जाता है। यदि द्वितीय दौर की गणना में किसी प्रत्याशी को न्यूनतम कोटा न प्राप्त हो तो तीसरे दौर की मतगणना होती है, जिसमें दूसरे दौर की मतगणना में सबसे कम मतमूल्य पाने वाले प्रत्याशी के तीसरे वरीयता के मतमूल्य को शेष उम्मीदवारों को स्थानान्तरित कर दिया जाता है। यह प्रक्रिया तब तक अपनायी जाती है, जब तक किसी प्रत्याशी को न्यूनतम कोटा न प्राप्त हो जाय।

5.3.3 राष्ट्रपति द्वारा शपथ

राष्ट्रपति अपना पद ग्रहण करने से पूर्व अनुच्छेद- 60 के तहत भारत के मुख्य न्यायाधीश या उनकी अनुपस्थिति में सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश के समक्ष अपने पद की शपथ लेता है।

5.3.4 राष्ट्रपति की पदावधि

संविधान के अनुच्छेद- 56 के अनुसार राष्ट्रपति अपने पद ग्रहण की तिथि से, पांच वर्ष की अवधि तक अपने पद पर बना रहता है। इस पॉच वर्ष की अवधि के पूर्व भी वह उपराष्ट्रपति को वह अपना त्यागपत्र दे सकता है या उसे पॉच वर्ष की अवधि से पूर्व संविधान के उल्लंघन के लिए संसद द्वारा महाभियोग से हटाया जा सकता है। राष्ट्रपति अपने पॉच वर्ष के कार्यकाल पूर्ण होने के बाद तक अपने पद पर बना रहता है जब तक कि इसके उत्तराधिकारी द्वारा पद ग्रहण न कर लिया जाए।

5.3.5 उन्मुक्तियां

राष्ट्रपति अपने कार्यों के लिए व्यक्तिगत रुप से उत्तरदायी नहीं होता है। अपने पद के कर्तव्यों एवं शक्तियों का प्रयोग करते हुए, उनके सम्बन्ध में उसके विरुद्ध न्यायालय में कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता है।

5.3.6 वेतन

राष्ट्रपति को इस समय 150000 रु0/ माह वेतन है। अनुच्छेद 59(3) अनुसार कार्यकाल के दौरान उनके वेतन और उपलब्धियों में किसी प्रकार की कमी नहीं की जा सकती है।

5.3.7 महाभियोग प्रक्रिया

राष्ट्रपति को अनुच्छेद- 61 के अनुसार महाभियोग प्रक्रिया द्वारा, संविधान के अतिक्रमण के आधार पर हटाया जा सकता है। संसद के जिस सदन में महाभियोग का संकल्प प्रस्तुत किया गया हो, उसके एक-चौथाई सदस्यों द्वारा हस्ताक्षर सहित आरोप-पत्र राष्ट्रपति को 14 दिन पूर्व दिया जाना आवश्यक है। इस सदन में संकल्प को दो तिहाई बहुमत से पारित करके दूसरे सदन को भेजा जाएगा, जो राष्ट्रपति पर लगे इन आरोपों की जाँच करेगा। इस दौरान राष्ट्रपति स्वयं या अपने प्रतिनिधि के द्वारा अपना पक्ष रख सकता है। यदि दूसरा सदन आरोपों को सही पाता है और उसे अपनी संख्या के बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई सदस्यों द्वारा पारित कर दिया जाता है तो राष्ट्रपति पद त्याग के लिए बाध्य होता है।

5.4 राष्ट्रपति की शक्तियाँ

हमारे संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को व्यापक शक्तिया प्रदान की गयी हैं,जो निम्नलिखित हैं-

5.4.1 कार्यपालिका शक्तियाँ

संविधान के अनुच्छेद- 53(1) के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी और वह इस शक्ति का प्रयोग इस संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करेगा।

अनुच्छेद- 74 के अनुसार राष्ट्रपति को सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्री-परिषद होगी जिसका प्रधान, प्रधानमन्त्री होगा। राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का प्रयोग करने में मंत्रिमण्डल की सलाह के अनुसार कार्य करेगा। इसके आगे संविधान के 44वें संशोधन अधिनियम 1978 द्वारा यह जोड़ा गया कि यदि मंत्री-परिषद की सलाह पर राष्ट्रपति पुनर्विचार करने को कह सकेगा, परन्तु राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के पश्चात दी गयी सलाह के अनुसार कार्य करेगा। राष्ट्रपति की कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियों में मंत्री-परिषद का गठन महत्वपूर्ण है। संसदीय परम्परा के अनुरुप निम्न सदन में बहुमत प्राप्त दल के नेता को राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त करता है तथा प्रधानमन्त्री की सलाह पर अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। अब तक नियुक्त अधिकांश प्रधानमन्त्री लोक सभा के सदस्य रहे हैं। श्रीमती इन्दिरा गाँधी पहली ऐसी प्रधानमन्त्री थी जो राज्य सभा से मनोनीत सदस्य थी। पूर्व प्रधानमन्त्री डा0 मनमोहन सिंह भी राज्य सभा सदस्य थे। संविधान के 91वें संशोधन 2003 द्वारा अनुच्छेद- 75(1क) के अनुसार मन्त्री, राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त पद धारण करते हैं। अनुच्छेद- 75(3) के अनुसार, मंत्री-परिषद के सदस्य सामूहिक रुप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। अनुच्छेद- 75(5) के अनुसार, कोई भी मन्त्री, निरन्तर छः मास तक संसद के किसी सदन का सदस्य हुए बिना भी मन्त्री रह सकता है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण तथ्य को स्पष्ट करना आवश्यक है कि जब लोक सभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत न मिले अथवा लोक सभा में अविश्वास मत के कारण मंत्री-परिषद को त्याग-पत्र देना पड़े, ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति किस व्यक्ति को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त करे, इस सम्बन्ध में संविधान मौन है। इस सबन्ध में राष्ट्रपति को

स्वविवेकाधिकार प्राप्त है। इस सम्बन्ध में संसदीय परम्परा के अनुरुप सर्वप्रथम सबसे बड़े दल के नेता तथा जो बहुमत सिद्ध कर सकता है, उसे प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त करते हैं।

इसके साथ-साथ राष्ट्रपति को संघ के महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्ति की शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं। भारत के महान्यायवादी की नियुक्ति, नियन्त्रक-महालेखक की नियुक्ति, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति, राज्यपाल की नियुक्ति, संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति, मुख्य निर्वाचन आयुक्त और निर्वाचन आयोग के अन्य सदस्य की नियुक्ति, अनुसूचित जातियों जनजातियों के लिए विशेष अधिकारी की नियुक्ति, भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए विशेष अधिकारी की नियुक्ति।

ये सभी नियुक्तियाँ राष्ट्रपति द्वारा मंत्री-परिषद की सलाह पर या संविधान द्वारा निश्चित व्यक्तियों से परामर्श के पश्चात की जाती है। राष्ट्रपति को उपर्युक्त अधिकारियों को हटाने की भी शक्ति प्राप्त है।

5.4.2 विधायी शक्तियाँ

भारत में संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। संविधान के अनुच्छेद- 79 के अनुसार राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग है। संसद का गठन राष्ट्रपति, लोक सभा और राज्य सभा से मिलकर होता है। इस प्रकार संसद का महत्वपूर्ण अंग होने के नाते राष्ट्रपति को महत्वपूर्ण विधायी शक्तियाँ प्राप्त हैं। कोई भी विधेयक संसद के दोनों सदनों (लोक सभा और राज्य सभा) द्वारा पारित होने के बाद राष्ट्रपति की स्वीकृति से ही अधिनियम का रुप लेता है।

संसद का अंग होने के नाते राष्ट्रपति को लोक सभा और राज्य सभा का सत्र आहूत करने और उसका सत्रावसान करने की शक्ति है। अनुच्छेद- 85 के अनुसार वह लोक सभा का विघटन कर सकता है। अनुच्छेद-108 के अनुसार वह साधारण विधेयक पर दोनों सदनों में विवाद होने पर संयुक्त अधिवेशन बुला सकता है। अनुच्छेद- 87 के अनुसार राष्ट्रपति प्रत्येक साधारण निर्वाचन के पश्चात प्रथम सत्र के प्रारम्भ पर और प्रत्येक वर्ष के पहले सत्र के प्रारम्भ पर एक साथ संसद के दोनों सदनों में अभिभाषण करता है। इसके अतिरिक्त किसी एक सदन या दोनों सदनों में एक साथ अभिभाषण करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति अनुच्छेद- 80 के अनुसार राज्य सभा में 12 सदस्यों को मनोनीत कर सकता है जो साहित्य, कला, विज्ञान या समाजसेवा के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त हों और अनुच्छेद- 331 के अनुसार लोक सभा में दो सदस्यों को आंग्ल भारतीय समुदाय से मनोनीत कर सकता है।

संविधान के उपबन्धों और कुछ अधिनियमों का अनुपालन करने के लिए राष्ट्रपति का यह कर्तव्य है कि कुछ प्रतिवेदनों को संसद के समक्ष रखवायेगा। इसका उद्देश्य यह है कि संसद को उन प्रतिवेदनों और उस पर की गयी कार्यवाही पर विचार करने का अवसर प्राप्त हो जाएगा। राष्ट्रपति का यह कर्तव्य है कि निम्नलिखित प्रतिवेदनों और दस्तावेजों को संसद के समक्ष रखवाऐं।

- अनुच्छेद- 112 के अनुसार- वार्षिक वित्तीय विवरण (बजट),
- अनुच्छेद- 151 के अनुसार- नियन्त्रक महालेखक का प्रतिवेदन,
- अनुच्छेद- 281 के अनुसार- वित्त आयोग की सिफारिशें,
- अनुच्छेद- 323 के अनुसार- संघ लोक सेवा आयोग का प्रतिवेदन,
- अनुच्छेद- 340 के अनुसार- पिछड़ा वर्ग आयोग का प्रतिवेदन,

- अनुच्छेद- 348 के अनुसार- राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और जनजाति आयोग का प्रतिवेदन,
- अनुच्छेद- 94(क) के अनुसार- राष्ट्रपति अपने अधिकार का प्रयोग करते हुए, भारतीय संविधान के अंग्रेजी भाषा में किए गये प्रत्येक संशोधन का हिन्दी भाषा में अनुवाद प्रकाशित करायेगा। इसके अतिरिक्त कुछ विषयों पर कानून बनाने के लिए, उस पर राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति आवश्यक है। जैसे-

अनुच्छेद- 3 के अनुसार नये राज्यों के निर्माण या विद्यमान राज्य की सीमा में परिवर्तन से संबंधित विधेयकों पर। अनुच्छेद- 117(1) धन विधेयकों के सम्बन्ध में। अनुच्छेद- 117(3) ऐसे व्यय से संबंधित विधेयक, जो भारत की संचित निधि से किया जाना हो। अनुच्छेद- 304 के अनुसार, राज्य सरकारों के ऐसे विधेयक जो व्यापार और वाणिज्य की स्वतन्त्रता पर प्रभाव डालते हों।

इस बात का हम उल्लेख कर चुके हैं कि संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित कोई भी विधेयक कानून तब तक नहीं बन सकता जब तक कि उस पर राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति न प्रदान करें। राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति दे सकता है, विधेयक को रोक सकता है या दोनों सदनों द्वारा पुनर्विचार के लिए वापस कर सकता है। यदि संसद पुनर्विचार के पश्चात विधेयक को राष्ट्रपति को वापस करती है, तो वह अपनी स्वीकृति देने के लिए बाध्य है। यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि राष्ट्रपति धन विधेयक को पुनर्विचार के लिए वापस नहीं कर सकता है, क्योंकि धन विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति से ही लोक सभा में रखा जाता है।

2006 में लाभ के पद से संबंधित संसद अयोग्यता निवारण संशोधन विधेयक लोक सभा और राज्य सभा द्वारा पारित होने के पश्चात राष्ट्रपति के समक्ष स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया गया, जिसे राष्ट्रपति ए0पी0जे0 कलाम ने पुनर्विचार के लिए, यह कहते हुए वापस कर दिया कि सांसदों और विधायकों को लाभ के पद के दायरे से बाहर रखने के व्यापक आधार बताए जाऐं। संसद के दोनों सदनों ने इसे पुनः मूल रुप में ही पारित कर दिया। यह पहला अवसर था कि राष्ट्रपति की आपत्तियों पर विचार किए बिना ही विधेयक को उसी रुप में पारित कर दिया गया। राज्य विधानमंडल द्वारा निर्मित विधि के सम्बन्ध में भी राष्ट्रपति को विभिन्न शक्तियाँ प्राप्त हैं-

1. राज्य विधान-मण्डल द्वारा पारित ऐसा विधेयक जो उच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को प्रभावित करता है तो राज्यपाल उस विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए आरक्षित कर लेगा।
2. वित्तीय आपात काल लागू होने की स्थिति में, राष्ट्रपति यह निर्देश दे सकता है कि राज्य विधान सभा में प्रस्तुत किये जाने से पूर्व सभी धन विधेयकों पर उसकी अनुमति ली जाय।
3. सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए राज्य विधानमंडल द्वारा पारित विधेयकों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है।
4. राज्य के अन्दर या अन्य राज्यों के साथ व्यापार पर प्रतिबंध लगानें वाले विधेयकों को विधान सभा में प्रस्तुत करनें से पूर्व राष्ट्रपति की अनुमति आवश्यक है।
5. **अध्यादेश जारी करने की शक्ति-** जब संसद सत्र में न हो और राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाय कि वर्तमान परिस्थिति में यथाशीघ्र कार्यवाही की आवश्यकता है, तो वे अनुच्छेद- 123 के अनुसार अध्यादेश जारी करते हैं। इस अध्यादेश का प्रभाव संसद द्वारा पारित और राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत अधिनियम के समान ही होता है। किन्तु अधिनियम स्थायी होता है और अध्यादेश का प्रभाव केवल छः माह तक ही रहता है। छः माह के अन्दर यदि अध्यादेश को संसद की स्वीकृति न प्राप्त हो तो वह स्वतः ही समाप्त हो जाएगा।

6. **वीटो (निषेधाधिकार) की शक्ति-** यह कार्यपालिका की शक्ति है, जिसके द्वारा वह किसी विधेयक को अनुमति देने से रोकता है। अनुमति देने से इन्कार करता है या अनुमति देने में विलम्ब करता है। वीटो के कई प्रकार हैं-

   - **आत्यंतिक वीटो या पूर्ण वीटो-** यह वह वीटो है, जिसमें राष्ट्रपति संसद द्वारा पारित किसी विधेयक को अनुमति देने से इन्कार कर देता है। पूर्ण वीटो का प्रयोग धन विधेयक के सम्बन्ध में नहीं किया जा सकता, क्योंकि धन विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति से ही लोक सभा में प्रस्तुत किया जाता है।
   - **निलम्बनकारी वीटो-** जिस वीटो को सामान्य बहुमत से समाप्त किया जा सकता है, उसे निलम्बनकारी वीटो कहा जाता है। इस प्रकार के वीटो का प्रयोग हमारे राष्ट्रपति उस समय करते हैं जब अनुच्छेद- 111 के अनुसार वे किसी विधेयक को पुनर्विचार के लिए वापस करते हैं।
   - **पाकेट वीटो या जेबी वीटो-** संसद द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति न तो अनुमति देता है और न ही पुनर्विचार के लिए वापस करता है, तब वह जेबी वीटो का प्रयोग करता है। हमारे संविधान में यह स्पष्ट उपबन्ध नहीं है कि राष्ट्रपति कितने समय के भीतर विधेयक को अपनी अनुमति देगा। फलतः वह विधेयक को अपनी मेज पर अनिश्चित काल तक रख सकता है। जेबी वीटो का प्रयोग 1986 में संसद द्वारा पारित भारतीय डाक अधिनियम के सन्दर्भ में राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने किया था।

5.4.3 राजनयिक शक्तियाँ

यहाँ हम स्पष्ट करना चाहते हैं कि 21वीं सदी में भू-मण्डलीकरण की प्रक्रिया चल रही है। इस प्रक्रिया ने एक राष्ट्र के हित को विश्व के अन्य राष्ट्रों के साथ जोड़ दिया है। राष्ट्रों के मध्य आपसी संबंधों का संचालन राजनयिकों के द्वारा होता है। हमारे देश में राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रधान है। इसलिए अन्य राष्ट्रों के साथ संबंधों के संचालन की शक्ति भी राष्ट्रपति को प्रदान की गयी है और अन्य राष्ट्रों के साथ संबंधों का संचालन भी राष्ट्रपति के नाम से किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय मामले में वे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत की ओर से भेजे जाने वाले राजदूत की नियुक्ति भी राष्ट्रपति ही करते हैं। दूसरे देशों से भारत में नियुक्त होने वाले राजदूत और उच्चायुक्त अपना परिचयपत्र राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। परन्तु इन सभी विषयों में राष्ट्रपति मंत्री-परिषद की सलाह के अनुसार कार्य करता है।

5.4.4 सैनिक शक्तियाँ

जैसा कि हम इस इकाई में पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि संघ की समस्त कार्यपालिका शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित हैं, इसी कारण से वह तीनों सेनाओं का प्रधान सेनापति है। किन्तु हमारे राष्ट्रपति की सैन्य शक्तियाँ अमेरिका के राष्ट्रपति के समान नहीं हैं, क्योंकि ये अपनी शक्तियों के प्रयोग संसद द्वारा निर्मित कानूनों के अनुसार करते हैं। जबकि अमेरिका के राष्ट्रपति पर इस प्रकार के कोई प्रतिबंध नहीं है।

5.4.5 न्यायिक शक्तियाँ

भारतीय संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को व्यापक रुप से न्यायिक शक्तियाँ प्राप्त हैं, जो निम्नलिखित हैं-

1. **न्यायाधीशों की नियुक्ति-** अनुच्छेद- 217 के के अनुसार राष्ट्रपति उच्च न्यायालय और अनुच्छेद- 124 के तहत उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करते हैं। उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति करते समय वह उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश से परामर्श कर सकते हैं। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति में मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करते हैं।
2. **क्षमादान की शक्ति-** राष्ट्रपति को कार्यपालिका और विधायी शक्तियों के साथ-साथ न्यायिक शक्तियाँ भी प्राप्त हैं, जिनमें क्षमादान की शक्ति अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जो अनुच्छेद- 72 के अनुसार प्राप्त है। वे इस क्षमादान की शक्ति के तहत किसी दोषी ठहराये गये व्यक्ति के दण्ड को क्षमा तथा सिद्ध दोष के निलंबन, परिहार या लघुकरण की शक्ति प्राप्त है। राष्ट्रपति इन शक्तियों का प्रयोग निम्नलिखित परिस्थितियों में करते हैं। सेना द्वारा दिये गये दण्ड के मामले में, जब दण्ड ऐसे विषयों के मामले में दिया गया हो जो संघ के कार्यपालिका क्षेत्र में आते हों, ऐसी परिस्थिति में जब किसी व्यक्ति को मृत्यु दण्ड दिया गया हो, क्षमादान की शक्ति का प्रयोग भी वह मंत्री-परिषद की सलाह के अनुसार करता है।
   क्षमादान की इस शक्ति को देने के पीछे सोच यह है कि न्यायाधीश भी मनुष्य होते हैं। इसलिए उनके द्वारा की गयी किसी भूल को सुधारने की गुंजाइस बनी रहे।
3. **उच्चतम न्यायालय से परामर्श लेने का अधिकार-** हमारे संविधान के अनुच्छेद- 143 के अनुसार, यदि राष्ट्रपति को ऐसा कभी प्रतीत होता है कि विधि या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ है या उत्पन्न होने की संभावना है, जो ऐसी प्रकृति और व्यापक महत्व का है तो उस पर उच्चतम न्यायालय से राय माँग सकता है। इस प्रकार की राय राष्ट्रपति पर बाध्यकारी नहीं होती है। इसके साथ-साथ उच्चतम न्यायालय को यदि वह आवश्यक समझे तो अपनी राय देने से इन्कार कर सकता है।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति को अन्य अधिकार प्राप्त हैं। जैसे- संविधान के अनुच्छेद- 130 के अनुसार, यदि सर्वोच्च न्यायालय अपना स्थान दिल्ली के बजाय किसी अन्य स्थान पर स्थानान्तरित करना चाहे तो इसके लिए राष्ट्रपति से अनुमति लेना आवश्यक है ।

5.4.6 आपात कालीन शक्तियाँ

हमारे संविधान निर्माता गुलामी की दु:खद घटना और आजादी की लम्बी लड़ाई के पश्चात आजाद हो रहे देश के दु:खद विभाजन से परिचित थे। इसलिए देश में भविष्य में उत्पन्न होने वाली संकटकालीन स्थितियों से निपटने के लिए संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को विस्तृत आपातकालीन शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं। हमारे संविधान के भाग-18 के अनुच्छेद- 352 से अनुच्छेद- 360 तक राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों का उपबन्ध किया गया है। ये शक्तियाँ निम्नलिखित तीन प्रकार की हैं-

1. **राष्ट्रीय आपात-** संविधान के अनुच्छेद- 352 में यह उपबन्ध किया गया है कि, यदि राष्ट्रपति को यह समाधान हो जाय कि युद्ध, वाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के कारण भारत या उसके किसी भाग की सुरक्षा संकट में है या संकट में होने की आशंका है, तो उनके द्वारा आपात की उद्-घोषणा की जा सकती है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मूल संविधान में सशस्त्र विद्रोह की जगह आन्तरिक अशान्ति शब्द था।

1975 में तत्कालीन प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी के लोक सभा चुनाव को इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा रद्द किये जाने के पश्चात आन्तरिक अशान्ति के नाम पर प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर राष्ट्रपति ने राष्ट्रीय आपात की घोषणा की।

1977 के लोक सभा के चुनाव में कांग्रेस को पराजय का मुंह देखना पड़ा। जनता पार्टी की सरकार बनी। इस सरकार नें 1979 के 44वें संविधानिक संशोधन के द्वारा आन्तरिक अशान्ति के स्थान पर सशस्त्र विद्रोह शब्द रखा गया। साथ ही यह भी उपबन्ध किया गया कि आपातकाल की घोषणा अब संघ के मंत्रिमण्डल (प्रधानमन्त्री और मंत्रिमण्डल स्तर के अन्य मंत्री) की सिफारिश से राष्ट्रपति द्वारा ही की जाएगी।

राष्ट्रपति द्वारा आपात की घोषणा के एक माह के अन्दर संसद के द्वारा विशेष बहुमत से स्वीकृति आवश्यक है। दूसरे शब्दों में इस घोषणा को लोक सभा और राज्य सभा द्वारा पृथक-पृथक कुल सदस्य संख्या के बहुमत और उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से स्वीकृति आवश्यक है। आपात की घोषणा के समय यदि लोक सभा का विघटन हुआ है, तो एक माह के अन्दर राज्य सभा की विशेष स्वीकृति आवश्यक है। नवगठित लोकसभा के द्वारा उसकी प्रथम बैठक के तीस दिन के अन्दर विशेष बहुमत से स्वीकृति आवश्यक है। आपातकाल को यदि आगे भी लागू रखना है तो उसे प्रत्येक छः माह पश्चात संसद की स्वीकृति आवश्यक है। यदि आपातकाल की घोषणा एक सदन द्वारा की जाय और दूसरा सदन अस्वीकार कर दे, तो यह घोषणा एक माह के पश्चात समाप्त हो जाएगी। इस आपात काल को संसद साधरण बहुमत से समाप्त कर सकती है।

संविधान के 38वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा यह उपबंध किया गया कि आपात काल की उद्-घोषणा को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। 44वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा इस प्रावधान को समाप्त कर दिया गया। संविधान के प्रारम्भ में यह उपबन्ध था कि अनुच्छेद- 352 के अनुसार आपातकाल को पूरे देश में ही लागू किया जा सकता है, किसी एक भाग में नहीं। परन्तु 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि आपात काल की उद्-घोषणा देश के किसी एक भाग या कई भागों में की जा सकती है।

- अभी तक कुल तीन बार राष्ट्रीय आपात की घोषणा की गयी है। पहली बार, 26 अक्टूबर 1962 से 10 जनवरी 1968 तक चीनी आक्रमण के कारण। दूसरी बार, पाकिस्तान के द्वारा आक्रमण के कारण 03 दिसम्बर 1971 को घोषणा की गयी तथा तीसरी बार, 25 जून 1975 को आन्तरिक अशान्ति के आधार पर आपातकाल की घोषणा की गयी, इनकी समाप्ति 21 मार्च 1977 को की गयी।
- अनुच्छेद- 83(2) के अनुसार, जब आपात की उद्-घोषणा की गयी हो तब लोक सभा अपने कार्यकाल को एक साल के लिए बढा सकती है। किन्तु आपात की उद्-घोषणा के समाप्त होने पर, यह कार्यकाल वृद्धि अधिकतम छः मास तक ही चल सकती है। अनुच्छेद- 250 के अनुसार, आपातकाल की उद्-घोषणा के दौरान संबंधित राज्य में संसद को राज्य सूची के किसी भी विषय पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। यद्यपि राज्य की विधायी शक्तियाँ राज्य के पास बनी रहती है, किन्तु उन पर निर्णायक शक्ति संसद के पास रहती है।
- हम उपर इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि अनुच्छेद- 73 के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति उन विषयों तक सीमित है, जिन पर संसद को कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है, किन्तु

आपातकाल की उद्-घोषणा के दौरान केन्द्र सरकार जहाँ आपातकाल लागू है, उस राज्य के साथ ही साथ देश के किसी भी राज्य को यह निर्देश दे सकता है कि वह अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग किस प्रकार करे।

- संविधान के अनुच्छेद- 354 में यह स्पष्ट उल्लेख है कि राष्ट्रपति के आदेश से केन्द्र और राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्ध को उस सीमा तक परिवर्तित किया जा सकता है, जिस सीमा तक की स्थिति का सामना करने के लिए आवश्यक हो। राष्ट्रपति के इस प्रकार के आदेश को यथाशीघ्र संसद के समक्ष रखना आवश्यक होता है।
- वाह्य आक्रमण के कारण यदि राष्ट्रीय आपात की घोषणा की गयी है, तो अनुच्छेद- 358 के अनुसार, अनुच्छेद- 19 द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रता का अधिकार निलंबित हो जाता है। जबकि अनुच्छेद- 359 के तहत उन्हीं अधिकारों का निलंबन होता है, जो राष्ट्रपति के आदेश में स्पष्ट किया गया हो। इसके बावजूद भी अनुच्छेद- 20 और 21 के तहत प्रदत्त मूल अधिकारों का निलंबन किसी भी स्थिति में नहीं हो सकता है।

2. **राज्यों में संवैधानिक तन्त्र की विफलता-** अनुच्छेद- 355 में यह उपबन्ध है कि संघ सरकार का यह दायित्व है कि वह राज्यों की वाह्य आक्रमण और आन्तरिक अशान्ति से रक्षा करे। साथ ही यह भी देखे कि प्रत्येक राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार चल रहा हो। अनुच्छेद- 356(1) के अनुसार, यदि राष्ट्रपति को यह समाधान हो जाए कि राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार न चलने के कारण संवैधानिक तन्त्र विफल हो गया है तो वह राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर सकता है। राष्ट्रपति का यह समाधान राज्यपाल के प्रतिवेदन पर भी आधारित हो सकता है। अनुच्छेद- 365 के अनुसार राष्ट्रपति किसी राज्य की सरकार के विरुद्ध अनुच्छेद- 356 का प्रयोग उस समय भी कर सकता है, जब संबंधित राज्य की सरकार संघ सरकार के निर्देशों का पालन करने में असफल हो जाती है।

राज्यों में राष्ट्रपति शासन की घोषणा दो माह के लिए होती है, किन्तु यदि घोषणा के पश्चात लोक सभा का विघटन हो जाता है तो नवीन लोक सभा के गठन के बाद प्रथम बैठक के तीस दिन के बाद घोषणा तभी लागू रह सकती है जब कि नवीन लोक सभा उसका अनुमोदन कर दे। इस प्रकार की घोषणा एक बार में छः माह के लिए और अधिकतम तीन वर्ष(पंजाब में पांच वर्ष तक लागू थी) के लिए लागू की जा सकती है। 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा यह उपबन्ध किया गया कि एक वर्ष से अधिक समय तक राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिए दो आवश्यक शर्तें हैं, पहली- जब सम्पूर्ण देश में या उसके किसी एक भाग में अनुच्छेद- 352 के तहत राष्ट्रीय आपात काल की घोषणा लागू हो और दूसरी- निर्वाचन आयोग इस बात को प्रमाणित करे कि संबंधित राज्य में वर्तमान परिस्थितियों में चुनाव कराना सम्भव नहीं है।

- **राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने का प्रभाव-** राष्ट्रपति इस बात की घोषणा कर सकता है कि राज्य के कानून निर्माण की शक्ति का प्रयोग संसद करेगी। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि अनुच्छेद- 356 की घोषणा के पश्चात यह आवश्यक नहीं है कि विधान सभा का विघटन कर दिया जाय। विधान सभा को केवल निलंबित भी किया जा सकता है। यदि संसद का सत्र न चल रहा हो तो राष्ट्रपति राज्य की संचित निधि में से आवश्यक खर्च की अनुमति दे सकता है। राष्ट्रपति कार्यपालिका सम्बन्धी सभी या आंशिक कृत्यों को अपने हाथों में ले सकता है, उच्च न्यायालय के कार्यों को छोड़कर।

- **अनुच्छेद- 352 और अनुच्छेद- 356 की तुलना-** जैसा कि ऊपर आप देख चुके हैं अनुच्छेद- 352 और 356 का प्रयोग राष्ट्रपति करते हैं, किन्तु दोनों के प्रभावों में अन्तर हैं। जब किसी राज्य में राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा की जाती है तो संसद को समवर्ती-सूची के साथ-साथ राज्य-सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है, किन्तु राज्य विधान सभा और कार्यपालिका का अस्तित्व बना रहता है और वे अपना कार्य भी करती रहती हैं, परन्तु अनुच्छेद- 356 के तहत जब राष्ट्रपति किसी राज्य में संवैधानिक तन्त्र के विफलता की घोषणा करते हैं, तो संबंधित राज्य की विधान सभा निलंबित कर दी जाती है और कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ पूर्णतः या आंशिक रुप से राष्ट्रपति द्वारा ग्रहण कर ली जाती हैं।

अनुच्छेद- 356 के तहत संवैधानिक तन्त्र के विफलता की घोषणा की अधिकतम अवधि तीन वर्ष हो सकती है, जबकि अनुच्छेद- 352 के तहत लागू किया जाने वाला राष्ट्रीय आपातकाल को प्रत्येक छः माह के पश्चात संसद की स्वीकृति आवश्यक है। यह प्रक्रिया तब तक चल सकती है जब तक कि संसद स्वयं के संकल्प से समाप्त न कर दे।

3. **वित्तीय आपात काल-** अनुच्छेद- 360 में यह उपबंध किया गया है कि, यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाए कि भारत में या उसके किसी राज्य क्षेत्र में वित्तीय साख को खतरा उत्पन्न हो गया है तो वह वित्तीय संकट की घोषणा कर सकते हैं। वित्तीय आपात की उद्-घोषणा को भी राष्ट्रीय आपात के समान ही दो माह के अन्दर संसद की स्वीकृति आवश्यक है। यदि दो माह के पूर्व संसद के दोनों सदन अपनी स्वीकृति प्रदान कर दें तो, इसे अनिश्चित काल तक लागू किया जा सकता है, अन्यथा यह उद्-घोषणा दो माह की समाप्ति पर स्वतः ही समाप्त हो जाएगी। यदि इसी दौरान लोक सभा का विघटन हुआ है तो राज्य सभा की स्वीकृति आवश्यक है। परन्तु नवीन लोक सभा के प्रथम बैठक के तीस दिन के अन्दर लोक सभा की स्वीकृति आवश्यक है, अन्यथा घोषणा स्वतः ही निरस्त हो जाएगी।

- **वित्तीय आपात की घोषणा का प्रभाव-** संघ और राज्यों के किसी भी वर्ग के अधिकारियों के वेतन में कमी की जा सकती है। इस समय राष्ट्रपति न्यायाधीशों के वेतन में भी कटौती के आदेश दे सकता है। राज्य के समस्त वित्त विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए पेश किये जाने के निर्देश दिये जा सकते हैं। संघीय सरकार, राज्य की सरकार को शासन सम्बन्धी आवश्यक निर्देश दे सकती है। राष्ट्रपति द्वारा संघ और राज्यों के मध्य वित्तीय वितरण के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश दिये जा सकते हैं।

5.5 राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति

भारतीय संविधान में राष्ट्रपति को प्रदान की गयी व्यापक शक्तियों के आधार पर यह धारणा बनी कि राष्ट्रपति कुछ शक्तियों का प्रयोग मंत्री-परिषद के परामर्श के बिना भी कर सकते हैं, जो संसदात्मक व्यवस्था के परम्पराओं के विपरीत है। इसलिए इसके निवारण के लिए 42वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा अनुच्छेद- 74 के स्थान पर इस प्रकार के उपबन्ध किया गया।

राष्ट्रपति को सहायता और परामर्श देने के लिए प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में एक मंत्री-परिषद होगी और राष्ट्रपति अपने कार्यों के संपादन में मंत्री-परिषद के परामर्श के आधार पर कार्य करेगा। इस उपबन्ध से राष्ट्रपति के पद की गरिमा को आघात पहुँचा। इसलिए 44वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा निम्न उपबन्ध किये गये-

राष्ट्रपति को मंत्री-परिषद से जो परामर्श प्राप्त होगा उसके सम्बन्ध में राष्ट्रपति को यह अधिकार होगा कि वह मंत्री-परिषद को इस परामर्श पर पुनर्विचार करने के लिए कहे, लेकिन पुनर्विचार के बाद मंत्री-परिषद जो परामर्श देगी, राष्ट्रपति उसी परामर्श के अनुसार कार्य करेगा।

इस प्रकार राष्ट्रपति के सम्बन्ध में संवैधानिक स्थिति यह नियत करती है कि संसदीय शासन की भावना के अनुरुप राष्ट्रपति, राष्ट्र का संवैधानिक प्रधान है। किन्तु भारतीय राजनीति में उभरती हुई अनिश्चितता के दौर में राष्ट्रपति की भूमिका सक्रिय और अति महत्वपूर्ण होती जा रही है। राष्ट्रपति की इस सक्रियता और महत्ता का कारण, गठबन्धन की राजनीति और प्रधानमन्त्री पद की गरिमा में तेज गिरावट प्रमुख कारण है।

अभ्यास प्रश्न-

1. राष्ट्रपति के चुनाव में कौन-कौन भाग लेता है?
2. राष्ट्रपति का कार्य काल कितने वर्ष का होता है?
3. राष्ट्रपति पर महाभियोग किस अनुच्छेद के तहत लगाया जाता है?
4. उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति किस अनुच्छेद के तहत की जाती है?
5. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति किस अनुच्छेद के तहत की जाती है?
6. राष्ट्रपति राष्ट्रीय आपात की घोषणा किस अनुच्छेद के अनुसार करता है?
7. 1975 में राष्ट्रीय आपात की घोषणा किस आधार पर की गयी थी?
8. राष्ट्रपति का निर्वाचन प्रत्यक्ष चुनाव के द्वारा होता है। सत्य/असत्य
9. राष्ट्रपति के निर्वाचन में केवल लोक सभा और राज्य सभा के सदस्य भाग लेते हैं। सत्य/असत्य
10. राष्ट्रपति पर महाभियोग अनुच्छेद- 63 के तहत लगाया जाता है। सत्य/असत्य
11. राष्ट्रपति को शपथ राज्यपाल दिलाते हैं। सत्य/असत्य
12. राष्ट्रपति, राज्यपाल की सिफारिश से अनुच्छेद- 356 के तहत राष्ट्रीय आपात की घोषणा करते हैं। सत्य/असत्य

5.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से यह स्पष्ट से यह स्पष्ट हो गया है कि राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रधान होने के साथ ही साथ व्यवस्थापिका का अंग भी है, क्योंकि संसद के द्वारा पारित कोई भी विधेयक तभी कानून बनता है जब राष्ट्रपति उसे अपनी स्वीकृति देते हैं। इस प्रकार संसदीय शासन की जो प्रमुख विशेषता है, व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का मिश्रित स्वरुप, वह राष्ट्रपति के पद में स्पष्ट रुप से दिखाई देती है। भारत में संसदीय प्रणाली में राष्ट्रपति कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान है, किन्तु ब्रिटेन के सम्राट के समान वह रबर मुहर नहीं है। राष्ट्रपति को कुछ विवेकी शक्तियाँ प्राप्त हैं और कुछ स्थितियों में भारत के राष्ट्रपति ने बड़ी ही समझदारी से कार्य किया है। जब किसी दल को लोक सभा में बहुमत नहीं मिलता है तो राष्ट्रपति स्वविवेक से उसे सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करता है, जिसे वह समझे कि वह सदन में अपना बहुमत सिद्ध कर सकता है। इसके साथ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि 1984 में इन्दिरा गाँधी की हत्या के उपरान्त प्रधानमन्त्री का पद रिक्त न हो, राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने राजीव गाँधी को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया। किसी विधेयक को पुनर्विचार के लिए राष्ट्रपति के द्वारा लौटाया जाना भी अपने आप में गम्भीर विषय माना जाता है। इस प्रकार जैसा उपर उल्लेख किया गया है, राष्ट्रपति

कार्यपालिका का प्रधान होने के नाते व्यापक रुप से नियुक्तियाँ करने और पदच्युत करने का भी अधिकार है, साथ ही क्षमादान की महत्वपूर्ण शक्ति भी प्राप्त है। विधायन के क्षेत्र में जब संसद का सत्र न चल रहा हो तो राष्ट्रपति की अध्यादेश निकालने की शक्ति भी महत्वपूर्ण है । इस प्रकार से यह पद भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

5.7 शब्दावली

संसद- राष्ट्रपति + राज्य सभा + लोक सभा

औपचारिक प्रधान- जिसके नाम से समस्त कार्य किये जाते है, परन्तु वह स्वयं उन शक्तियों का प्रयोग न करता हो।

गणतन्त्र- राज्य का प्रधान निर्वाचित हों, वंशानुगत राजा नहीं।

कोटा- जीत के लिए आवश्यक न्यूनतम मत (समस्त का 51 प्रतिशत)

5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. लोक सभा, राज्य सभा और सभी राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य, **2.** 5 वर्ष, **3.** अनुच्छेद 61, **4.** अनुच्छेद 124, **5.** अनुच्छेद 217, **6.** अनुच्छेद 352, **7.** आन्तरिक अशान्ति, **8.** असत्य, **9.** असत्य, **10.** असत्य, **11.** असत्य, **12.** असत्य

5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 रूपा मंगलानी- भारतीय शासन एवं राजनीति (2009), राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
2. त्रिवेदी एवं राय- भारतीय सरकार एवं राजनीति।
3. महेन्द्र प्रताप सिंह- भारतीय शासन एवं राजनीति(2011), ओरियन्टल ब्लैक स्वान, नई दिल्ली।
4. भारतीय प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी(2011), लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

5.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारत का संविधान- ब्रज किशोर शर्मा (2008), प्रेन्टिस हाल ऑफ इंडिया, नई दिल्ली।
2. भारत में लोक प्रशासन- बी0एल0 फड़िया(2010), साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
3. The Constitution of India- J.C. Johari(2004) Sterling Publishers Private Limited, New Delhi

5.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रपति कार्यपालिका के औपचारिक प्रधान से अधिक है, स्पष्ट कीजिये।
2. राष्ट्रपति के चुनाव प्रक्रिया की विवेचना कीजिये।
3. राष्ट्रपति के आपातकालीन शक्तियों की समीक्षा कीजिये।

इकाई- 6 प्रधानमन्त्री

इकाई की संरचना

6.0 प्रस्तावना
6.1 उद्देश्य
6.2 प्रधानमन्त्री
    6.2.1 प्रधानमन्त्री की नियुक्ति
    6.2.2 प्रधानमन्त्री और मंत्रिमण्डल के बीच सम्बन्ध
    6.2.3 प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति के बीच सम्बन्ध
    6.2.4 प्रधानमन्त्री और संसद के बीच सम्बन्ध
6.3 सारांश
6.4 शब्दावली
6.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
6.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
6.8 निबंधात्मक प्रश्न

6.0 प्रस्तावना

पिछली इकाई में भारतीय प्रशासन में राष्ट्रपति की स्थिति के बारे में अध्ययन किया है और पाया कि भारत का राष्ट्रपति ब्रिटेन के सम्राट से अधिक शक्तिशाली और महत्वपूर्ण स्थिति में है, क्योंकि एक तरफ वह राष्ट्र की एकता और गरिमा का प्रतीक है तो उसे कुछ स्वविवेकि शाक्तियाँ प्रदान कर राजव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थिति प्रदान की गयी है।

इस इकाई में हम देखेंगे कि राष्ट्रपति के नाम से जिन शक्तियों का प्रयोग मंत्री-परिषद करती है, उसका प्रधान, प्रधानमन्त्री होता है। प्रधानमन्त्री का पद हमारे देश में संसदीय शासन प्रणाली होने के नाते बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि लोक सभा में बहुमत प्राप्त दल का नेता होने के नाते इस कारण से सदन का नेता होने के कारण और अन्ततः दलीय अनुशासन के कारण से शासन व्यवस्था को नेतृत्व प्रदान करता है। किन्तु यही शक्तिशाली प्रधानमंन्त्री की स्थिति, गठबंधन सरकार होने पर अत्यन्त कमजोर हो जाती है, फिर भी वह केन्द्रीय सत्ता की धुरी होता है।

6.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- जान सकेंगे कि संसदीय शासन में प्रधानमन्त्री कितना महत्वपूर्ण है।
- सरकार के गठन में प्रधानमन्त्री की महत्वपूर्ण भूमिका के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- प्रधानमन्त्री निम्न सदन (लोक सभा) का नेता भी होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।

- प्रधानमन्त्री अपने दल का अत्यधिक प्रभावशाली होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- मंत्री-परिषद के विघटन की भी प्रधानमन्त्री की महत्व पूर्ण शक्ति होती है, इस सम्बन्ध में जान सकेंगे।

6.2 प्रधानमन्त्री

भारत में संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। इस शासन में प्रधानमन्त्री का पद, शासन व्यवस्था का केन्द्र-बिन्दु होता है। इसमें नाममात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका में भेद पाया जाता है। नाममात्र की कार्यपालिका राष्ट्रपति होता है और वास्तविक कार्यपालिका मंत्री-परिषद होती है, जिसका नेतृत्व प्रधानमन्त्री करता है। राष्ट्रपति के नाम से समस्त कार्यपालिका शक्तियों प्रयोग, प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में मंत्री-परिषद करती है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 74(1) के अनुसार राष्ट्रपति को अपने कार्यों में सहायता तथा मन्त्रणा के लिए एक मंत्रिमण्डल होगा, जिसका प्रधान, प्रधानमन्त्री होगा। इसके आगे अनुच्छेद- 75(1) में कहा गया है कि, प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री के परामर्श पर करेगा। संसदीय लोकतन्त्र की परम्परा के अनुसार राष्ट्रपति लोक सभा में बहुमत प्राप्त दल के नेता को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हमारे संविधान में ऐसा कोई उपबन्ध नहीं है कि राष्ट्रपति बहुमत दल के नेता को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त करने को बाध्य हो।

अनुच्छेद- 75(5) के अनुसार के कोई भी व्यक्ति संसद का सदस्य हुए बिना छः माह तक मन्त्री पद पर रह सकता है। साथ ही यह भी आवश्यक नहीं है कि प्रधानमन्त्री का नियुक्ति निम्न सदन (लोक सभा) से ही हो। उदाहरण स्वरुप- इन्दिरा गान्धी को जब पहली बार 1966 प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया गया तो उस समय वे उच्च सदन (राज्य सभा) की सदस्य थीं। ब्रिटेन की संसदीय परम्पराओं के अनुसार प्रधानमन्त्री की नियुक्ति में राष्ट्रपति ने कभी अपने विवेक का प्रयोग नहीं किया बल्कि बहुमत प्राप्त दल के नेता, किसी दल को बहुमत न मिलने की स्थिति में सबसे बड़े दल के नेता को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया।

संविधान के उपबन्धों और गत 64 वर्ष के व्यावहारिक अनुभवों से प्रधानमन्त्री के पद और स्थिति की जानकारी के लिए निम्नलिखित बिन्दुओं पर विस्तृत विचार करना आवश्यक है -

6.2.1 प्रधानमन्त्री की नियुक्ति

इस बात का उल्लेख ऊपर कर चुके हैं कि संसदीय परम्परा के अनुरुप राष्ट्रपति लोक सभा में बहुमत प्राप्त दल के नेता को, प्रधानमन्त्री नियुक्त करता है। 1946 की अन्तरिम सरकार में जवाहर लाल नेहरु को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया गया। 1952, 1957 और 1962 के लोक सभा के आम चुनाव में कांग्रेस को सफलता मिली और नेहरु जी को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया जाता रहा। 1964 में इनकी मृत्यु के उपरान्त कांग्रेस के वरिष्ठतम सदस्य गुलजारी लाल नन्दा को अस्थायी रुप से प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया गया। इसके पश्चात कांग्रेस अध्यक्ष कामराज की कुशलता से लाल बहादुर शास्त्री को स्थायी प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया गया।

1966 में शास्त्री जी की आकस्मिक मृत्यु के उपरान्त एक बार पुनः नेता के चुनाव के प्रश्न पर मतभेद उभरा, क्योंकि काग्रेस अध्यक्ष कामराज इन्दिरा गाँधी को चाहते थे, जबकि कांग्रेस के वरिष्ठतम सदस्य मोरारजी देसाई भी दावेदारी कर रहे थे। फलस्वरुप दल के चुनाव में श्रीमती गाँधी 169 के मुकाबले 355 मतों से विजयी रहीं। दल में इस विभाजन के कारण 1967 के चुनाव में कुछ राज्यों में भारी पराजय का सामना करना पड़ा। कांग्रेस, लोक सभा

के 1962 के चुनाव में 361 स्थानों पर विजयी हुई थी, जबकि 1967 में यह संख्या घटकर 283 हो गयी। 1967 के चुनाव के उपरान्त इन्दिरा गाँधी सर्वसम्मति से प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त की गयी। दूसरे गुट के सदस्य मोरारजी देसाई को उप-प्रधानमन्त्री और गृहमन्त्री के पद पर नियुक्त किया गया। फिर भी मोरारजी देसाई को असन्तोष था और उन्होंनें इन्दिरा गाँधी के प्रगतिशील आर्थिक नीतियों का, जैसे- बैंकों के राष्ट्रीयकरण का विरोध किया। 1969 के राष्ट्रपति के चुनाव में तो यह विरोध और भी मुखर होकर सामने आ गया। कांग्रेस के अधिकृत उम्मीदवार नीलम संजीव रेड्डी के खिलाफ श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने निर्दलीय प्रत्याशी वी0वी0 गिरी को राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित करवाया, फलस्वरुप कांग्रेस का विभाजन हो गया। इन्दिरा गुट अल्पमत में आ गयी। प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी की सिफारिश पर राष्ट्रपति ने लोक सभा का विघटन कर दिया। 1971 के पूर्वार्द्ध में लोक सभा के प्रथम मध्यावधि चुनाव हुए। इन्दिरा गुट को भारी सफलता प्राप्त हुई और राष्ट्रपति ने इन्दिरा गाँधी को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया। इस सफलता ने श्रीमती गाँधी को एक शक्तिशाली नेता के रुप में राजनीतिक मंच पर स्थापित कर दिया।

इन्दिरा गाँधी की चुनावी सफलता और समाजवाद के चमत्कारिक नारे ने उनके प्रभाव में ऐसी बृद्धि की कि कांग्रेस के सर्वमान्य नेता के रुप में स्थापित हुई। 1977 के लोक सभा चुनाव में कांग्रेस की पराजय हुई और जनता पार्टी को सफलता मिली। मोरारजी देसाई को, राष्ट्रपति ने, प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया।

जनता पार्टी के सरकार बनाने के समय से ही उसके विभिन्न घटक दलों में मतभेद थे, जो 1977 तक बहुत बढ गये। इस स्थिति को देखते हुए जुलाई 1977 में विपक्ष अविश्वास प्रस्ताव ले आया और मोरारजी देसाई ने बिना सामना किये ही प्रधानमन्त्री पद से त्यागपत्र दे दिया। इसके पश्चात सरकार बनाने की विभिन्न संभावनाओं पर विचार करते हुए. चौधरी चरण सिंह को तीन महीने में बहुमत सिद्ध करने की शर्त के साथ सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया। परन्तु कांग्रेस पार्टी ने चरण सिंह से अपना समर्थन वापस ले लिया। यह समर्थन चरण सिंह द्वारा लोक सभा में बहुमत सिद्ध करने की तिथि के पहले ही ले लिया गया, परिणामस्वरुप चौधरी चरण सिंह ने लोक सभा का सामना किये बिना ही त्यागपत्र देते हुए राष्ट्रपति से लोक सभा विघटित करने की सिफारिश की। तत्कालीन राष्ट्रपति ने लोक सभा का विघटन करते हुए. चौधरी चरण सिंह को कार्यवाहक प्रधानमन्त्री के रुप में रहने दिया।

1980 के लोक सभा चुनाव में कांग्रेस पार्टी को एक बार पुनः आश्चर्यजनक सफलता मिली और श्रीमती गाँधी एक बार पुनः प्रभावशाली प्रधानमन्त्री के रुप में स्थापित हुई। किन्तु श्रीमती गाँधी की दुर्भाग्यपूर्ण हत्या(31 अक्टूबर 1984) हो गयी। तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने कांग्रेस संसदीय बोर्ड की सिफारिश पर राजीव गाँधी को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया। चूँकि श्रीमती गाँधी की हत्या के कारण राजीव गाँधी के साथ जनता की बहुत सहानुभूति थी, इसलिए 1984 के लोक सभा चुनाव में कांग्रेस को अब तक सर्वाधिक सीटें प्राप्त हुई। इस सफलता के केन्द्र में राजीव गाँधी थे, इसलिए राजीव गाँधी का प्रधानमन्त्री बनना तय था। भारतीय राजव्यवस्था और प्रधानमन्त्री पद के लिए 1989 का लोक सभा चुनाव एक विभाजक चुनाव था। इस चुनाव ने एकदलीय प्रभुत्व का अन्त किया क्योंकि किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। जनता दल के वी0पी0 सिंह भाजपा सहित अन्य दलों के समर्थन से प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किये गये, किन्तु नवम्बर 1990 में भाजपा के समर्थन वापस लेने की वजह से वी0पी0 सिंह सरकार का पतन हो गया। वी0पी0 सिंह सरकार के पतन के साथ ही जनता दल का विभाजन हो गया। चन्द्रशेखर सिंह ने कांग्रेस के समर्थन से प्रधानमन्त्री पद प्राप्त किया। कांग्रेस के समर्थन वापस लेने

कारण चन्द्रशेखर सरकार का भी अल्पायु में ही, जून1991 में पतन हो गया। 1991 के लोक सभा चुनाव में कांग्रेस सबसे बड़े दल के रुप में उभरी। मई 1991 राजीव गाँधी की हत्या हो गयी। इस राजनीतिक वातावरण में पी0वी0 नरसिंहराव को राष्ट्रपति ने प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया।

1996 के लोक सभा चुनाव में भी किसी दल को बहुमत नहीं मिला। 13 दलों का सहयोग प्राप्त कर भाजपा के अटलबिहारी वाजपेयी को राष्ट्रपति ने प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया, किन्तु इस सरकार का कार्यकाल मात्र तेरह दिन ही रहा। इसके पश्चात एच0डी0 देवगौड़ा और इन्द्र कुमार गुजराल की कांग्रेस समर्थित सरकारें बनीं जो, अल्पकालिक ही रहीं। 1998 के लोक सभा चुनाव में के पश्चात भाजपा और उसके सहयोगी दलों के नेता अटल विहारी वाजपेयी पुनः प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त हुए। किन्तु यह सरकार भी स्थायी नहीं रही और पुनः 1999 में लोक सभा के चुनाव में किसी भी दल को बहुमत नहीं प्राप्त हुआ। अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में भाजपा सहित पन्द्रह दलों की गठबंधन सरकार का गठन किया गया। इस गठबंधन सरकार में मंत्री- मण्डल के सदस्यों का चयन प्रधानमन्त्री की इच्छा पर निर्भर न होकर, घटक दलों की इच्छा और उनकी सौदेबाजी की स्थिति पर आधारित था।

इसी प्रकार 2004 के लोक सभा चुनाव में कांग्रेस के नेतृत्व में ग्यारह दलों के औपचारिक समर्थन और आठ दलों के बाहर से समर्थन से गठबंधन सरकार का गठन हुआ। इस सरकार ने अपना कार्यकाल पूरा किया। 2009 के 15वीं लोक सभा चुनाव में पुनः कांग्रेस के नेतृत्व में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन की सरकार का गठन हुआ। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि गठबंधन सरकार में मंत्री-परिषद के गठन में प्रधानमन्त्री पूरी तरह से स्वतंत्र नहीं होते हैं, क्योंकि क्षेत्रीय दल, सरकार को समर्थन अपने हितों की सिद्धि के लिए करते हैं। ऐसे सौदेबाजी के वातावरण में प्रधानमन्त्री की स्थिति बहुत मजबूत एवं निर्णायक नहीं हो सकती।

किन्तु 2014 में 16वीं लोक सभा के चुनाव में भारतीय जनता पार्टी ने पूर्ण बहुमत की सरकार बनायी। चुनाव तो भाजपा ने लड़ा गठबंधन के साथ, लेकिन भाजपा ने 282 लोकसभा सीटें जीतकर बहुमत प्राप्त किया परन्तु गठबंधन को साथ लेते हुए गठबंधन के सहयोगियों को भी सरकार में स्थान दिया। गठबंधन की सरकार हाते हुए भी भाजपा की सरकार ने कई बड़े और स्वतंत्र फैसले लिए। यही स्थिति 2019 के 17वीं लोक सभा के चुनावों में हुआ, भाजपा की गठबंधन की सरकार दोबारा जीत गयी और अकेले भाजपा को 303 लोकसभा सीटें मिली। अपने इस पांच साल के कार्यकाल में भी भाजपा की सरकार ने कई बड़े फैसले लिए। परन्तु 2024 के 18वीं लोक सभा के चुनावों में भाजपा गठबंधन चुनाव तो जीता पर भाजपा को अकेले बहुमत प्राप्त नहीं हुआ और एक पूर्ण विशुद्ध गठबंधन की सरकार बनी। अब यह देखना दिलचस्प होगा कि भाजपा कितने स्वतंत्र फैसले ले पाती है और गठबंधन की सरकार पूरे पांच साल चला पाती है या नहीं।

6.2.2 प्रधानमन्त्री और मंत्रिमण्डल के बीच सम्बन्ध

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 75(1) के अनुसार राष्ट्रपति मंत्रियों की नियुक्ति प्रधानमन्त्री की मंत्रणा से करता है। भारत में भी इग्लैण्ड के समान संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। संसदीय परम्परा का अनुसरण करते हुए भारत में भी मंत्री पद का चयन प्रधानमन्त्री करते हैं, राष्ट्रपति की स्वीकृति एक औपचारिकता होती है। प्रधानमन्त्री मंत्रियों के चयन में उस समय शक्तिशाली होता था और उसके निर्णय निर्णायक भी होते थे, जब एक दल बहुमत के आधार पर सरकार का गठन करता था। किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में स्थिति काफी हद तक बदल गयी है, क्योंकि

किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिल पा रहा है। सरकार के गठन और उसकी स्थिरता के लिए, विभिन्न क्षेत्रीय दलों के सहयोग की आवश्यकता होती है। ये क्षेत्रीय दल सहयेाग के बदले में मंत्री पद प्राप्त करने की सौदेबाजी करते हैं। मंत्रियों को विभागों का बंटवारा भी प्रधानमन्त्री का विवेकाधिकार होता है, परन्तु मंत्री-परिषद का गठन करते समय उन्हें जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र तथा सहयोगी क्षेत्रीय दलों की निम्न सदन (लोक सभा) में सफल सदस्यों की सख्या को महत्व देना पड़ता है।

6.2.3 प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति के बीच सम्बन्ध

भारतीय प्रशासन में प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति के बीच का सम्बन्ध अति महत्वपूर्ण है, क्योंकि भारत में संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। संसदीय शासन प्रणाली में राष्ट्रपति नाममात्र की कार्यपालिका होता हैं, जिनके नाम से सभी कार्य किये जाते हैं। जबकि मंत्री-परिषद वास्तविक कार्यपालिका होती है। प्रधानमन्त्री, मंत्री-परिषद को नेतृत्व प्रदान करते हैं। मूल संविधान में यह उपबन्ध था कि राष्ट्रपति, मंत्री-परिषद के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं थे, किन्तु 42वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा यह उपबन्ध किया गया कि राष्ट्रपति, मंत्री-परिषद की सिफारिस मानने के लिए बाध्य है। 44वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा पुनः पूर्व स्थिति को बहाल कर दिया गया।
राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री के बीच सम्बन्ध मुख्यतः दो बातों पर निर्भर करता है, पहला- राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री के बीच का दलीय सम्बन्ध, यदि दोनों एक ही दल के हैं तो दलीय अनुशासन के कारण, सम्बन्ध सामान्य बने रहेंगे। जैसा कि1977 तक स्पष्ट रुप से दिखाई देता है। दूसरा- राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री का व्यक्तित्व और उनके राजनीतिक प्रभाव भी दोनों के बीच के सम्बन्ध को प्रभावित करते हैं। यदि राष्ट्रपति के चुनाव में प्रधानमन्त्री की भूमिका है तो दोनों के बीच के सम्बन्ध काफी हद तक सामान्य रहे हैं। जैसा कि जाकिर हुसैन, वी0वी0 गिरि, फखरुद्दीन अली अहमद और ज्ञानी जैल सिंह के मामले में हुआ है। किन्तु 31अक्टूबर 1984 को श्रीमती इन्दिरा गाँधी की हत्या हो गयी। इसके पश्चात राजीव गाँधी को राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया। 1986 तक तो सम्बन्ध अच्छे रहे, किन्तु 1987 के प्रारम्भ से दोनों के बीच के संबंधों में कड़वाहट शुरु हुई और ऐसा लगने लगा कि राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह, प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी को पद से हटाकर लोक सभा का विघटन कर देंगे। संविधान लागू होने के पश्चात ऐसा सर्वप्रथम हुआ कि एक ही दल का होने के बावजूद राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री में गम्भीर मतभेद उभर कर सामने आये।

6.2.4 प्रधानमन्त्री और संसद के बीच सम्बन्ध

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं कि भारत में संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। भारत में प्रधानमन्त्री की नियुक्ति निम्न सदन में बहुमत प्राप्त दल की जाती है। यद्यपि उच्च सदन से प्रधानमन्त्री की नियुक्ति को लेकर कोई कानूनी बन्धन नहीं हैं। हमारे देश में सर्वप्रथम 1966 में श्रीमती इन्दिरा गाँधी को राज्य सभा के सदस्य के रुप में प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया गया। इसके पश्चात प्रधानमन्त्री डॉ0 मनमोहन सिंह भी राज्य सभा सदस्य रहे।
प्रधानमन्त्री लोक सभा में बहुमत प्राप्त दल का नेता होता है, इसलिए सदन का भी नेता होता है। सदन का नेता होने के नाते विपक्ष के अधिकारों के रक्षा की और सदन की कार्यवाही में उनकी भागीदारी हेतु अवसर प्रदान करेंगे। इस हेतु वे विपक्ष से परामर्श करते हैं और उनकी शिकायतों का निराकरण करने का प्रयत्न भी करते हैं।
भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 75(3) के अनुसार मंत्रिमण्डल सामूहिक रुप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होता है। इसका तात्पर्य यह है कि मंत्रिमण्डल का अस्तित्व तभी तक है जब तक कि उसे लोक सभा के बहुमत का

समर्थन प्राप्त है। किन्तु व्यावहारिक स्थिति कुछ और ही है, क्योंकि दलीय अनुशासन के कारण, लोक सभा में बहुमत प्राप्त राजनीतिक दल, मंत्रिमण्डल के विरुद्ध नहीं जा पाता है। संसदीय परम्परा के अनुसार प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति से सिफारिश करके लोक सभा का विघटन करवा सकता है। इस अधिकार के कारण प्रधानमन्त्री लोक सभा को नियंत्रित करने में काफी हद तक सफल रहता है। प्रथम लोक सभा के गठन से आज तक 59 वर्षों में कई बार लोक सभा का विघटन समय से पूर्व करते हुए मध्यावधि चुनाव कराये गये।

किस प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर राष्ट्रपति ने विघटन किया-

श्रीमती इन्दिरा गाँधी	1970
श्रीमती इन्दिरा गाँधी	1977
चौधरी चरण सिंह	1979
राजीव गाँधी	1984
चन्द्रशेखर सिंह	1991
अटल बिहारी वाजपेयी	1998
अटल बिहारी वाजपेयी	1999

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जब किसी एक दल को निरपेक्ष बहुमत रहा है तो लोक सभा पर प्रधानमन्त्री का नियंत्रण बहुत ही प्रभावशाली रहा है। परन्तु जब गठबंधन सरकारें रहीं हैं(जैसे 1977,1989,1991, 1996, 1998, 1999, 2004 और 2009 में) तब लोक सभा पर नियंत्रण की बात तो दूर की रही, वे स्वयं ही अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करते हुए दिखाई देते रहे थे।

अभ्यास प्रश्न-

1. प्रधानमन्त्री की नियुक्ति की जाती है या निर्वाचित होता है?
2. निम्न सदन का नेता कौन होता है?
3. प्रधानमन्त्री की नियुक्ति कौन करता है?
4. भारत की प्रथम प्रधानमन्त्री जो राज्य सभा सदस्य थीं?
5. कोई मंत्री बिना संसद सदस्य रहे कितने माह मंत्री रह सकता है?

6.3 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम संसदीय शासन में प्रधानमन्त्री की नियुक्ति हेतु अपनायी जाने वाली प्रक्रिया के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त हुई। साथ ही यह भी देखा की किस प्रकार से प्रधानमन्त्री इस शासन व्यवस्था में बहुत ही शक्तिशाली होकर उभरता है। यहाँ यह भी देखने को मिला कि प्रधानमन्त्री मंत्री-परिषद और राष्ट्रपति के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य करता है और समय- समय पर मंत्री-परिषद द्वारा लिए गये निर्णयों की जानकारी भी राष्ट्रपति को देता है।

उपरोक्त अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो गया कि किस प्रकार से इस शासन व्यस्था में सम्पूर्ण शासन व्यस्था के केन्द्र में प्रधानमन्त्री होता है।

6.4 शब्दावली

मंत्री-परिषद - मंत्रीमण्डल, राज्यमंत्री, उप-मंत्री
निम्न सदन- लोक सभा को कहते हैं।
उच्च सदन- राज्य सभा को कहते हैं।

6.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. नियुक्ति, **2.** प्रधानमन्त्री **3.** राष्ट्रपति **4.** श्रीमती इन्दिरा गाँधी **5.** छः माह

6.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय शासन एवं राजनीति- डॉ रूपा मंगलानी।
2. भारतीय सरकार एवं राजनीति- त्रिवेदी एवं राय।
3. भारतीय शासन एवं राजनीति- महेन्द्र प्रताप सिंह।

6.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान - ब्रज किशोर शर्मा।
2. भारतीय लोक प्रशासन- बी0एल0 फाड़िया।

6.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारत के प्रधानमन्त्री की पद एवं स्थिति की विवेचना कीजिये।
2. प्रधानमन्त्री की सदन के नेता और सरकार के मुखिया के रूप में महत्व की व्याख्या कीजिये।
3. गठबन्धन सरकारों के युग में प्रधानमन्त्री कमजोर हुआ है या मजबूत, समीक्षा कीजिये।

इकाई- 7 संसद- लोक सभा और राज्य सभा

इकाई की संरचना

7.0 प्रस्तावना
7.1 उद्देश्य
7.2 भारतीय संसद
7.3 संसद का संगठन
7.4 राज्य सभा
    7.4.1 अवधि
    7.4.2 योग्यता
    7.4.3 पदाधिकारी
7.4.4 राज्य सभा के कार्य एवं शक्तियाँ
    7.4.5 राज्य सभा के विशेषाधिकार
7.5 लोक सभा
    7.5.1 योग्यता
    7.5.2 कार्यकाल
    7.5.3 संरचना
    7.5.4 निर्वाचन
    7.5.5 कार्यकाल
    7.5.6 अधिवेशन
    7.5.7 पदाधिकारी
    7.5.8 अध्यक्ष को पद से हटाया जाना
    7.5.9 लोक सभा की शक्तियाँ
7.6 संसद की शक्तियाँ
7.7 सारांश
7.8 शब्दावली
7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
7.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
7.12 निबंधात्मक प्रश्न

7.0 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने यह अध्ययन किया है कि राष्ट्रपति के नाम से जिन शक्तियों का प्रयोग मंत्री-परिषद करती है। उस मंत्री-परिषद का प्रधान प्रधानमन्त्री होता है। प्रधानमन्त्री का पद हमारे देश में संसदीय शासन प्रणाली होने के नाते बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि लोक सभा में बहुमत प्राप्त दल का नेता होने के नाते इस कारण से सदन

का नेता होने के कारण और अन्ततः दलीय अनुशासन के कारण से शासन व्यवस्था को नेतृत्व प्रदान करता है। किन्तु यही शक्तिशाली प्रधानमन्त्री की स्थिति, गठबंधन सरकार होने पर अत्यन्त कमजोर हो जाती है फिर भी वह केन्द्रीय सत्ता की धुरी होता है।

इस इकाई में हम संसद के संगठन, कार्यों और शक्तियों का अध्ययन करेंगे। जिसमें हम यह अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार से राष्ट्रपति संसद का अंग है और उसके पद में संसदीय शासन की प्रमुख विशेषता का समावेश किया गया है। क्योंकि संसदीय शासन की मुख्य विशेषता, व्यस्थापिका और कार्यपालिका का मिश्रित स्वरूप है, क्योंकि कार्यपालिका के सभी सदस्यों के लिए व्यवस्थापिका का सदस्य होना अनिवार्य होता है और राष्ट्रपति के पद में ये दोनों विशेषताऐं पायी जाती हैं, क्योंकि एक तरफ वह कार्यपालिका का प्रमुख होता है तो दूसरी तरफ वह संसद का अंग होता है और कोई भी विधेयक तब तक कानून का रूप नहीं लेता है, जब तक कि उसे राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति नहीं प्रदान कर देता है।

इसके साथ ही साथ हम यह भी अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार कानून निर्माण में राज्य सभा को, लोक सभा के सामान शक्तियाँ न होते हुए भी वह महत्वपूर्ण है।

7.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- संसद के संगठन के सम्बन्ध में जान सकेंगे।
- राज्य सभा की शक्तियों को जान सकेंगे।
- लोक सभा की शक्तियों को जान सकेंगे।
- अंततःकानून निर्माण में लोक सभा के सापेक्ष राज्य सभा की शक्तियों को जान सकेंगे।

7.2 भारतीय संसद

जैसा कि हम पहले की इकाइयों में स्पष्ट कर चुके हैं कि ब्रिटेन का अनुसरण करते हुए हमारे देश में भी संविधान के द्वारा संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गयी है। यह संसदीय प्रणाली संघ और राज्य दोनों ही स्तरों पर अपनायी गयी है। संघीय स्तर के विधान निमात्री संस्था को संसद कहते हैं। राज्य स्तर पर विधान निर्मात्री संस्था को हम विधानमंडल कहते हैं। प्रस्तुत इकाई में सघीय विधायिनी संस्था संसद का ही अध्ययन करेंगे।

संसद का गठन द्विसदनीय सिद्धान्त के आधार पर किया गया है, पहला- उच्च सदन, राज्य सभा और दूसरा- निम्न सदन, लोक सभा (जनप्रतिनिधि सदन)। यहाँ पर यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि यहीं दोनों सदन मिलकर ही संसद का गठन नहीं करते हैं बल्कि लोक सभा, राज्य सभा और राष्ट्रपति से मिलकर संसद बनती है। चूंकि संसद का मुख्य कार्य कानून निर्माण है और कोई भी विधेयक तब तक कानून का रुप नहीं ग्रहण करता है, जब तक कि उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति नहीं मिल जाती है। इसलिए राष्ट्रपति संसद का महत्वपूर्ण अंग है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 79 में स्पष्ट रुप से उल्लिखित है कि संघ के लिए एक संसद होगी जो राष्ट्रपति और दोनों सदनों से मिलकर बनेगी, जिनके नाम क्रमशः राज्य सभा और लोक सभा होंगे।

भारतीय संसद के संगठन और उसके कार्यों आदि के सम्बन्ध में भारतीय संविधान के भाग-5 के अध्याय- 2 में अनुच्छेद- 79 से 122 तक प्रावधान किया गया है।

यद्यपि हमने ब्रिटेन का अनुसरण करते हुए संसदीय शासन प्रणाली अपनायी है, परन्तु भारतीय संसद ब्रिटेन की संसद के समान सर्वशक्तिमान नहीं है, क्योंकि उसके सम्बन्ध में एक कहावत प्रचलित है कि वह स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री बनाने के सिवाय सब कुछ कर सकती है।

7.3 संसद का संगठन

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 79 के अनुसार संघ के लिए संसद होगी, जो राष्ट्रपति और दोनों सदनों से मिलकर बनेगी। संसद के अंग- राष्ट्रपति, राज्य सभा और लोक सभा हैं।

राष्ट्रपति संसद का अंग है, जिसकी स्वीकृति के बिना कोई भी विधेयक कानून का रुप नहीं ले सकता है। राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मंडल द्वारा पांच वर्ष के लिए किया जाता है। निर्वाचक मंडल में संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य, सभी राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य हैं। राष्ट्रपति का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति से एकल संक्रमणीय मत पद्धति के द्वारा किया जाता है। समय से पूर्व वह उपराष्ट्रपति को त्यागपत्र दे सकता है या साबित कदाचार या संविधान के उल्लंघन के आरोप में महाभियोग की प्रक्रिया द्वारा पद से हटाया जा सकता है। जिसका उल्लेख संविधान के अनुच्छे- 61 में किया गया है।

7.4 राज्य सभा

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 80 के अनुसार राज्य सभा संसद का उच्च सदन है, जिसकी सदस्य संख्या अधिकतम 250 हो सकती है। (यद्यपि वर्तमान समय में इसमें सदस्य संख्या 245 है।)

250 में से 238 सदस्य राज्यों और संघ-राज्य क्षेत्र से होंगे, जबकि 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत होंगे जो साहित्य, कला, विज्ञान, समाज सेवा के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त व्यक्तित्व होंगे। इस उपबन्ध को रखने के पीछे संविधान निर्माताओं की मंशा यह थी कि सदन को समाज के योग्य और अनुभवी लोगों के अनुभव का लाभ प्राप्त हो सके।

भारतीय संविधान की चौथी अनुसूची में राज्य और संघशासित क्षेत्रों से प्रतिनिधियों की 233 संख्या का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार से 233+12 = (राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत) कुल 245 सदस्य राज्य सभा में है। राज्य और संघ-राज्य क्षेत्र में राज्य सभा का प्रतिनिधित्व इस प्रकार है-

राज्य/ संघ राज्य क्षेत्र	स्थानों की संख्या	राज्य/ संघ राज्य क्षेत्र	स्थानों की संख्या
आन्ध्र प्रदेश	10	उत्तर प्रदेश	31
असम	7	उत्तराखंड	3
बिहार	16	पश्चिम बंगाल	16
जम्मू कश्मीर	4	झारखंड	6
गोवा	1	नागालैण्ड	1
गुजरात	11	हिमांचल प्रदेश	3
हरियाणा	5	मणिपुर	1
केरल	9	त्रिपुरा	1

मध्यप्रदेश	11	मेघालय	1
छत्तीसगढ़	5	सिक्किम	1
तमिलनाडु	18	मिजोरम	1
महाराष्ट्र	19	अरूणाचंल प्रदेश	1
कर्नाटक	12	दिल्ली	3
उड़ीसा	10	पाण्डिचेरी	1
पंजाब	7	राजस्थान	10

राज्य सभा स्थायी सदन है। इसके सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रुप से एक निर्वाचक मंडल के द्वारा किया जाता है। राज्यों के प्रतिनिधियों का चुनाव राज्य विधान सभा के सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति से एकल संक्रमणीय मत पद्धति द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार किया जाता है। यहाँ हम यह बताते चलें कि संघ शासित क्षेत्रों में केवल दिल्ली और पोंडेचेरी को ही राज्य सभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त है।

यद्यपि हमारे देश में संघात्मक शासन प्रणाली अपनायी गयी है, जिसमें उच्च सदन में राज्यों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है, चाहे वे राज्य छोटे हो या बड़े हों। अमेरिका में 50 राज्य हैं, सभी राज्यों से उच्च सदन (सीनेट) में दो प्रतिनिधि भेजे जाते हैं। इस प्रकार कुल 100 सदस्य होते हैं, जबकि हमारे यहाँ उच्च सदन (राज्य सभा) में राज्यों को समान प्रतिनिधित्व न प्रदान कर जनसंख्या के आधार पर प्रदान किया गया है।

7.4.1 अवधि

राज्य सभा एक स्थायी सदन है, जिसका कभी विघटन नहीं होता है। किन्तु इसके एक तिहाई सदस्य दो वर्ष की समाप्ति पर सेवानिवृत्त हो जाते हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि सदन स्थायी है और इसके सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष का होता है।

7.4.2 योग्यता

राज्य सभा की सदस्यता के लिए निम्नलिखित योग्यताऐं अपेक्षित है-

1. वह भारत का नागरिक हो,
2. उसकी आयु 30 वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका हो,
3. वह किसी लाभ के पद पर न हो,
4. वह पागल या दिवालिया न हो,
5. भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 102 में स्पष्ट उल्लेख है कि संघ अथवा राज्य के मंत्री पद लाभ के पद नहीं समझे जाऐंगे।

राज्य सभा के सन्दर्भ में दो पक्ष बहुत ही महत्वपूर्ण हैं, पहला- राज्य सभा के लिए वह देश के किसी भी प्रदेश का हो, किसी भी प्रदेश में लड़ सकता है और दूसरा- राज्य सभा के लिए मतदान खुला और पारदर्शी होगा।

7.4.3 पदाधिकारी

राज्य सभा में एक सभापति और एक उप-सभापति होता है। उप-राष्ट्रपति ही राज्य सभा के सभापति होते है। अनुच्छेद- 89 और राज्य सभा अपने सदस्यों में से ही उप-सभापति का चुनाव करती है। उप-सभापति, सभापति की अनुपस्थिति में सभापति के रुप में कार्य करते हैं।

(अनुच्छेद 91 के अनुसार) सभापति और उप-सभापति को वेतन भारत के संचित निधि से प्रदान किया जाता है। राज्य सभा की गणपूर्ति सदन के सम्पूर्ण सदस्यों की संख्या का 10 प्रतिशत। चूंकि वर्तमान में 245 सदस्य हैं, इसलिए इसकी गणपूर्ति संख्या 25 है।

राज्य सभा के सभापति को सदन को सुचारु संचालन हेतु व्यापक अधिकार प्राप्त होते हैं। जब सभापति और उप-सभापति दोनों अनुपस्थित हों तो राज्य सभा के सभापति के कार्यों का निर्वहन राज्य सभा का वह सदस्य करेगा, जिसे राष्ट्रपति नामित करेगा।

7.4.4 राज्य सभा के कार्य एवं शक्तियाँ

राज्य सभा के कार्य एवं शक्तियाँ निम्नलिखित हैं-

1. **विधायी शक्तियाँ-** राज्य सभा, लोक सभा के साथ मिलकर कानून निर्माण का कार्य करती है। साधारण विधेयकों(अवित्तीय विधेयकों) के सम्बन्ध में राज्य सभा को लोक सभा के समान शक्तियाँ प्राप्त हैं। साधारण विधेयक दोनों सदनों में से किसी में भी पहले पेश किया जा सकता है। दोनों सदनों द्वारा पारित होने के पश्चात राष्ट्रपति के पास उनकी स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। यद्यपि अधिकांश विधेयकों को लोक सभा में ही पहले प्रस्तुत किया जाता है। यदि विधेयक एक सदन द्वारा स्वीकार कर लिया जाए और दूसरा सदन छ: माह तक अपनी स्वीकृति नहीं देता है, तो राष्ट्रपति दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन आहूत करता है। इस संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता लोक सभा के अध्यक्ष करते हैं। इसमें निर्णय बहुमत से होता है। सैद्धान्तिक रुप से तो दोनों सदनों को समान शक्तियाँ हैं। परन्तु व्यवहारतः लोक सभा के सदस्यों की संख्या अधिक होती है, इसलिए लोक सभा का निर्णय ही निर्णायक होता है।
2. **संविधान संशोधन की शक्ति-** संविधान संशोधन हेतु दोनों सदनों को समान शक्तियाँ प्राप्त हैं, क्योंकि संविधान संशोधन विधेयक भी संसद के दोनों सदनों में से किसी में भी पेश किया जा सकता है। वे तभी पारित माने जाऐंगे, जब दोनों सदनों ने अलग-अलग संविधान में उल्लिखित रीति से पारित किया हो, अन्यथा नहीं। क्योंकि संविधान संशोधन विधेयक के सन्दर्भ में दोनों सदनों में विवाद की स्थिति में किसी प्रकार से संयुक्त अधिवेशन की व्यवस्था नहीं है। इस प्रकार यदि राज्य सभा संशोधन से असहमत है तो वह संशोधन विधेयक गिर जाएगा।
3. **वित्तीय शक्तियाँ -** वित्तीय शक्तियों के सन्दर्भ में राज्य सभा की स्थिति, लोक सभा के समक्ष अत्यन्त निर्बल है, क्योंकि कोई भी वित्तीय विधेयक केवल लोक सभा में ही पेश किया जा सकता है। जब कोई वित्त विधेयक लोक सभा द्वारा पारित होने के पश्चात राज्य सभा में पेश किया जाता है तो राज्य सभा अधिकतम 14 दिन तक उस विधेयक पर विचार करते हुए अपने पास रोक सकती है। उसके विचार को लोक सभा माने या न माने यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। यदि राज्य सभा के विचार को लोक सभा न माने तो 14 दिन की समाप्ति पर विधेयक उसी रुप में पारित समझा जाएगा, जिस रुप में उसे लोक सभा ने पारित किया था।
4. **कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ -** जैसा कि हम ऊपर देख चुके है कि भारत में संसदीय शासन प्रणाली प्रचलित है। इसमें कार्यपालिका, निम्न सदन (लोक सभा) के प्रति सामूहिक रुप से उत्तरदायी होती है, न कि राज्य सभा के प्रति। इसलिए राज्य सभा के सदस्य विभागीय मंत्रियों से प्रश्न, पूरक प्रश्न, तारांकित

और अतारांकित प्रश्न पूछ सकते हैं, परन्तु मंत्री-परिषद के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव नहीं ला सकते हैं। इस प्रकार की शक्ति केवल लोक सभा के पास है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कार्यपालिका शक्तियों के सन्दर्भ में राज्य सभा, लोक सभा से बहुत ही निर्बल है।

5. **अन्य शक्तियाँ-** ऊपर हमने राज्य सभा की शक्तियों का अध्ययन किया है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य शक्तियाँ भी राज्य सभा के पास हैं-
   - राष्ट्रपति के निर्वाचन में राज्य सभा के निर्वाचित सदस्य भाग लेते हैं।
   - उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन में राज्य सभा के सभी सदस्य (निर्वाचित+मनोनीत) 233+12 भाग लेते हैं।
   - राज्य सभा लोक सभा के साथ मिलकर बहुमत से उप-राष्ट्रपति को पदच्युत करती है।
   - जब देश में आपातकाल लागू हो, तो उसे एक माह से अधिक और संवैधानिक तन्त्र की विफलता की घोषणा हो तो उसे दो माह से अधिक लागू करने हेतु, लोक सभा के साथ राज्य सभा के द्वारा भी स्वीकृति आवश्यक होती है।
   - लोक सभा के साथ मिलकर राज्य सभा राष्ट्रपति व सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को भी पदमुक्त करती है।

7.4.5 राज्य सभा के विशेषाधिकार

उपरोक्त शक्तियों के अतिरिक्त राज्य सभा की कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं, जिनका प्रयोग वह अकेले करती है, वे निम्नलिखित हैं-

1. भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 112 में उल्लिखित है कि, यदि राज्य सभा अपने दो तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पारित कर दे कि नई अखिल भारतीय सेवा के सृजन किया जाना है, तो तभी अखिल भारतीय सेवा के पद सृजित होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि यदि राज्य सभा इस तरह के प्रस्ताव न पारित करे, तो केन्द्र सरकार नई अखिल भारतीय सेवा का सृजन नहीं कर सकती है।
2. इसी प्रकार भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 249 में उल्लिखित है कि, यदि राज्य सभा के, सदन में उपस्थित तथा मतदान में भाग लेने वाले दो-तिहाई सदस्य राज्य सूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर दें, तो उस पर संसद को कानून निर्माण का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार का प्रस्ताव प्रारम्भ में केवल एक वर्ष के लिए ही होता है, परन्तु राज्य सभा की इच्छा से इसे बार-बार एक वर्ष के लिए बढाया जा सकता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राज्य सभा द्वितीय सदन है तो, साथ ही दूसरे स्तर के महत्व का भी सदन है।

7.5 लोक सभा

जैसा कि हम पहले भी पढ चुके हैं कि लोक सभा संघीय संसद का निम्न सदन है, जिसे लोकप्रिय सदन या जनप्रतिनिधि सदन भी कह सकते हैं, क्योंकि इनका निर्वाचन जनता द्वारा प्रत्यक्ष रीति से वयस्क मताधिकार (18 वर्ष की आयु के भारतीय) के द्वारा किया जाता है। भारतीय संविधान में इस बात का प्रावधान है कि लोक सभा में

राज्यों से अधिकतम 530 सदस्य हो सकते हैं। 20 सदस्य संघ शासित क्षेत्रों से तथा 02 सदस्य आंग्ल-भारतीय समुदाय के राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जा सकते हैं। इस प्रकार लोक सभा में अधिकतम सदस्यों की संख्या 552 हो सकती है।

7.5.1 योग्यता

- वह भारत का नागरिक हो।
- वह भारतीय नागरिक 25 वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका हो।
- संघ सरकार या राज्य सरकार के अधीन, वह किसी लाभ के पद पर न हो।
- वह, पागल या दिवालिया न हो।

इसके अतिरिक्त अन्य योग्यताऐं जिसका निर्धारण समय-समय पर संसद करे।

7.5.2 कार्यकाल

मूल संविधान के अनुसार लोक सभा का कार्यकाल 5 वर्ष था। परन्तु 42वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा इसका कार्यकाल 6 वर्ष कर दिया गया। परन्तु पुनः 44वें संवैधानिक संशोधन 1978 के द्वारा लोक सभा के कार्यकाल को घटाकर 5 वर्ष कर दिया गया। अब इसका कार्यकाल 5 वर्ष का होता है। किन्तु समय से पूर्व भी लोक सभा का विघटन किया जा सकता है। इस प्रकार 1970, 1977, 1979, 1990, 1997, 1999 और 2004 में समय पूर्व लोक सभा विघटन किया गया।

राष्ट्रपति लोक सभा का अधिवेशन बुलाते हैं। यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है कि लोक सभा की दो बैठकों के बीच अन्तराल अर्थात बैठक की अन्तिम तिथि और दूसरी बैठक की प्रथम तिथि के बीच अन्तराल 6 मास से अधिक नहीं होना चाहिए। राज्य सभा के समान इसकी गणपूर्ति भी समस्त सदस्यों का दसवॉ भाग है।

7.5.3 संरचना

प्रथम आम चुनाव के समय (1952) लोक सभा के सदस्यों की निर्धारित संख्या 500 थी। 31वें संवैधानिक संशोधन 1974 के द्वारा यह निर्धारित किया गया कि इनकी अधिकतम संख्या 552 हो सकती है। जिनमें 530 सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष रुप से निर्वाचित होंगे, जो राज्यों का प्रतिनिधित्व करेंगे। जबकि 20 सदस्य संघ-राज्य क्षेत्रों के प्रतिनिधि होंगे। इसके साथ ही साथ दो सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए जा सकते है। यदि राष्ट्रपति को ऐसा प्रतीत हो कि आंग्ल-भारतीय समुदाय को पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त है। परन्तु व्यवहार में वर्तमान समय में 545 सदस्य हैं, जिनमें 530 राज्यों का प्रतिनिधत्व करते हैं, तेरह संघ-राज्य क्षेत्रों से और दो राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत सदस्य हैं।

7.5.4 निर्वाचन

लोक सभा के सदस्यों का निर्वाचन भारतीय नागरिकों द्वारा सार्वजनिक वयस्क मताधिकार के आधार पर किया जाता है। मूल संविधान के अनुसार मताधिकार हेतु न्यूनतम उम्र 21 वर्ष रखी गयी थी, जबकि 61वें संवैधानिक

संशोधन के द्वारा इस आयु को घटाकर 18 वर्ष कर दी गयी। अर्थात़ 18 वर्ष की आयु का भारतीय नागरिक अपनी पसन्द के प्रत्याक्षी को मतदान कर सकता है।

7.5.5 कार्यकाल

लोक सभा की अवधि का निर्धारण उसकी बैठक की तिथि से किया जाता है। अपनी बैठक की प्रथम तिथि से 05 वर्ष की अवधि होती है। परन्तु भारतीय संविधन के अनुच्छेद- 83(2) के अनुसार राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर 5 वर्ष के पूर्व भी विघटित कर सकता है। किन्तु यह विघटन अवधि 06 माह से अधिक नहीं हो सकती है। अर्थात् विघटन के 06 माह बीतने के पूर्व ही लोक सभा का निर्वाचन हो जाना चाहिए। इस प्रकार के उपबन्ध को रखने का कारण यह कि लोक सभा के दो सत्रों के बीच की अवधि 06 माह से अधिक का नहीं होनी चाहिए।

7.5.6 अधिवेशन

एक वर्ष में लोक सभा के कम से कम दो अधिवेशन होने चाहिए। साथ ही पिछले अधिवेशन की अन्तिम तिथि और आगामी अधिवेशन की प्रथम तिथि के बीच का अन्तराल 6 माह से अधिक का नहीं होना चाहिए। परन्तु यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि यह अवधि एक ही स्थिति में 6 माह से अधिक हो सकती है, जब आगामी अधिवेशन के पूर्व लोक सभा विघटित हो जाय।

7.5.7 पदाधिकारी

लोक सभा में दो मुख्य पदाधिकारी होते हैं, अध्यक्ष और उपाध्यक्ष। अपने सभी सदस्यों में से ही लोक सभा अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का निर्वाचन करती है। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष, अध्यक्ष के रुप में कार्य करते हैं। परन्तु यदि दोनों अनुपस्थित हों तो सदन का वह व्यक्ति अध्यक्ष के दायित्वों का निर्वहन करेगा, जिसे राष्ट्रपति इस हेतु नियुक्त करे।

अध्यक्ष के द्वारा शपथ, अध्यक्ष के रुप में नहीं वरन् लोक सभा के सदस्य के रुप में ग्रहण किया जाता है। यह शपथ उसे लोक सभा का कार्यकारी अध्यक्ष (प्रोटेम स्पीकर) दिलाता है, जो सदन का सबसे वरिष्ठ सदस्य होता है। इस परम्परा का अनुसरण फ्रान्स की परम्परा से लिया गया है।

7.5.8 अध्यक्ष को पद से हटाया जाना

लोक सभा के समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित प्रस्ताव के द्वारा, अध्यक्ष को हटाया जा सकता है। इस प्रकार के प्रस्ताव रखने के 14 दिन पूर्व सूचना देना आवश्यक है। यहाँ यह पक्ष महत्वपूर्ण है कि जब अध्यक्ष को हटाने का प्रस्ताव विचाराधीन हो तो अध्यक्ष, लोक सभा की अध्यक्षता नहीं करेगा।

7.5.9 लोक सभा की शक्तियाँ

हमारे देश में लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली अपनायी गयी है। जिसका तात्पर्य है कि अन्तिम रुप से सत्ता जनता में निहित है। लोक सभा जनप्रतिनिधि सदन है, क्योंकि इनके सदस्यों का निर्वाचन जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रुप से किया जाता है। इसलिए लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों और परम्पराओं के अनुरुप लोक सभा को राज्य सभा की अपेक्षा

शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया है, इसलिए संसद में लोक सभा, राज्य सभा और राष्ट्रपति से मिलकर होता है। अब हम लोक सभा के कार्यों और शक्तियों का अध्ययन करेंगे।

1. **विधायी शक्ति-** जैसा कि हम पहले ऊपर देख चुके हैं कि साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में लोक सभा और राज्य सभा को समान शक्ति प्राप्त है। यह विधेयक दोनों में से किसी भी सदन में पेश किया जा सकता है। और यह तभी पारित समझा जाएगा जब दोनों सदनों द्वारा अलग-अलग पारित हो।
   परन्तु वित्तीय विधेयक को लोक सभा में ही पेश किया जा सकता है। साथ ही वित्त विधेयक उसी रुप में पारित हो जाता है, जिस रुप में लोक सभा चाहती है, क्योंकि लोक सभा द्वारा पारित वित्त विधेयक को राज्य सभा केवल 14 दिन रोक सकती है। इसके पश्चात वह उसी रुप में पारित समझा जाएगा, जिस रुप में उसे लोक सभा ने पारित किया था। राज्य सभा के किसी भी संशोधन को स्वीकार करना या अस्वीकार करना लोक सभा की इच्छा पर निर्भर है।
2. **कार्यपालिका शक्ति-** भारतीय संविधान में स्पष्ट रुप से लिखा है कि भारत की संघीय कार्यपालिका सामूहिक रुप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी है। यहाँ यह भी जानना आवश्यक है कि उसी दल को सरकार बनाने का अधिकार होगा और उसी दल के नेता को राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त करेगा, जिसे लोक सभा में समस्त सदस्यों का बहुमत प्राप्त हो और सरकार तभी तक अस्तित्व में रहती है, जब तक उसको लोक सभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त हो। मंत्री-परिषद प्रश्न पूछकर, पूरक प्रश्न, अविश्वास प्रस्ताव, काम रोको प्रस्ताव, कटौती प्रस्तावों के माध्यम से नियंत्रण रखते है।
3. **संविधान संशोधन की शक्ति-** संविधान संशोधन के महत्वपूर्ण कार्य में भी लोक सभा को शक्तियाँ प्राप्त हैं। संविधान संशोधन विधेयक दोनों में से किसी भी सदन में पेश किए जा सकते हैं और यह तभी पारित समझा जाएगा, जब दोनों सदन अलग-अलग संविधान में वर्णित रीति से पारित करें।
   महत्वपूर्ण तथ्य यह है, इस सम्बन्ध में संयुक्त अधिवेशन का प्रावधान नहीं है। इसलिए दोनों की शक्तियाँ समान हैं।
4. **निर्वाचन सम्बन्धी कार्य-** लोक सभा, राज्य सभा के साथ मिलकर उप-राष्ट्रपति का निर्वाचन तथा राज्य सभा और राज्य विधान सभा के साथ मिलकर राष्ट्रपति का निर्वाचन करती हैं।

7.6 संसद की शक्तियाँ

भारतीय संसद यद्यपि ब्रिटिश संसद के समान सर्वशक्तिमान नहीं है। परन्तु देश की सर्वोच्च विधायी संस्था है, जिसकी प्रमुख शक्तियाँ निम्नलिखित हैं-

1. **कानून निर्माण की शक्तियाँ-** शासन के तीन अंग होते हैं। व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका जो क्रमशः कानून निर्माण, कार्यकारी कार्य और न्यायिक कार्य करते हैं। संसद को संघ सूची, समवर्ती सूची और अवशिष्ट शक्तियों पर कानून निर्माण का अधिकार है। इसके अतिरिक्त कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्यसूची के विषयों पर भी कानून निर्माण का अधिकार है-
   - जब राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा चल रही हो।
   - जब राज्य सभा, अनुच्छेद- 249 के अनुसार दो-तिहाई बहुमत से राज्य सूची के विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर संसद से विधि निर्माण हेतु आग्रह करें।

- जब दो या दो से अधिक राज्य विधानमंडल द्वारा प्रस्ताव पारित कर राज्य सूची के विषय पर कानून निर्माण हेतु संसद से आग्रह करें।

2. **कार्यकारी कार्य-** संसद का अंग लोक सभा होती है। जिसके बहुमत प्राप्त दल के नेता को ही राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री बनने के लिए आमंत्रित करता है और प्रधानमन्त्री उन्हीं में से अपने मंत्री-परिषद का गठन करते हैं। अनुच्छेद- 75 (3) के अनुसार मंत्री-परिषद लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होती है।
3. **वित्तीय कार्य-** संसद ही संघ के वित्त पर नियंत्रण रखती है। वित्त का नियमन करने में संसद की भूमिका निर्णायक होती है। जिसमें उसकी दो महत्वपूर्ण समितियां, लोकलेखा समिति और प्राक्कलन समिति महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। भारत के संचित निधि से धन, संसद की स्वीकृति से ही प्राप्त हो सकता है। वार्षिक बजट और रेल बजट संसद के समक्ष पेश किया जाता है। उक्त के साथ-साथ संसद विनियोग विधेयक, अनुपूरक अनुदान, अतिरिक्त अनुदान, लेखानुदान आदि के सम्बन्ध में निर्णायक शक्ति है।
4. **निर्वाचन सम्बन्धी कार्य-** नए राज्य के गठन, उसकी सीमा और नाम में परिवर्तन का अधिकार संसद को है। इसके तहत वह एक राज्य को विभाजित कर सकती है, दो या दो से अधिक राज्यों को मिलाकर एक राज्य बना सकती है।

संविधान के अनुच्छेद- 61 में स्पष्ट उल्लेख है कि संसद साबित कदाचार या संविधान के अतिक्रमण के आरोप में राष्ट्रपति पर विशेष प्रक्रिया से महाभियोग लगा सकती है। इसी प्रकार उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को भी पदच्युत कर सकते है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संसद की शक्तियाँ व्यापक है। परन्तु वे अमर्यादित नहीं है, क्योंकि भारतीय संसद अपनी सीमाओं में ही कार्य करती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. राष्ट्रपति संसद का अंग है। सत्य/असत्य
2. संसद, राज्य सभा और लोक सभा से मिलकर बनती है। सत्य/असत्य
3. राज्य सभा संसद का जन प्रतिनिधि सदन है। सत्य/असत्य
4. लोक सभा के सदस्यों का जनता के द्वारा निर्वाचन किया जाता है। सत्य/असत्य
5. राज्य सभा का कार्य कल 06 वर्ष है। सत्य/असत्य
6. राज्य सभा के सदस्यों का चुनाव जनता करती है। सत्य/असत्य
7. राज्य सभा में वर्तमान समय में 543 सदस्य है। सत्य/असत्य

7.7 सारांश

इस इकाई में हमने संसद के संगठन और कार्यों का अध्ययन किया है, जिसमें हमने यह देखा है कि किस प्रकार से राष्ट्रपति संसद का अंग है और उसके पद में संसदीय शासन की प्रमुख विशेषता का समावेश किया गया है। संसदीय शासन की मुख्य विशेषता, व्यस्थापिका और कार्यपालिका का मिश्रित स्वरूप है, क्योंकि कार्यपालिका के सभी सदस्यों के लिए व्यवस्थापिका का सदस्य होना अनिवार्य होता है और राष्ट्रपति के पद में ये दोनों विशेषताऐं पायी जाती हैं। राष्ट्रपति एक तरफ कार्यपालिका का प्रमुख होता है, तो दूसरी तरफ वह संसद का अंग होता है।

कोई भी विधेयक तब तक कानून का रूप नहीं लेता है, जब तक कि उसे राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति नहीं प्रदान कर देता है।

साथ ही हमने इस इकाई में यह भी अध्ययन किया है कि राज्य सभा प्रथम दृष्टया तो कानून निर्माण में सामान दिखाई देती है, परन्तु संवैधानिक संशोधन विधेयक के अतिरिक्त सामान्य विधेयक और वित्तीय विधेयक के मामले में स्थिति गौण है, क्योंकि राज्य सभा सामान्य विधेयक को अधिकतम 06 माह तक रोक सकती है और वित्त विधेयक को केवल 14 दिन तक रोक सकती है, इसके पश्चात वह उसी रूप में पारित होगा, जिस रूप में लोक सभा चाहेगी। राज्य सभा की आपत्तियाँ उस विधेयक पर कोई निर्णायक प्रभाव नहीं छोड़ सकती हैं, फिर भी जल्दबाजी में कोई विधेयक न पारित हो, उसके सभी पक्षों पर विचार हो सके, इस दृष्टि से राज्य सभा अति महत्वपूर्ण सदन है।

7.8 शब्दावली

संसद- राष्ट्रपति + राज्य सभा + लोक सभा

नाममात्र की कार्यपालिका- संसदीय शासन प्रणाली में नाम मात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका में अंतर पाया जाता है। नाम मात्र की कार्यपालिका वह होता है, जिसमें संवैधानिक रूप से सभी शक्तियाँ निहित होती हैं, परन्तु उन शक्तियों का वह स्वयं प्रयोग नहीं करता है, वरन मंत्री-परिषद करती है। भारत में नाम मात्र की कार्यपालिका राष्ट्रपति और ब्रिटेन में सम्राट होते हैं।

वास्तविक कार्यपालिका- यह वह कार्यपालिका है, जो नाम मात्र की कार्यपालिका को प्रदान की गयी शक्तियों का प्रयोग उसके नाम से करती है। जैसे भारत और ब्रिटेन में मंत्री-परिषद ।

7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** असत्य, **3.** असत्य, **4.** सत्य, **5.** असत्य, **6.** असत्य, **7.** असत्य

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय संविधान- ब्रज किशोर शर्मा।
2. भारतीय लोक प्रशासन-बी0एल0 फड़िया।
3. भारतीय लोक प्रशासन-अवस्थी एवं अवस्थी।

7.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान- डी0डी0 बसु।
2. भारतीय लोक प्रशासन- एस0सी0 सिंहल।

7.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. संसद के संगठन और कार्यों की विवेचना कीजिये।
2. लोक सभा और राज्य सभा की संरचना और उनकी शक्तियों की विस्तार से चर्चा कीजिए।

इकाई- 8 केन्द्रीय सचिवालय, मंत्रिमंडलीय सचिवालय, प्रधानमन्त्री सचिवालय

इकाई की संरचना

8.0 प्रस्तावना
8.1 उद्देश्य
8.2 केन्द्रीय सचिवालय
    8.2.1 केन्द्रीय सचिवालय की अवधारणा
    8.2.2 केन्द्रीय सचिवालय का संगठन
    8.2.3 केन्द्रीय सचिवालय के कार्य
    8.2.4 केन्द्रीय सचिवालय की कार्य-प्रणाली की आलोचना
    8.2.5 केन्द्रीय सचिवालय में सुधार के लिए सुझाव
8.3 अवधि-प्रणाली
    8.3.1 अवधि-प्रणाली के पक्ष में तर्क
    8.3.2 अवधि-प्रणाली के विपक्ष में तर्क
8.4 मंत्रिमंडलीय सचिवालय (कैबिनेट) सचिवालय
    8.4.1 मंत्रिमंडलीय सचिवालय के कार्य
    8.4.2 मंत्रिमंडलीय सचिव
        8.4.2.1 मंत्रिमंडलीय सचिवालय एवं मंत्रिमण्डल सचिव की स्थिति पर प्रतिकुल प्रभाव डालने वाले कारण
        8.4.2.2 मंत्रिमंडलीय सचिवालय के पुनर्गठन और क्षमता विकास के लिए सुझाव
8.5 प्रधानमन्त्री कार्यालय
    8.5.1 प्रधानमन्त्री कार्यालय के कार्य
8.6 सारांश
8.7 शब्दावली
8.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
8.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
8.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
8.11 निबंधात्मक प्रश्न

8.0 प्रस्तावना

भारतीय प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने हेतु कई मंत्रालयों एवं विभागों का गठन किया गया है, जिनसे मिलकर केन्द्रीय सचिवालय का निर्माण होता है। मंत्रियों द्वारा सचिवालय से विचार-विमर्श करके नीतियों का निर्माण किया जाता है।

मंत्रिमण्डल सचिवालय की स्थापना एक ऐसे प्रशासनिक संस्थान के रूप में की गयी है, जो मंत्रिमण्डल के कार्यों में सहयोग देने के लिए है। मंत्रिमंडलीय सचिवालय देश के एक नीति-निर्माण अभिकरण के रूप में स्थापित किया गया है।

भारत में संसदीय प्रणाली होने के कारण व्यावहारिक शक्तियों का प्रयोग प्रधानमन्त्री करता है। सरकार के अध्यक्ष के रूप में प्रधानमन्त्री को शासन कार्यो में कार्यालयीन सहायता करने के लिए 15 अगस्त 1947 को प्रधानमन्त्री कार्यालय की स्थापना की गयी। इस कार्यालय का निर्माण उन कार्यों का सम्पादन करने के उद्देश्य से किया गया है, जिन्हें 15 अगस्त 1947 से पूर्व गवर्नर जनरल के व्यक्तिगत सचिव द्वारा किया जाता था।

8.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- केन्द्रीय सचिवालय के संगठन और कार्यों को जान सकेंगे।
- मंत्रिमंडलीय सचिवालय के संगठन और कार्यों को जान सकेंगे।
- प्रधानमन्त्री कार्यालय के संगठन और कार्यों को जान सकेंगे।

8.2 केन्द्रीय सचिवालय

भारतीय प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने हेतु कई मंत्रालयों एवं विभागों में विभाजित किया गया है, जिनसे मिलकर केन्द्रीय सचिवालय का निर्माण होता है। मंत्रियों द्वारा सचिवालय से विचार-विमर्श करके नितियों का निर्माण किया जाता है। नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए संलग्न, अधीनस्थ तथा क्षेत्रीय कार्यालय होते हैं। इस प्रकार सचिवालय एक अवधारणा है, जिसका अभिप्राय केन्द्र सरकार के स्तर पर गठित मंत्रालयों एवं विभागों के समुच्चय से है, जिनका राजनीतिक अध्यक्ष मंत्री होता है एवं प्रशासनिक अध्यक्ष सचिव होता है।

8.2.1 केन्द्रीय सचिवालय की अवधारणा

केन्द्रीय सचिवालय की अवधारणा दो विचारधाराओं पर आधारित है-

1. **राजनीतिक-प्रशासन द्वैतभाव की विचारधारा-** जिसके अन्तर्गत नीति-निर्माण को नीति क्रियान्वयन से पृथक किया गया है। इसके अन्तर्गत सचिवालय की भूमिका को नीति निर्धारण से जोड़ा गया है एवं क्रियान्वयन हेतु क्षेत्रीय संस्थान का निर्माण किया गया है।
2. **अवधि प्रणाली की विचारधारा-** केन्द्रीय सचिवालय केन्द्र सरकार के मुख्यालय की हैसियत से नीति-निर्माण के लिए उत्तरदायी है, परन्तु नीति के क्रियान्वयन के लिए केन्द्रीय सचिवालय के अन्तर्गत क्षेत्रीय संस्थान का निर्माण किया गया है। केन्द्र सरकार के स्तर पर क्षेत्रीय संस्थान मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं-
    - **संबंधित कार्यालय या संलग्न कार्यालय-** इसके दो मौलिक कार्य हैं। पहला, नीति-निर्माण की प्रक्रिया में तकनीकी परामर्श प्रस्तुत करना एवं दूसरा, नीति के क्रियान्वयन का परिवीक्षण करना।

- **अधीनस्थ कार्यालय-** यह केन्द्र सरकार की नीति के वास्तविक एवं क्रियान्वयन के लिए उत्तरदायी माना गया है।

इन दोनों के अतिरिक्त क्षेत्रीय संस्थान निम्नांकित प्रकार के भी हो सकते हैं, जैसे - विभागीय उपक्रम, लोक निगम, सरकारी कम्पनी आदि। ये तीनों मौलिक स्वरूप हैं, जिनके माध्यम से सरकार वाणिज्यिक एवं व्यावसायिक कार्यों का संचालन करती है।

8.2.2 केन्द्रीय सचिवालय का संगठन

केन्द्रीय सचिवालय में अनेक मंत्रालय और विभाग हैं, जिनकी संख्या घटती-बढ़ती रहती है। इसके संगठन को निम्नांकित तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है-

पदाधिकारी	**स्तर**
मंत्री	मंत्रालय का राजनीतिक अध्यक्ष
सचिव	मंत्रालय का प्रशासनिक अध्यक्ष
विशेष या अतिरिक्त सचिव	----------
अधिकारी वर्ग संयुक्त सचिव	उपविभाग का अध्यक्ष
उपसचिव/निदेशक	प्रभाग का अध्यक्ष
अवर सचिव	शाखा
अनुभाग अधिकारी	अनुभाग
सहायक	अनुभाग अधिकारी का सहायक
कार्यालय	ग्रुप- 'ब' कर्मचारी,

इस प्रकार निदेशक तथा उपसचिव के पदों को समान स्तर का मानते हुए केन्द्रीय सचिवालय के ढ़ाँचे को सचिव से लेकर निम्न श्रेणी तक 09 ग्रेडों में रखा गया है। सचिवालय में अधिकारियों की ये श्रेणियाँ 'अधिकाधिक सिद्धान्त' पर आधारित हैं, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक श्रेणी के अधिकारी का यह कर्त्तव्य है कि वह जितना अधिक कार्य कर सके, उतना करे और केवल महत्वपूर्ण मामले ही उच्च स्तर पर पहुँचे।

अधिकारी वर्ग प्रायः भारतीय प्रशासनिक सेवा के सदस्य होते हैं। इन अधिकारियों की भर्ती केन्द्रीय सरकार के द्वारा विभिन्न राज्यों की भारतीय प्रशासनिक सेवा श्रेणियों में से कार्यकाल पद्धति के अन्तर्गत की जाती है। यह पद्धति 1905 से लार्ड कर्जन के समय शुरू हुई। इस वर्ग में भर्ती के दूसरे स्रोत, केन्द्रीय सचिवालय सेवा का गठन 1951 में किया गया। केन्द्रीय सचिवालय सेवा के अधिकारियों को मंत्रालयों एवं विभागों से इसलिए सम्बद्ध किया जाता है, ताकि सचिवालय के कार्यों में निरन्तरता बनी रहे। सन् 1957 से केन्द्रीय सचिवालय के उच्चस्थ अधिकारियों की नियुक्ति हेतु केन्द्रीय स्टाफिंग योजना प्रारम्भ की गयी है।

8.2.3 केन्द्रीय सचिवालय के कार्य

सरकारी हैण्डबुक के अनुसार सचिवालय के प्रमुख कार्य निम्नांकित हैं-

1. नीति का निर्धारण तथा समय-समय पर आवश्यकतानुसार नीति के संशोधन में मंत्री की सहायता करना।
2. नियम, विधान तथा विनिमय बनाना।

3. क्षेत्रीय कार्यक्रम और योजना तैयार करना।
4. मंत्रालय या विभाग के कार्यों के सन्दर्भ में बजट तैयार करना और व्यय पर नियन्त्रण करना।
5. प्रारम्भ होने वाले कार्यक्रमों और योजनाओं की वित्तीय तथा प्रशासनिक अनुमति देना और उनमें आवश्यक संशोधन करना।
6. कार्यपालिका विभागों एवं अर्द्ध स्वायत्त क्षेत्रीय अभिकरणों द्वारा निर्मित नीतियों एवं कार्यक्रमों के क्रियान्वयन का पर्यवेक्षण करना।
7. नीतियों की व्याख्या करना एवं उनमें समन्वय लाना।
8. मंत्रालय या विभाग में कार्यरत कर्मचारियों एवं संगठन की क्षमता बढ़ाने के लिए कदम उठाना।
9. मंत्री को उसके संसदीय उत्तरदायित्व को पूरा करने में सहायता देना।

इस प्रकार सचिवालय एक प्रशासनिक परामर्शदात्री निकाय है। वह एक ओर तो नीति-निर्धारक, समन्वयकर्ता और नियंत्रक निकाय है, तो दूसरी ओर सरकार का प्रमुख कार्यपालिका निकाय ही है।

8.2.4 केन्द्रीय सचिवालय की कार्य-प्रणाली की आलोचना

भारत में सचिवालय प्रशासन की रीढ़ है। फिर भी सचिवालय की कार्यप्रणाली की निम्नांकित आधारों पर आलोचना की जाती है-

1. अनावश्यक रूप से बढ़ता हुआ आकार।
2. सचिवालय के कर्मियों की संख्या में इतनी अधिक वृद्धि कि वह एक भीड़ भरा संगठन बन गया है।
3. अत्यन्त खर्चिला।
4. विलम्बकारी प्रकिया।
5. विलम्ब की समस्या से प्रजातंत्र के स्वरुप में भ्रष्टाचार का उदय।
6. सचिवालय यद्यपि नीति-निर्माण करने वाली संस्था है, तथापि आज-कल यह कार्यकारी विभागों के कार्यों का संचालन अधिकाधिक मात्रा में करने लगा है। परिणामस्वरूप एक ओर तो सचिवालय अपना ध्यान नीति-निर्माण के कार्य पर केन्द्रित नहीं कर पाता और दूसरी ओर कार्यकारी इकाईयों की शक्ति में ह्रास होता जा रहा है।
7. वर्तमान समय में सचिवालय अपना क्षेत्राधिकार बढ़ाने की मनोवृत्ति से पीड़ित।
8. सचिवालय के कार्यकारी अपने आपको इकाईयों के कार्मिकों से अधिक योग्य मानने की प्रवृति से पीड़ित दिखाई देते हैं।

8.2.5 केन्द्रीय सचिवालय में सुधार के लिए सुझाव

भारत सरकार सचिवालय के दोषों को दूर करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रही है। प्रशासनिक सुधार आयोग के सुझावों पर आवश्यकतानुसार अमल किया गया है, जैसे-

1. निर्णय प्रक्रिया में पदसोपानों की संख्या में कमी करने की दिशा में कदम उठाए गये हैं।
2. निम्न स्तर पर प्रशासनिक कुशलता लाने के लिए अनुशासनात्मक कार्यवाही की जाती है।
3. सचिवालय में अनावश्यक नियुक्तियों को तथा अनावश्यक व्ययों को हतोत्साहित किया जा रहा है।

4. कर्मचारियों की पदोन्नति के नये नियम लागू हो रहे हैं और यह समझा जाने लगा है कि वरिष्ठ पदों को भरने के लिए आयु को अनावश्यक महत्व न दिया जाए।
5. यह भी सुझाव दिया गया है कि एक मंत्रालय के साथ संलग्न सचिव को दो वर्ष के स्थान पर लगातार पांच वर्ष के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए।

इस के अतिरिक्त सचिवालय की कार्य-पद्धति को सरल एवं गतिमान बनाया गया है और लालफीताशाही को समाप्त करने पर जोर दिया जा रहा है। सचिवालय सुधार के लिए कुछ सुझाव निम्नांकित है-

- सचिवालय की कार्य प्रणली को अधिक गति दने के लिए यह आवश्यक है कि सचिवालय केवल नीति-निर्माण का ही कार्य करे।
- सचिवालय के कार्यों में कुशलता लाने के लिए विभागाध्यक्ष, सचिव तथा मंत्री तीनों के मध्य की दूरीयाँ कम की जाए।
- प्रशासनिक विभागों की अध्यक्षता हेतु विशेषज्ञ अधिकारियों को प्राथमिकता दी जाए।

8.3 अवधि-प्रणाली

'अवधि प्रणाली' का प्रारम्भ लार्ड कर्जन के द्वारा 1905 में की गया। इसके अर्न्तगत क्षेत्रीय संस्थान के स्तर पर कार्य करने वाले अधिकारियों को एक निर्धारित अवधि के लिए मुख्यालय के स्तर पर पद स्थापित किया जाता था। आजादी के उपरान्त 'अवधि प्रणाली' से राज्य सरकार के स्तर पर कार्य कर रहे अखिल भारतीय सेवा के अधिकारियों को एक निश्चित समय तक कन्द्रीय सचिवालय में पद स्थापित किया जाता है। अपने इस कार्यकाल को पूरा करने के उपरान्त उन्हें पुनः संबधित राज्य सरकार की सेवा में वापिस भेज दिया जाता है।

8.3.1 अवधि-प्रणाली के पक्ष में तर्क

अवधि प्रणाली के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं-

1. अवधि प्रणाली से केन्द्र एवं राज्य के बीच अधिक प्रभावी प्रशासनिक समन्वय प्राप्त किया जा सकता है।
2. अवधि प्रणाली केन्द्र एवं राज्य सरकार दोनों के लिए लाभकारी है। केन्द्र सरकार अधिक वास्तविक तरीके से स्थानीय अनुभव के आधार पर नीति का निर्माण कर सकती है, क्योंकि राज्य सरकार के स्तर पर कार्य करने वाले अधिकारियों के पास जिला प्रशासन का वास्तविक अनुभव होता है। राज्य सरकार इन अधिकारियों के माध्यम से अपनी प्रशासनिक गतिविधियों में व्यापक राष्ट्रीय दृष्टिकोण को प्राप्त कर सकती है।
3. भारतीय प्रशासन में समरूपता प्राप्त करने के दृष्टिकोण से अवधि प्रणाली का विशेष योगदान है।
4. अवधि प्रणाली देश की एकता एवं अखण्डता बनाये रखने में सहयोगी है।
5. अवधि प्रणाली की विचारधारा भारतीय संघवाद की विचारधारा से मेल रखती है।
6. अवधि प्रणाली अधिकारियों के बीच समानता के अवसर उपलब्ध कराती है।
7. राज्य सरकार के स्तर पर कार्य करने वाले अधिकारी अधिक राजनीतिक निष्पक्षता के साथ अपने कार्यों का संचालन कर सकते हैं। अर्थात् लोक सेवा के स्वतंत्र एवं निष्पक्ष कार्यों के सन्दर्भ में अवधि प्रणाली की भूमिका महत्वपूर्ण है।

8. अवधि प्रणाली के माध्यम से केन्द्र सरकार अपनी नीतियों पर जनता की सामान्य प्रतिक्रिया को प्राप्त कर सकती है।

8.3.2 अवधि प्रणाली के विपक्ष में तर्क

अवधि प्रणाली के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं-

1. जब राज्य प्रशासन के अधिकारी केन्द्रीय सचिवालय के अन्तर्गत किसी पद को ग्रहण करते हैं, तो ऐसी परिस्थिति में संबंधित मंत्रालय की कार्य-पद्धति से परिचत न होने के कारण उस अधिकारी की निर्भरता कार्यालय पर बनी रहती है। अतः जिस अवधि प्रणाली के माध्यम से अधिकारियों की कार्यकुशलता को अधिक करने का प्रयास किया गया है, उससे वैसा हो पाना सम्भव नहीं हो रहा है।
2. केन्द्र सरकार के स्तर पर कुछ एसी गतिविधियाँ संचालित की जाती हैं, जिनमें जिला प्रशासन का स्थानीय अनुभव अनिर्वाय नहीं है। अतः ऐसे क्षेत्रों में अवधि प्रणाली की उपयोगिता काफी सीमित हो जाती है।
3. कई परिस्थितियों में ऐसा भी देखने को मिलता है कि राज्य प्रशासन के अधिकारी जब अवधि प्रणाली के अर्न्तगत केन्द्र सरकार के स्तर पर सेवा प्रदान करने जाते हैं, तो इसके उपरान्त पुनः राज्य प्रशासन की सेवा में वापस जाने में दिलचस्पी नहीं रखते। अतः अवधि प्रणाली के माध्यम से जो लाभ राज्य प्रशासन को होना चाहिए, वह सम्भव नहीं हो पाता।
4. केन्द्रीय सचिवालय सेवा को स्थापित करने के उपरान्त अनुभाग अधिकारी पदोन्नति के माध्यम से उच्चतर अधिकारी वर्ग में शामिल किये जाते हैं। ऐसा होने के कारण अवधि प्रणाली के अन्तर्गत राज्य प्रशासन के अधिकारियों को सीमित अवसर प्राप्त होते हैं।
5. अवधि प्रणाली के अर्न्तगत केन्द्रीय सचिवालय के स्तर पर आने वाले अधिकारियों की संख्या में अनिश्चितता बनी रहती है।
6. सचिवालय सेवा के अधिकारियों के पदोन्नति के अवसर कम होते हैं। मनोबल प्रभावित होता है और समन्वय की समस्या होती है।

8.4 मंत्रिमंडलीय सचिवालय (कैबिनेट) सचिवालय

मंत्रिमंडलीय सचिवालय की स्थापना एक ऐसे प्रशासनिक संस्थान के रूप में की गयी है, जो मंत्रिमण्डल के कार्यों में सहयोग देने के लिए है। मंत्रिमंडलीय सचिवालय को देश के एक नीति-निर्माण अभिकरण के रूप में स्थापित किया गया है। भारतीय शासन-प्रणाली के अन्तर्गत मंत्रिमण्डल प्रमुख नीति निर्माण कर्ता अभिकरण है। अतः मंत्रिमण्डल सचिवालय के द्वारा सरकार की नीतियों का अंतिम निर्धारण किया जाता है।

मंत्रिमण्डल प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में अपने कार्यों को सम्पन्न करता है। प्रधानमन्त्री मंत्रिमण्डल के अध्यक्ष के रूप में मंत्रिमंडलीय सचिवालय से परामर्श एवं सहयोग प्राप्त करता है, जिसकी अध्यक्षता मंत्रिमंडलीय सचिव के द्वारा की जाती है। मंत्रिमंडलीय सचिव पूरे देश का सर्वोच्च प्रशासनिक अधिकारी है। विभिन्न मंत्रालयों के बीच समन्वय को प्राप्त करने के लिए मंत्रिमंडलीय सचिवालय को उत्तरदायी माना गया है।

जब प्रधानमन्त्री सरकार के अध्यक्ष के रूप में अपने कार्यों का निष्पादन करते हैं, तो दैनिक प्रशासनिक सहयोग प्रधानमन्त्री कार्यालय के द्वारा प्रदान किया जाता है। ऐसी स्थिति में मंत्रिमंडलीय सचिवालय एवं प्रधानमन्त्री कार्यालय के बीच आजादी के उपरान्त ही समय-समय पर विवादास्पद मुद्दे उठते रहे हैं। संसदीय प्रणाली की

विचारधारा के अनुसार भारतीय शासन में मंत्रिमंडलीय सचिवालय की भूमिका निर्णायक होनी चाहिए। परन्तु प्रधानमन्त्री के बदलते हुए व्यक्तित्व के सन्दर्भ में मंत्रिमंडलीय सचिवालय की निर्णायक भूमिका प्रधानमन्त्री कार्यालय में देखने को मिलती है।

मंत्रिमंडलीय सचिवालय सीधे प्रधानमन्त्री के अधीन कार्य करता है। इसका सचिव, कैबिनेट सचिव होता है जो कि प्रशासनिक सेवा का वरिष्ठ अधिकारी होता है। उसकी सहायता के लिए अन्य अधिकारी एवं कर्मचारी नियुक्त किये जाते हैं।

8.4.1 मंत्रिमंडलीय सचिवालय के कार्य

कैबिनेट या मंत्रिमंडलीय सचिवालय केन्द्रीय प्रशासन का केन्द्र-बिन्दु है। भारत में कैबिनेट की कार्यकुशलता तथा प्रशासन की सुव्यवस्था बहुत हद तक मंत्रिमंडलीय सचिवालय की क्षमता पर निर्भर करती है। मंत्रिमंडलीय सचिवालय के कार्यों का विवरण निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत दिया जा सकता है-

1. **मंत्रिमंडलीय सचिवालय के रूप में-** केन्द्रीय मंत्रिमण्डल तथा उसकी समितियों को दैनिक कार्य से संबंधित सचिवालय सहायता प्रदान कराना। कैबिनेट की बैठकों की कार्यसूची तैयार करना, वाद-विवाद तथा निर्णयों का अभिलेख रखना। केन्द्रीय मंत्रिमंण्डल, उसकी समितियों, राष्ट्रपति एवं उप-राष्ट्रपति को विभिन्न सरकारी संस्थाओं से संबंधित आवश्यक सूचनाऐं उपलब्ध कराना। मंत्रिमण्डल की बैठकों के निर्णयों की सूचना संबंधित विभागों को पहुँचाना।
2. **प्रारम्भकर्ता के रूप में-** इस रूप में कैबिनेट सचिवालय तीन प्रकार के प्रारम्भिक कार्य करता है। पहला- मंत्री-परिषद के मंत्रियों की नियुक्तियाँ, उनके बीच विभागों के वितरण, शपथ ग्रहण, त्याग-पत्र आदि से संबंधित समस्त कार्य। दूसरा- ऐसे कानूनों का निर्माण करना जो सरकार के कार्यों को सुविधापूर्वक सम्पन्न करने में सहायता करते हों। तीसरा- सरकार की नीतियों को लागू करने तथा उनमें समन्वय लाने से सम्बन्धित विभागों की देखरेख रखना।
3. **समन्वयकर्ता विभाग के रूप में-** केन्द्रीय प्रशासनिक स्तर पर कैबिनेट सचिवालय एक प्रमुख समन्वय संस्था है। इस रूप में यह निम्नांकित कार्य करता है- भारत सरकार में कार्यरत विभिन्न मंत्रालयों, विभागों, समितियों आदि के बीच समन्वय स्थापित करना। सरकार की प्रमुख नीतियों और गतिविधियों में समन्वय। केन्द्र सरकार एवं विभिन्न राज्य सरकारों के बीच समन्वय। कैबिनेट सचिव विभिन्न समितियों का अध्यक्ष होने के नाते विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।
4. **मंत्रिमण्डल के निर्णयों को क्रियान्वित करने के रूप में-** प्रधानमन्त्री तथा मंत्रियों को समय-समय पर महत्वपूर्ण विषयों से संबंधित नीतियों के निरूपण एवं निष्पादन के विषय में परामर्श देना। मंत्रिमण्डल के समक्ष प्रस्तुत सभी विषयों के सम्बन्ध में मंत्रिमण्डल की सहायता और कार्यवाही करना। जैसे- संसद में व्यवस्थापन के लिए प्रस्तुत किये जाने वाले प्रस्ताव तैयार करना, सार्वजनिक जाँच समितियों की नियुक्ति, संसद के अधिवेशन प्रारम्भ करने और समाप्त करने आदि पर विचार, विदेशों के साथ सन्धियां एवं समझौते इत्यादि।

   कैबिनेट सचिवालय का एक महत्वपूर्ण कार्य यह देखना भी है कि मंत्रिमण्डल या उसकी समितियों द्वारा लिये गये निर्णय लागू हो रहे हैं या नहीं। इस कार्य हेतु यह सचिवालय मासिक प्रतिवेदन तैयार करता है।

इस प्रकार प्रशासनिक व्यवस्था में मंत्रिमंडलीय सचिवालय का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि प्रधानमन्त्री कार्यालय की स्थापना के बाद इसके महत्व में धीरे-धीरे कुछ कमी अवश्य देखी जा सकती है। फिर भी मंत्रिमण्डल सचिवालय, मंत्रिमण्डल के सचिवालय सम्बन्धी कार्यों के लिए स्टाफ, भुजा के समान है। अतः उसे सरकारी कार्यों का सम्पादन करने हेतु एक सरकारी विभाग मात्र नहीं मान लेना चाहिए।

8.4.2 मंत्रिमंडलीय सचिव

मंत्रिमंडलीय सचिवालय का मंत्रिमंडलीय (कैबिनेट) सचिव होता है, जो प्रधानमन्त्री के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में रहता है। कैबिनेट सचिव द्वारा मंत्रिमंडलीय सचिवालय की एवं सचिवों के सम्मलेन की अध्यक्षता की जाती है। कैबिनेट सचिव भारतीय प्रशासनिक सेवा का वरिष्ठतम सदस्य होता है। इसे भारतीय प्रशासन का सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न एवं प्रतिष्ठित पद माना जाता है।

प्रशासनिक सुधार आयोग के प्रतिवेदन के अनुसार, योग्यतम एवं वरिष्ठतम अधिकारियों को ही कैबिनेट सचिव बनाया जाता है। इस पद को प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक है कि इसकी अवधि तीन या चार वर्ष की हो। कैबिनेट सचिव को अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवा के वेतन का अधिकतम वेतनमान दिया जाये। आयोग के अनुसार महत्वपूर्ण नीति निर्धारक विषयों में उसे अधिक महत्व दिया जाना चाहिए, क्योंकि वह प्रधानमन्त्री, मंत्रिमण्डल तथा मंत्रिमंडलीय समितियों का प्रमुख सलाहकार होता है।

देशमुख टीम के अनुसार इस पद को अन्य सचिवों की तुलना में अधिक वेतनमान दिया जाए। यह टीम इस पद के क्रियान्वयन के तरीके से संतुष्ट नहीं थी और उसने इस पद की गरिमा एवं भूमिका में सुधार के लिए अनेक सिफारिशें की। जैसे -

1. दो या अधिक मंत्रालयों के बीच मतभेद की स्थिति में उन मामलों को कैबिनेट सचिव के पास भेजा जाना चाहिए।
2. कौन सा मामला किस मंत्रालय से संबंधित है, इसका निराकरण कैबिनेट सचिव पर छोड़ देना चाहिए। साथ ही कैबिनेट सचिव को समय-समय पर अन्य सचिवों से सम्पर्क स्थापित करते रहना चाहिए।

8.4.2.1 मंत्रिमंडलीय सचिवालय एवं मंत्रिमंडलीय सचिव की स्थिति पर प्रतिकुल प्रभाव डालने वाले कारण

1. मंत्रिमंडलीय सचिव को प्रधानमन्त्री का अपेक्षित संरक्षण न मिलना।
2. मंत्रियों और सचिवालय के उच्चस्थ अधिकारियों में पारस्परिक हितों के लिए गठजोड़, जिसका प्रभाव मंत्रिमंडलीय सचिव के समन्वय सम्बन्धी कार्यों पर पड़ता है।
3. कार्मिक प्रशासन मंत्रालय का प्रधानमन्त्री के नियंत्रण में रखा जाना और कई महत्वपूर्ण विषयों के सन्दर्भ में इस मंत्रालय का हस्तक्षेप में मंत्रिमण्डल सचिव की उपेक्षा।
4. प्रधानमन्त्री कार्यालय की स्थापना के पश्चात कई बार प्रधानमन्त्री की मंत्रिमंडलीय सचिवालय के बजाय प्रधानमन्त्री कार्यालय पर अधिक निर्भरता।
5. कई अवसरों पर मंत्रिमंडलीय सचिवों की नियुक्ति, सेवा विस्तार कार्य आदि के सम्बन्ध में राजनीतिक हस्तक्षेप।

8.4.2.2 मंत्रिमंडलीय सचिवालय के पुनर्गठन और क्षमता के विकास के लिए सुझाव

मंत्रिमंडलीय सचिवालय एक प्रभावकारी समन्वयकर्ता निकाय है। किन्तु यह प्रभावशाली समन्वय में उतना सक्षम नहीं हो पाता है। इसके पुनर्गठन और क्षमता के विकास के लिए निम्नांकित सुझाव दिये जा सकते हैं-

1. प्रशासनिक सुधार आयोग के अनुसार सांख्यिकी विभाग को वित्तीय विभाग में मिला देना चहिए तथा सैन्य शाखा को रक्षा मंत्रालय को सौंप देना चाहिए। ऐसा करने से इस सचिवालय के पास अधिकांशतः मंत्रिमण्डल मामलों से सम्बंधित विभाग ही बचे रहेंगे।
2. कैबिनेट सचिव के पद का कार्यकाल तीन या चार साल किया जाना चाहिए।
3. मंत्रिमंडलीय सचिव की नियुक्ति के पहले विभिन्न पदों पर प्राप्त प्रशासनिक अनुभव, जैसे किसी राज्य में मुख्य सचिव की भूमिका आदि पर ध्यान देना चाहिए।
4. मंत्रिमंडलीय सचिव की नियुक्ति के लिए वरिष्ठता के साथ-साथ योग्यता, प्रभावशीलता, कर्त्तव्य-निष्ठा इत्यादि को ध्यान में रखा जाना चहिए।
5. मंत्रिमंडलीय सचिव की नियुक्ति, सेवा-विस्तार आदि के सन्दर्भ में राजनैतिक कारकों को कम से कम किया जाना चाहिए।
6. प्रधानमन्त्री कार्यालय और मंत्रिमंडलीय सचिवालय के कार्य-क्षेत्र को और अधिक स्पष्ट किया जाना चाहिए।
7. मंत्रिमंडलीय सचिवालय एवं सचिव को प्रधानमन्त्री का उपयुक्त संरक्षण प्राप्त होना चाहिए।

8.5 प्रधानमन्त्री कार्यालय

भारत में संसदीय प्रणाली होने के कारण व्यावहारिक शक्तियों का प्रयोग प्रधानमन्त्री करता है। सरकार के अध्यक्ष के रूप में प्रधानमन्त्री को शासन कार्यों में कार्यालयीय सहायता करने के लिए 15 अगस्त, 1947 को प्रधानमन्त्री कार्यालय की स्थापना की गयी। इस कार्यालय का निर्माण उन कार्यों का सम्पादन करने के उद्देश्य से किया गया है, जिन्हें 15 अगस्त 1947 से पूर्व गवर्नर जनरल के व्यक्तिगत सचिव द्वारा किया जाता था। ज्ञातव्य है कि प्रधानमन्त्री ने इसी तिथि से वह सभी कार्य अपने हाथों में लिए, जो इसके पहले गवर्नर जनरल, सरकार की कार्यपालिका के प्रमुख के रूप में किया करता था।

आजादी के उपरान्त पंडित नेहरू भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री बने। नेहरू संसदीय प्रजातान्त्रिक विचारधारा का आदर करते थे एवं मंत्रिमण्डल के सामूहिक निर्णय पर विश्वास करते थे। अतः प्रधानमन्त्री कार्यालय का सम्बन्ध सीमित दैनिक प्रशासनिक कार्यों से था, जो कि प्रधानमन्त्री को सरकार के अध्यक्ष के रूप में चाहिए था। अतः इस समय महत्व की दृष्टि से प्रधानमन्त्री कार्यालय, कैबिनेट सचिवालय के बाद आता था और प्रधानमन्त्री कार्यालय को निर्णयकारी भूमिका प्राप्त नहीं थी।

जब लालबहादुर शास्त्री प्रधानमन्त्री बने, तब उनके पास प्रशासनिक दक्षता नहीं थी। अतः शास्त्री जी ने कार्यालय की भूमिका को प्रोत्साहित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस समय प्रधानमन्त्री कार्यालय की भूमिका देश के उच्चतर नीति निर्णयक अभिकरण के रूप में स्थापित हुई और शास्त्री जी के कार्यालय में एलके झा जैसे प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले प्रशासनिक अधिकारी को प्रधानमन्त्री कार्यालय का सचिव नियुक्त किया। झा काफी

प्रभावशाली हो गये और उन्हें 'सुपर सचिव' की संज्ञा दी जाने लगी। शास्त्री जी के समय यह अत्यन्त शक्तिशाली होकर उभरा और प्रधानमन्त्री कार्यालय का नामकरण प्रधानमन्त्री सचिवालय कर दिया गया।

इन्दिरा गाँधी द्वारा प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण करते समय उनके पास भी प्रशासनिक अनुभव तथा ज्ञान नहीं था, अतः स्वाभाविक रूप से उनकी निर्भरता प्रधानमन्त्री सचिवालय पर अधिक थी। देश की आर्थिक नीति एवं विदेश नीति जैसी जटिल विषय वस्तु पर इन्दिरा गाँधी काफी हद तक प्रधानमन्त्री सचिवालय पर निर्भर करती थी। ऐसी दशा में इन्दिरा गाँधी के प्रधानमंत्री काल में शास्त्री जी द्वारा शुरू की गयी परम्परा को और अधिक प्रोत्साहन मिला और इस समय प्रधानमन्त्री सचिवालय के आकार एवं भूमिका दोनों में वृद्धि हुई, विशेष कर राष्ट्रीय आपातकाल के समय प्रधानमन्त्री सचिवालय एक वास्तविक प्रशासनिक सत्ता के एक अतिरिक्त संवैधानिक केन्द्र के रूप में विकसित हुआ। प्रधानमन्त्री सचिवालय एक निर्णायक अभिकरण के रूप में स्थापित हुआ एवं मंत्रिमण्डल सचिवालय एक ऐसा अभिकरण बन गया, जिसका कार्य प्रधानमन्त्री सचिवालय के निर्णयों को लागू करना था।

'जनता सरकार' के समय प्रधानमन्त्री सचिवालय का नामकरण पुनः प्रधानमन्त्री कार्यालय के रूप में किया गया। इसकी भूमिका सत्ता एवं आकार दोनों की दृष्टि से सीमित करते हुए मंत्रिमंडलीय सचिवालय को एक उचित नीति निर्णायक अभिकरण माना गया तथा प्रधानमन्त्री कार्यालय की राष्ट्रीय मामलों में नीति निर्धारण की कोई भूमिका नहीं रही। यहाँ तक 'रॉ' संगठन को भी इससे हटा दिया गया। कैबिनेट सचिवालय का कार्मिक एवं प्रशासनिक सुधार विभाग जो लोक सेवाओं पर नियंत्रण रखता है, पहले के समान गृह मंत्रालय को और राजस्व जाँच विभाग, वित्त मंत्रालय को लौटा दिया गया।

1980 में इन्दिरा गाँधी पुनः प्रधानमन्त्री बनी और उनके द्वारा जनता सरकार के समय किये गये अनेक कार्यों में परिर्वतन किये गये। साथ ही प्रधानमन्त्री कार्यालय की भूमिका में बढ़ोत्तरी भी हुई, लेकिन प्रधानमन्त्री कार्यालय वह स्थान प्राप्त न कर सका जो उसे पहले प्राप्त था।

1984 में राजीव गाँधी के प्रधानमन्त्री बनने के उपरान्त प्रधानमन्त्री कार्यालय के प्रमुख प्रशासनिक विषय वस्तुओं पर परामर्शदाताओं की नियुक्ति की गयी, जिससे भारतीय प्रशासनिक तंत्र में प्रधानमन्त्री कार्यालय का प्रभाव अधिक हुआ। राजीव गाँधी के पास भी प्रशासनिक दक्षता की कमी होने के कारण प्रधानमन्त्री कार्यालय पर उनकी निर्भरता बनी रही। अतः इस समय मात्रात्मक एवं गुणात्मक दोनों दृष्टियों से विस्तार हुआ और वह अपनी खोई शक्ति एवं प्रतिष्ठा को प्राप्त करने में सफल हुआ।

नरसिम्हा राव के प्रधानमंत्रित्व काल में विशेषकर अंतिम वर्षों में प्रधानमन्त्री कार्यालय की भूमिका पुनः अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। नरसिम्हा राव के द्वारा एक अल्पमत सरकार का नेतृत्व किया गया। अतः प्रधानमन्त्री कार्यालय पर उनकी निर्भरता का अत्यधिक होना स्वाभाविक था।

इण्डिया टुडे के अनुसार वाजपेयी जी के नेतृत्व में प्रधानमन्त्री कार्यालय केवल सजावटी चीज बन कर रह गया है। वैसे सर्वशक्तिमान प्रधानमन्त्री कार्यालय को निष्प्रभाव करने का फैसला खुद वाजपेयी ने किया था। वाजपेयी के मित्रों का मानना है कि प्रधानमन्त्री ने निगरानी और सुधार-तंत्र को प्रभावी तरीके से विकसित किए बगैर अपने मंत्रियों को आजादी देकर गलती की। इससे जहाँ नियमों की चकाचौंध और उनका असर खत्म हो गया, वहीं वाजपेयी जी की निजी छवि को चोट पहुँची। इसकी वजह आर्थिक मामले हैं, जहाँ वाजपेयी जी कमजोर पड़ जाते हैं, लेकिन धीरे-धीरे प्रधानमन्त्री की सरकार पर पकड़ मजबूत होने के साथ ही प्रधानमन्त्री कार्यालय की एवं

प्रधानमन्त्री के प्रधान सचिव ब्रजेश मिश्र की भूमिका क्रमशः बढ़ती जा रही है। वर्तमान समय में रक्षा, विदेश के अतिरिक्त अन्य कई मामलों में प्रधानमन्त्री का हस्तक्षेप देखा जा सकता है एवं प्रधानमन्त्री कार्यालय तथा प्रधान सचिव गतिविधियों में प्रत्यक्ष रूप से भूमिका निभाते नजर आ रहे हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि वाजपेयी का जी प्रधानमन्त्री कार्यालय विकास की प्रक्रिया से गुजर रहा था।

वर्तमान समय में संयुक्त सरकार की विचारधारा के अन्तर्गत प्रधानमन्त्री एक राजनैतिक असुरक्षा की भावना में कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति में प्रधानमन्त्री कार्यालय पर उनकी निर्भरता आंकना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त संयुक्त सरकार में कई अन्य राजनैतिक दलों के सदस्यों को मिलाकर मंत्री-परिषद का निर्माण किया जाता है। अतः प्रधानमन्त्री विश्वसनीय परामर्शों के लिए प्रधानमन्त्री कार्यालय पर ज्यादा निर्भर होते हैं। लेकिन संयुक्त सरकार में प्रधानमन्त्री सन्तुलन एवं अवरोध के नियम के अर्न्तगत अपने कार्यों का संचालन करते हैं। ऐसी अवस्था में प्रधानमन्त्री की तुलना में मंत्रिमण्डल का विशेष महत्व होता है। अतः मंत्रिमंडलीय सचिवालय की भूमिका का विशेष महत्व होना स्वभाविक है।

संयुक्त सरकार के सन्दर्भ में प्रधानमन्त्री कार्यालय गोपनीय विचार हेतु प्रधानमन्त्री के लिए एक आरक्षित एवं सुरक्षित स्थान नहीं माना जाता है। अतः सत्ता का हस्तांतरण प्रधानमन्त्री कार्यालय के निवास (PMR) की ओर देखने को मिल रहा है।

आज भारतीय प्रशासन में प्रधानमन्त्री कार्यालय का न केवल महत्व बढ़ा है, बल्कि उसकी अहम भूमिका है। आज यह असाधारण रूप से शक्तिशाली संगठन है, जिससे अनेक विशेषज्ञ सम्बद्ध हैं। प्रधानमन्त्री कार्यालय जो केन्द्रीय सचिवालय संगठनों में सबसे छोटा है, मंत्रिमण्डल सचिवालय से भी बड़ा हो गया है। वस्तुतः प्रधानमन्त्री कार्यालय के सचिव की भूमिका मित्र, मार्गदर्शक और परामर्शदाता जैसी हो तो वह अधिक उपयोगी होगा। लेकिन यदि प्रधानमन्त्री कार्यालय समान्तर सरकार का प्रतिरूप ग्रहण करने का प्रयास करता है, तो उसके प्रशासनिक दृष्टि से लाभकारी परिणाम नहीं होंगे।

प्रधानमन्त्री अपनी पसन्द के किसी भी व्यक्ति को इस पद पर नियुक्त कर सकते हैं और यह पद कार्याकाल पद्धति से मुक्त है। उपसचिव और उसे उपर के पदों पर नियुक्ति मंत्रिमण्डल की नियुक्ति समिति की स्वीकृति से होती है। अवर सचिव और नीचे के पद गृह मंत्रालय द्वारा भरे जाते हैं। पांचवे वेतन आयोग के प्रतिवेदन के अनुसार प्रधानमन्त्री कार्यालय में वर्तमान समय कुल मिलाकर 483 स्वीकृत पद हैं। साधारणतः प्रधानमन्त्री के पदाधिकारियों का वही स्तर होता है, जो शासन के मंत्रालयों में तदनुरूप श्रेणी के पदाधिकारियों का होता है।

8.5.1 प्रधानमन्त्री कार्यालय के कार्य

साधारणतः प्रधानमन्त्री कार्यालय के क्षेत्राधिकार में वे सभी विषय आते हैं, जो कि व्यक्तिगत विभाग या मंत्रालय को नहीं सौंपे गये हैं। प्रधानमन्त्री कार्यालय की निम्नांकित भूमिकाऐं हैं-

1. प्रधानमन्त्री को सरकार के अध्यक्ष के रूप में या मुख्य कार्यापालिका के रूप में कार्य करते समय प्रधानमन्त्री कार्यालय, प्रधानमन्त्री को सहयोग देता है।
2. यदि कोई प्रशासनिक विषय वस्तु किसी मंत्री को न सौंपी गयी हो, तो उस विषय-वस्तु का कार्यभार प्रधानमन्त्री पर होता है एवं उन विषय वस्तुओं पर प्रधानमन्त्री कार्यालय, प्रधानमन्त्री को सहयोग देता है।

3. प्रधानमन्त्री को योजना आयोग के अध्यक्ष के रूप में उत्तरदायित्व निभाने में सहायता करना।
4. इस कार्यालय के माध्यम से प्रधानमन्त्री अन्य केन्द्रीय मंत्रियों, राष्ट्रपति, राज्यपालों, मुख्यमंत्रियों, राजदूतों आदि से सम्पर्क स्थापित करता है।
5. यदि जनता की कोई शिकायत प्रधानमन्त्री के पास भेजी जाए, तो प्रधानमन्त्री कार्यालय उन शिकायतों का निराकरण सुनिश्चित करता है।
6. प्रधानमन्त्री कार्यालय में संसद में सामान्य विषयों पर पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दिया जाता है, जिन्हें किसी मंत्रालय को नहीं सौपा गया है।
7. प्रधानमन्त्री के आवश्यक रिकार्ड रखना, उनके अतिथियों के स्वागत-सत्कार की व्यवस्था करना तथा प्रधानमन्त्री द्वारा मांगी गयी सूचना प्रदान करना प्रधानमन्त्री कार्यालय के उत्तरदायित्व हैं।
8. प्रधानमन्त्री के आदेश एवं संदेश को मंत्रिमण्डलीय सचिवालय को सूचित करना भी प्रधानमन्त्री कार्यालय का कार्य है। आजकल यह प्रधानमन्त्री के महत्वपूर्ण भाषण तैयार करने, राज्यों की प्रशासनिक व्यवस्था की देख-रेख करने तथा प्रधानमन्त्री के विदेश यात्रा के कार्यक्रम बनाने का भी कार्य करने लगा है।

इसके अतिरिक्त भूकम्प, बाढ़, सूखा आदि के समय या अन्य अवसरों पर प्रधानमन्त्री कोष से राज्यों या व्यक्तियों को जो आर्थिक सहायता पहुँचायी जाती है, उसका लेखा-जोखा भी प्रधानमन्त्री कार्यालय रखता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. केन्द्रीय सचिवालय सेवा का गठन 1951 में किया गया। सत्य/असत्य
2. भारतीय प्रशासनिक सेवा में अवधि प्रणाली 1905 से लार्ड कर्जन के समय शुरू हुई। सत्य/असत्य
3. राजीव गाँधी 1984 में प्रधानमन्त्री नियुक्त किये गये थे। सत्य/असत्य

8.6 सारांश

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि, सचिवालय एक प्रशासनिक परामर्शदात्री निकाय है। वह एक ओर तो नीति निर्धारक, समन्वयकर्ता और नियंत्रक निकाय है, तो दूसरी ओर सरकार का प्रमुख कार्यपालिका निकाय भी है।

इसके साथ ही प्रशासनिक व्यवस्था में मंत्रिमंडलीय सचिवालय का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि प्रधानमन्त्री कार्यालय की स्थापना के बाद इसके महत्व में धीरे-धीरे कुछ कमी अवश्य देखी जा सकती है, फिर भी मंत्रिमंडलीय सचिवालय, सम्बन्धी कार्यों के लिए स्टाफ भुजा के समान है। अतः उसे सरकारी कार्यों का सम्पादन करने हेतु एक सरकारी विभाग मात्र नहीं मान लेना चाहिए।

आज भारतीय प्रशासन में प्रधानमन्त्री कार्यालय का न केवल महत्व बढ़ा है, बल्कि उसकी अहम भूमिका है। आज यह असाधारण रूप से शक्तिशाली संगठन है, जिससे अनेक विशेषज्ञ सम्बद्ध हैं। प्रधानमन्त्री कार्यालय जो केन्द्रीय सचिवालय संगठनों में सबसे छोटा था, अब मंत्रिमंडलीय सचिवालय से भी बड़ा हो गया है। वस्तुतः प्रधानमन्त्री कार्यालय के सचिव की भूमिका मित्र, मार्गदर्शक और परामर्शदाता जैसी हो, तो वह अधिक उपयोगी होगा। लेकिन यदि प्रधानमन्त्री कार्यालय समान्तर सरकार का प्रतिरूप ग्रहण करने का प्रयास करता है, तो उसके प्रशासनिक दृष्टि से लाभकारी परिणाम नहीं होंगे।

8.7 शव्दावली

सचिवालय- सरकार को नीति-निर्माण में सहयोग करने वाला निकाय है। नीति-निर्माण के उपरान्त उसके क्रियान्वयन के सम्बन्ध में प्रमुख कार्यपालिका निकाय है।

प्रधानमन्त्री कार्यालय- प्रधानमन्त्री को उनके कार्यों के सम्पादन में (कार्यपालिका प्रमुख के रूप में) सहयोग करने वाला निकाय है।

मंत्री-मण्डलीय सचिवालय- भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों, विभागों, समितियों के बीच समन्वय स्थापित करने वाला निकाय है।

8.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य **2.** सत्य **3.** सत्य

8.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय शासन एवं राजनीति- डॉ0 रूपा मंगलानी।
2. भारतीय सरकार एवं राजनीति- त्रिवेदी एवं राय।
3. भारतीय शासन एवं राजनीति- महेन्द्र प्रताप सिंह।

8.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान - ब्रज किशोर शर्मा।
2. भारतीय लोक प्रशासन- बी0एल0 फड़िया।

8.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. केन्द्रीय सचिवालय के संगठन और कार्यों की विवेचना कीजिए।
2. मंत्रिमंडलीय सचिवालय के संगठन और कार्यों की विवेचना कीजिए।
3. प्रधानमन्त्री कार्यालय के संगठन और कार्यों की विवेचना कीजिए।

इकाई- 9 केन्द्र-राज्य सम्बन्ध

इकाई की संरचना

9.0 प्रस्तावना
9.1 उद्देश्य
9.2 केन्द्र-राज्य विधायी सम्बन्ध
    9.2.1 संघ सूची
    9.2.2 राज्य सूची
    9.2.3 समवर्ती सूची
    9.2.4 राज्य सूची के विषय पर संसद की व्यवस्थापन शक्ति
9.3 केन्द्र-राज्य प्रशासनिक सम्बन्ध
    9.3.1 राज्य सरकारों को निर्देश देने की संघ सरकार की शक्ति
    9.3.2 संघ सरकार द्वारा दिए गये निर्देशों का पालन करने में असफल रहने का प्रभाव
    9.3.3 संघ द्वारा राज्यों की शक्ति देने का अधिकार
    9.3.4 राज्य सरकारों द्वारा संघ सरकार को कार्य सौंपने की शक्ति
    9.3.5 राज्यपालों की नियुक्ति और बरखास्तगी
    9.3.6 राज्य सरकारों को बरखास्त करना
    9.3.7 मुख्यमन्त्रियों के विरूद्ध जाँच आयोग
    9.3.8 अखिल भारतीय सेवाओं पर नियन्त्रण
9.4 केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्ध
    9.4.1 संघ द्वारा आरोपित किन्तु राज्यों द्वारा संग्रहित तथा विनियोजित शुल्क
    9.4.2 संघ द्वारा उदग्रहीत तथा संग्रहीत परन्तु राज्यों को सौंपे जाने वाले कर
    9.4.3 संघ द्वारा उदग्रहीत तथा संग्रहीत किन्तु संघ और राज्यों के बीच वितरित कर
    9.4.4 संघ के प्रयोजन के लिए कर
    9.4.5 राज्यों के प्रायोजन के लिए कर
    9.4.6 राजस्व में सहायक अनुदान
    9.4.7 ऋण लेने सम्बन्धी उपबन्ध
9.5 भारत के नियंत्रक एवं महालेखा द्वारा नियन्त्रण
9.6 वित्तीय संकटकाल
9.7 सारांश
9.8 शब्दावली
9.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
9.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
9.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

9.12 निबंधात्मक प्रश्न

9.0 प्रस्तावना

भारत एक परिसंघ है और उसका संविधान परिसंघीय है। परिसंघ में शासन के दो स्तर होते हैं। सभी शक्तियाँ इन स्तरों में विभाजित की जाती हैं। संघ, उन्तीस राज्यों और सात संघ राज्य क्षेत्रों, सभी संविधान से शक्तियाँ प्राप्त करते हैं। राज्यों को शक्ति संघ नहीं प्रदान करता है। सबकी शक्ति का एक ही स्रोत है और वह है, संविधान। संविधान में सभी शक्तियों का विभाजन संघ और राज्यों के मध्य किया गया है।

प्रत्येक परिसंघीय राज्य-व्यवस्था का आवश्यक लक्षण है कि शक्तियों का विभाजन और वितरण राष्ट्रीय सरकार और राज्य सरकारों के बीच किया जाता है। जिन शक्तियों को इस प्रकार विभाजित किया जाता है वे साधारणतया चार प्रकार की होती हैं- विधायी, कार्यपालिका, वित्तीय और न्यायिक। अतः संविधान के आधार पर संघ तथा राज्यों के सम्बन्धों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है- केन्द्र तथा राज्यों के विधायी सम्बन्ध, केन्द्र तथा राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्ध और केन्द्र तथा राज्यों के वित्तीय सम्बन्ध।

9.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- केन्द्र तथा राज्यों के मध्य विधायी सम्बन्धों की विवेचना कर सकेंगे।
- केन्द्र एवं राज्यों के बीच प्रशासनिक शक्तियों के विभाजन की विवेचना कर सकेंगे।
- केन्द्र तथा राज्यों के मध्य वित्तीय सम्बन्धों का वर्णन कर सकेंगे।
- केन्द्र व राज्य, सहयोग प्राप्त करने के विभिन्न उपायों की व्याख्या कर सकेंगे।

9.2 केन्द्र-राज्य विधायी सम्बन्ध

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 245 व 255 में केन्द्र-राज्य के मध्य विधायी सम्बन्धों के बारे में बताया गया है। संघ व राज्यों के मध्य विधायी सम्बन्धों का संचालन उन तीन सूचियों के आधार पर होता है, जिन्हें संघ सूची, राज्य सूची व समवर्ती सूची का नाम दिया गया है। इन सूचियों को सातवीं अनुसूची में रखा गया है।

9.2.1 संघ सूची

इस सूची में राष्ट्रीय महत्व के ऐसे विषयों को रखा गया है, जिसके सम्बन्ध में सम्पूर्ण देश में एक ही प्रकार की नीति का अनुकरण आवश्यक कहा जा सकता है। इस सूची के सभी विषयों पर विधि निर्माण का अधिकार संघीय संसद को प्राप्त है। इस सूची में कुल 97 विषय है। जिनमें से कुछ प्रमुख हैं- रक्षा, वैदेशिक मामले, देशीकरण व नागरिकता, रेल, बन्दरगाह, हवाई मार्ग, डाक, तार, टेलीफोन व बेतार, मुद्रा निर्माण, बैंक, बीमा, खानें व खनिज आदि।

9.2.2 राज्य सूची

इस सूची में साधारणतया वो विषय रखे गये हैं, जो क्षेत्रीय महत्व के हैं। इस सूची के विषयों पर विधि निर्माण का अधिकार सामन्यतया राज्यों की व्यवस्थापिकाओं को ही प्राप्त है। इस सूची में 66 विषय है, जिनमें से कुछ प्रमुख है- पुलिस, न्याय, जेल, स्थानीय स्वशासन, सार्वजनिक व्यवस्था, कृषि, सिंचाई आदि।

9.2.3 समवर्ती सूची

इस सूची में सामान्यतया वो विषय रखे गये हैं, जिनका महत्व क्षेत्रीय व संघीय दोनों ही दृष्टियों से है। इस सूची के विषयों पर संघ तथा राज्य, दोनों को ही विधियाँ बनाने का अधिकार प्राप्त है। यदि समवर्ती सूची के विषय पर संघीय संसद तथा राज्य व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानून परस्पर विरोधी हों तो सामान्यतयः संघ का कानून मान्य होगा। इस सूची में कुल 47 विषय हैं, जिनमें से कुछ प्रमख हैं- फौजदारी, निवारक विरोध, विवाह तथा विवाह विच्छेद, दत्तक और उत्तराधिकार, कारखाने, श्रमिक संघ, औद्योगिक विवाद, आर्थिक और समाजिक योजना और सामाजिक बीमा, पुर्नवास और पुरातत्व आदि।

9.2.4 अवशेष विषय

आस्ट्रेलिया, स्विटजरलैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका में अवशेष विषयों के सम्बन्ध में कानून निर्माण का अधिकार इकाईयों को प्रदान किया गया है, लेकिन भारतीय संघ में कनाडा के संघ की भांति अवशेष विषयों के सम्बन्ध में कानून निर्माण की शक्ति संघीय संसद को प्रदान की गयी है।
इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शक्तियों के बंटवारे में केन्द्र सरकार की तरफ झुकाव अधिक है।

9.2.5 राज्य सूची के विषय पर संसद की व्यवस्थापन शक्ति

सामान्यतया संविधान द्वारा किये गये शक्ति विभाजन का उल्लंघन किसी भी सत्ता द्वारा नहीं किया जा सकता। संसद द्वारा राज्य सूची के किसी विषय पर और किसी राज्य की व्यवस्थापिका द्वारा संघ सूची के किसी विषय पर निर्मित कानून अवैध होगा। लेकिन संसद के द्वारा कुछ विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत राष्ट्रीय हित तथा राष्ट्रीय एकता हेतु राज्य सूची के विषयों पर भी कानून का निर्माण किया जा सकता है। संसद को इस प्रकार की शक्ति प्रदान करने वाले संविधान के कुछ प्रमुख प्रावधान निम्नलिखित हैं-

1. **राज्य सूची का विषय राष्ट्रीय महत्व का होने पर-** संविधान के अनुच्छेद- 249 के अनुसार यदि राज्य सभा अपने दो-तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव स्वीकार कर लेती है कि राज्य सूची में उल्लिखित कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का हो गया है, तो संसद को उस विषय पर विधि-निर्माण का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इसकी मान्यता केवल एक वर्ष तक रहती है। राज्य सभा द्वारा पुनः प्रस्ताव स्वीकृत करने पर इसकी अवधि में एक वर्ष की वृद्धि और हो जाएगी।
2. **संकट कालीन घोषणा होने पर-** अनुच्छेद- 352 के अन्तर्गत संकटकालीन घोषणा की स्थिति में राज्य की समस्त विधायिनी शक्ति पर भारतीय संसद का अधिकार हो जाता है। अनुच्छेद- 250 इस घोषणा की समाप्ति के छः माह बाद तक संसद द्वारा निर्मित कानून पूर्ववत चलते रहेंगे।

3. **राज्यों के विधान मण्डलों द्वारा इच्छा प्रकट करने पर-** अनुच्छेद- 252 के अनुसार यदि दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमण्डल प्रस्ताव पास कर यह इच्छा व्यक्त करते हैं, कि राज्य सूची के किन्हीं विषयों पर संसद द्वारा कानून निर्माण किया जाय, तो उन राज्यों के लिए उन विषयों पर अधिनियम बनाने का अधिकार संसद को प्राप्त हो जाएगा। राज्यों के विधानमण्डल न तो इन्हें संशोधित कर सकते हैं और न ही इन्हें पूर्ण रूप से समाप्त कर सकते हैं।
4. **विदेशी राज्यों से हुई संधियों के पालन हेतु-** अनुच्छेद- 253 के अनुसार यदि संघ सरकार ने विदेशी राज्यों से किसी प्रकार की संधि की है, अथवा उनके सहयोग के आधार पर किसी नवीन योजना का निर्माण किया है, तो इस सन्धि के पालन हेतु संघ सरकार को सम्पूर्ण भारत के सीमा क्षेत्र के अन्तर्गत पूर्णतया हस्तक्षेप और व्यवस्था करने का अधिकार होगा। इस प्रकार इस स्थिति में भी संसद को राज्य सूची के विषय पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।
5. **राज्यों में संवैधानिक व्यवस्था भंग होने पर-** यदि किसी राज्य में संवैधानिक संकट उत्पन्न हो जाए या संवैधानिक तंत्र विफल हो जाए तो संविधान के अनुच्छेद- 356 के अन्तर्गत राज्य में राष्ट्रपति शासन लगा दिया जाता है। इस स्थिति में राज्य की समस्त विधायी शक्तियाँ संसद द्वारा अथवा संसद के प्राधिकार के अधीन इस्तेमाल की जाती हैं। इस अधिकार के तहत संसद किसी भी सूची के किसी भी विषय पर विधायन बना सकता है।
6. **कुछ विषयों को प्रस्तावित करने और कुछ को अन्तिम स्वीकृत के लिए केन्द्र का अनुमोदन आवश्यक-** उपर्युक्त परिस्थितियों में तो संसद द्वारा राज्य सूची के विषयों पर कानूनों का निर्माण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त भी राज्य व्यवस्थापिकाओं की राज्य सूची के विषयों पर कानून निर्माण की शक्ति सीमित है। अनुच्छेद- 304 (ख) के अनुसार, कुछ विधेयक ऐसे होते हैं, जिनको राज्य विधान-मण्डल में प्रस्तावित किए जाने के पूर्व राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए वे विधेयक जिनके द्वारा सार्वजनिक हित की दृष्टि से उस राज्य के अन्दर या उससे बाहर, वाणिज्य या मेल-जोल पर कोई प्रतिबन्ध लगाए जाने हों।

9.3 केन्द्र-राज्य प्रशासनिक सम्बन्ध

किसी भी परिसंघीय संविधान के अन्तर्गत केन्द्र व राज्यों की कार्यपालिकाऐं अलग-अलग होती हैं। जहाँ तक विधान बनाने का प्रश्न है, दोनों के क्षेत्र को तय करना कठिन नहीं है। क्योंकि संविधान के सातवीं अनुसूची में शक्तियों का स्पष्ट विभाजन है। प्रशासनिक मामलों में बहुत सी कठिनाइयां सामने आती हैं। कुछ मामले ऐसे होते हैं, जिन्हें स्थानीय स्तर पर अच्छी तरह निपटाया जा सकता है और कुछ मामले ऐसे होते हैं, जिनके लिए बड़े संगठन की आवश्यकता होती है, जिससे क्षमता और मितव्ययता सम्भव हो सके। इसके अतिरिक्त परिसंघ की विभिन्न इकाइयों के बीच समन्वय स्थापित करना तथा उनके झगड़े का निपटारा करना भी आवश्यक हो जाता है। इन सभी समस्याओं को ध्यान में रखकर संविधान निर्माताओं ने अनुच्छेद- 256 से 263 तक कुछ उपबन्ध किए हैं।

9.3.1 राज्य सरकारों को निर्देश देने की संघ सरकार की शक्ति

संविधान के अनुच्छेद- 256 के अनुसार, राज्य सरकार का यह कर्तव्य है कि संसद द्वारा पारित विधि को मान्यता दे। इस प्रावधान का यह परिणाम निकलता है कि प्रत्येक राज्य की प्रशासनिक शक्ति को इस प्रकार प्रयोग में लाना

होता है कि वह संघ सरकार की प्रशासनिक शक्ति को प्रतिबंधित ना करे। संघ सरकार आवश्यकतानुसार इस प्रकार के निर्देश भी राज्य सरकार को दे सकती है। इसके अतिरिक्त संघ सरकार राज्यों को निम्नलिखित विषयों पर निर्देश दे सकती है-

1. राष्ट्रीय तथा सैनिक महत्व के यातायात तथा सूचना के साधनों का निर्माण और उनकी देखभाल करना।
2. राज्य में विद्यमान रेलमार्ग की सुरक्षा करना। जब कभी किसी यातायात के साधन के निर्माण अथवा देखभाल करने में अथवा रेलमार्ग की सुरक्षा करने में राज्य सरकार को अतिरिक्त व्यय करना पड़ जाता है, तो भारत सरकार उसका भुगतान राज्य को कर देती है और यदि अतिरिक्त व्यय की राशि के लिए कोई मतभेद हो जाता है तो भारत को मुख्य न्यायाधीश के द्वारा नियुक्त मध्यस्थ इसका निर्णय करता है; अनुच्छेद- 257।
3. परिगणित जनजातियों के हित के लिए बनाई गई योजनाओं को लागू करना; अनुच्छेद- 339।

9.3.2 संघ सरकार द्वारा दिए गये निर्देशों का पालन करने में असफल रहने का प्रभाव

संघ सरकार को संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों के अन्तर्गत समान्य तथा असामान्य अवस्थाओं में जो निर्देश देने की शक्ति दी गयी है, उसके परिणामस्वरूप यह भी बात सामने आती है कि यदि संविधान के किसी भी प्रावधान के अन्तर्गत भारत सरकार द्वारा दिए गये निर्देशों का पालन राज्य सरकार नहीं करती, तो राष्ट्रपति यह मान सकता है कि राज्य सरकार संविधान के अनुच्छेद- 365 के अन्तर्गत किये गये प्रावधान के अनुसार कार्य करने के समर्थ नहीं है। जैसे ही यह घोषणा की जायेगी, राज्य सरकार अनुच्छेद- 356 के अन्तर्गत बरखास्त कर दी जायेगी। इस आधार पर राज्य की विधान सभा या तो निलम्बित की जा सकती है, या भंग की जा सकती है।

9.3.3 संघ द्वारा राज्यों की शक्ति देने का अधिकार

भारतीय संविधान की मूलभूत विशेषता यह है कि यह सहकारी संघ प्रणाली पर आधारित है। भारत सरकार के 1935 के विधान के समान यह संघ को यह अधिकार प्रदान करता है कि वह प्रतिबन्ध सहित अथवा प्रतिबन्ध रहित कुछ कार्य राज्य सरकारों को सौंप दें, अथवा राज्य सरकारों को स्वीकृति से इसके अधिकारियों को सौंप दे; अनुच्दछेद- 258।

इसके अतिरिक्त, कुछ मामलों में तो राज्य सरकारों की अनुमति के बिना भी लोक सभा कानूनन अधिकार दे सकती है और राज्य के अधिकारियों को कार्य सौंप सकती है। जो भी ऐसे मामलों में यदि राज्य सरकार को कुछ अतिरिक्त व्यय करना पड़ता है, तो उसको भारत सरकार अदा करती है। यदि होने वाले अतिरिक्त व्यय के विषय में भारत सरकार और राज्य सरकारों में मतभेद हो जाता है तो उसका निर्णय भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा नियुक्त मध्यस्थ के द्वारा किया जाता है। इस अनुच्छेद के अनुसार जनगणना करवाना, चुनाव के लिए मत-सूची तैयार करवाना और चुनाव करवाना ये तीनों काम राज्य सरकारों को सौंपे हुए हैं।

9.3.4 राज्य सरकारों द्वारा संघ सरकार को कार्य सौंपने की शक्ति

मूलतः संविधान में कोई ऐसा प्रावधान नहीं है, जिसके अनुसार एक राज्य सरकार कुछ कार्य भारत सरकार के किसी अंग को सौंप सके। सम्भवतः संविधान निर्माताओं ने यह कभी नहीं सोचा था कि कभी ऐसी भी घटना हो सकती है। केन्द्र सरकार ने जब उड़ीसा सरकार की ओर से हीराकुण्ड बांध का निर्माण कार्य प्रारम्भ किया और यह

निर्णय किया कि इसकी लागत राज्य सरकार के खातों से खर्च होगी तो लेखा नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक(ऑडिटर जनरल) ने आपत्ति की। उसके पश्चात 1956 में सातवां संविधान संशोधन पारित किया गया और संविधान में अनुच्छेद- 258 ए, जोड़ दिया गया। इस अनुच्छेद के अनुसार राज्य के राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया कि वह सप्रतिबन्ध अथवा अप्रतिबन्ध रूप से कुछ कार्य सौंप दे, जिससे राज्य की प्रशासनिक शक्ति संघीय सरकार के अधिकारियों के पास पहुँच जाये। परन्तु यह सब भी भारत सरकार की अनुमति से ही हो सकता है।

9.3.5 राज्यपालों की नियुक्ति और बर्खास्तगी

राज्यपाल किसी भी राज्य के संवैधानिक प्रमुख होते हैं। राष्ट्रपति इनकी नियुक्ति बरखास्तगी अथवा स्थानान्तरण करता है। वस्तुतः वे शुद्ध रूप से संघीय सरकार की दयाभाव पर निर्भर हैं। इसलिए अनेक बार उन्हें केन्द्रीय सरकार के दबाव के कारण मंत्रिमण्डल को नियुक्त करने तथा पदच्युत करने और विधान सभा की बैठक बुलाने, स्थगित करने तथा भंग करने का कर्तव्य निबाहना पड़ता है। राष्ट्रपति के विचारार्थ विधेयकों को निश्चित करने और राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिए सिफारिश करने के अधिकारों का प्रयोग केन्द्र में सत्ता दल के हितों को ध्यान में रखते हुए करना पड़ता है। इस प्रकार बहुत हद तक केन्द्र, राज्यों की स्वायत्ता को राज्यपालों के द्वारा नष्ट कर देता है।

9.3.6 राज्य सरकारों को बरखास्त करना

संघीय सरकार को अनुच्छेद- 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन लागू करने की अत्यन्त महत्वपूर्ण शक्ति दी गयी है। यद्यपि इसमें यह अवश्य है कि यदि राष्ट्रपति सन्तुष्ट हो जाता है कि, परिस्थिति ऐसी बन गयी है, जिसमें राज्य की सरकार, संविधान में दिये गये प्रावधान के अनुसार कार्य नहीं कर रही है। इस अनुच्छेद का केन्द्र में शासन करने वाली पार्टी ने बार-बार प्रयोग पक्षपातपूर्ण उद्देश्यों के लिए किया और दूसरी और राज्यों की स्वायत्ता को नष्ट करने के लिए किया। जो भी राज्य सरकार अपने अनूकूल न दिखाई दी, उसे ही पदच्युत कर दिया गया तथा विधान सभाओं को या तो निलम्बित कर दिया गया अथवा केन्द्र में शासन करने वाली पार्टी के हितों को ध्यान में रखते हुए उसे भंग कर दिया गया। उस अनुच्छेद ने वस्तुतः राज्य सरकारों को प्रशासन की दृष्टि से सर्वथा केन्द्र के अधीन बना दिया।

9.3.7 मुख्यमन्त्रियों के विरूद्ध जाँच आयोग

एक दूसरा उपाय जिसके द्वारा संघ सरकार राज्य सरकारों पर पूर्ण प्रशासनिक नियन्त्रण रखती है, वह है केन्द्र सरकार द्वारा मुख्यमंत्रियों के भूल-चूक या अच्छे-बुरे कार्यों के लिए उनके विरूद्ध जाँच-आयोग बैठाना। इस प्रकार का जाँच आयोग सबसे पहले पंजाब के मुख्यमन्त्री प्रताप सिंह कैरों के विरूद्ध संघ सरकार ने 1963 में 'दास आयोग' के नाम से बैठाया था। इसके उपरान्त इस प्रकार के जाँच आयोग बैठाए गये। जैसे 1972 में पंजाब में प्रकाश सिंह बादल के विरूद्ध, 1976 में तमिलनाडु में करूणानिधि के विरूद्ध सरकारिया आयोग, आन्ध्र में वेंगल राव के विरूद्ध विया दलाल आयोग, कर्नाटक में देवराज उर्स के और हरियाण में बंसी लाल के विरूद्ध 1978 में और त्रिपुरा के मुख्यमन्त्री एस0एस0 सेन गुप्त के विरूद्ध 1979 में बर्मन आयोग। 1981 में संघ सरकार ने तमिलनाडु और केरल में स्पिरिट घोटाले के विषय में जाँच करने लिए आयोग की नियुक्ति की थी।

9.3.8 अखिल भारतीय सेवाओं पर नियन्त्रण

संविधान में राज्यों की सेवाओं और केन्द्र सेवाओं का प्रावधान है। तो भी कुछ सेवाऐं ऐसी हैं जो अखिल भारतीय हैं। जैसे- भारतीय प्रशासनिक सेवा, इण्डियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस और भारतीय पुलिस सेवा, इण्डियन पुलिस सर्विस, केन्द्र सरकार इसके अतिरिक्त भी अखिल भारतीय सेवाओं का निर्माण कर सकती है। यदि राज्य सभा उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित करके इस प्रकार की अखिल सेवा के बनाने की सिफारिश करें तो केन्द्र की अनुमति के बिना उन पर कोई भी अनुशासनिक कार्यवाही नहीं की जा सकती।

9.4 केन्द्र राज्य वित्तीय सम्बन्ध

कोई भी सरकार बगैर धन के सुचारू रूप से नहीं चल सकती है। एक परिसंघीय संविधान के अन्तर्गत राज्यों की स्वतंत्रता आवश्यक होती है। यह स्वतंत्रता तभी रह सकती है, जब राज्यों के लिए पर्याप्त वित्तीय व्यवस्था हो। प्रायः सभी मुख्य परिसंघों में वित्तीय व्यवस्था की, राज्यों पर नियंत्रण रखने के लिए भी प्रयोग किया जाता है। इसलिए भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 263 से 293 तक वित्तीय सम्बन्धों पर विस्तृत चर्चा की गयी है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 265 में यह व्यवस्था है कि विधि के प्राधिकार के बिना कोई कर न लगाया जाएगा और न वसूल किया जाएगा। अनुच्छेद- 265 के उपबन्ध प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के करो पर लागू होते हैं। अनुच्छेद- 266 के अनुसार भारत सरकार द्वारा प्राप्त सभी राजस्व, उधार लिया गया धन तथा उद्योग के प्रतिदान में प्राप्त सभी धनों की एक संचित निधि बनेगी, जो भारत की संचित निधि; के नाम से ज्ञात होगी और इसी प्रकार राज्य सरकार द्वारा प्राप्त सभी राजस्व, उधार लिया धन तथा उधार के प्रतिदान में प्राप्त धनों की एक संचित निधि बनेगी, जो राज्य की संचित निधि; के नाम से ज्ञात होगी। भारत सरकार या राज्य सरकार द्वारा प्राप्त अन्य सभी सार्वजनिक धन लोक लेखा में जमा की जाऐगी। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद- 267 में भारत व राज्यों के लिये आकस्मिक निधि की व्यवस्था है, जो अपूर्व दृष्ट, व्यय के लिए क्रमश: राष्ट्रपति व राज्यपालों के हाथ में रखी जाएगी।

भारतीय संघ में संघ और राज्यों के बीच राजस्व वितरण की निम्नलिखित पद्धतियां अपनायी गयी हैं-

9.4.1 संघ द्वारा आरोपित किन्तु राज्यों द्वारा संगहित तथा विनियोजित शुल्क

अनुच्छेद- 268 में यह उपलब्ध है कि ऐसे मुद्रा शुल्क जो औषधीय और प्रसाधन पर, ऐसे उत्पादन शुल्क जो संघ सूची में वर्णित है, भारत सरकार द्वारा आरोपित किये जायेंगे। परन्तु संघ-राज्य क्षेत्र के भीतर उदग्रहीत (levied) किए जाने वाले शुल्क, भारत सरकार द्वारा और राज्यों के बीच उदग्रहीत शुल्क, राज्य सरकारों द्वारा संग्रहीत किये जाऐंगे। जो शुल्क राज्यों के भीतर उदग्रहीत किए जाऐंगे वे भारत की संचित निधि में जमा न होकर उस राज्य की संचित निधि में जमा किए जाऐंगे।

9.4.2 संघ द्वारा उदग्रहीत तथा संग्रहीत परन्तु राज्यों को सौंपे जाने वाले कर

कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार पर कर कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा शुल्क, रेल, समुद्र तथा वायु द्वारा ले जाने वाले माल तथा यात्रियों पर सीमान्त कर, रेल भाड़ों तथा वस्तु भाड़ों पर

कर, शेयर बाजार तथा सट्टा बाजार के आदान-प्रदान पर मुद्राक शुल्क के अतिरिक्त कर, समाचार पत्रों के क्रय-विक्रय तथा उनमें प्रकाशित किए गये विज्ञापनों पर और समाचार पत्रों से अन्य अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार तथा वाणिज्य से माल के क्रय-विक्रय पर कर।

9.4.3 संघ द्वारा उदग्रहीत तथा संग्रहीत किन्तु संघ और राज्यों के बीच वितरित कर

कुछ कर संघ द्वारा आरोपित तथा संग्रहीत किए जाते हैं, किन्तु उनका विभाजन संघ तथा राज्यों के बीच होता है। आयकर का विभाजन संघीय भू-भागों के लिए निर्धारित निधि तथा संघीय खर्च को काटकर शेष राशि में से किया जाता है। आयकर के अतिरिक्त दवा तथा शौक श्रृंगार सम्बन्धी वस्तुवों के अतिरिक्त, अन्य चीजों पर लगाया गया उत्पान शुल्क इसके अन्तर्गत आता है।

9.4.4 संघ के प्रयोजन के लिए कर

अनुच्छेद- 271 में यह उपबन्ध है कि संसद संविधान के अनुच्छेद- 269 और 270 में निर्दिष्ट शुल्कों या करों के अधिभार द्वारा वृद्धि कर सकती है। अधिभार से हुई सारी आय भारत की संचित निधि का भाग होगी। संघ के प्रमुख राजस्व स्रोत इस प्रकार हैं- निगम कर, सीमा शुल्क, निर्यात शुल्क, कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा शुल्क, विदेशी ऋण, रिजर्व बैंक, शेयर बाजार आदि।

9.4.5 राज्यों के प्रायोजन के लिए कर

अनुच्छेद- 276 के अन्तर्गत राज्यों को वृत्तियों, व्यापारों, अजीविकाओं और नौकरियों पर कर लगाने का प्राधिकार दिया गया है। इससे प्राप्त आय राज्य या उसकी नगर पालिकाओं, जिला वार्डों या स्थानीय बोर्डों के हितों में प्रयोग की जाएगी। राज्यों के मुख्य राजस्व स्रोत हैं- प्रति व्यक्ति कर, कृषि-भूमि पर कर, सम्पदा शुल्क, भूमि और भवनों पर कर, पशुओं और नौकाओं पर कर, बिजली के उपयोग तथा विक्रय पर कर, वाहनों पर चुंगी कर आदि।

9.4.6 राजस्व में सहायक अनुदान

अनुच्छेद- 273 के तहत पटसन व उससे बनी वस्तुओं के निर्यात से जो शुल्क प्राप्त होता है, उसमें से कुछ भाग अनुदान पैदा करने वाले राज्यों- बंगाल, उड़ीसा, बिहार व असम को दे दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद- 275 में उन राज्यों के किए अनुदान की व्यवस्था है, जिनके बारे में संसद यह निर्धारित करे कि उन्हें सहायता की आवश्यकता है।

9.4.7 ऋण लेने सम्बन्धी उपबन्ध

संविधान, केन्द्र को यह अधिकार प्रदान करता है कि वह अपनी सम्पत्ति निधि की साख पर देशवासियों व विदेशी सरकारों से ऋृण ले सके। ऋृण लेने का अधिकार राज्यों को भी प्राप्त है, परन्तु वे विदेशों से उधान नहीं ले सकते। यदि राज्य सरकार पर केन्द्र सरकार का कोई कर्ज बाकी है, तो राज्य सरकार अन्य कहीं से कर्ज केन्द्र सरकार की अनुमति से ही ले सकती है।

9.5 भारत के नियंत्रक एवं महालेखा द्वारा नियन्त्रण

भारत का नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक भारत सरकार तथा राज्य सरकारों के हिसाब का लेखा रखने का ढंग एवं उनकी निष्पक्ष रूप से जाँच करता है। नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक के माध्यम से ही भारतीय संसद राज्यों की आय पर अपना नियंत्रण रखती है।

9.6 वित्तीय संकटकाल

वित्तीय संकटकाल की स्थिति में राज्यों की आय सीमा, राज्य सूची में चर्चित करों तक ही सीमित रहती है। वित्तीय संकट के प्रवर्तन काल में राष्ट्रपति को संविधान के उन सभी प्रावधानों को स्थगित करने का अधिकार है, जो सहायता अनुदान अथवा संघ के करों की आय में भाग बंटाने से सम्बन्धित हो। केन्द्रीय सरकार वित्तीय मामलों में राज्यों को निर्देश भी दे सकती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 276 के अन्तर्गत राज्यों को वृत्तियों, व्यापारों, अजीविकाओं और नौकरियों पर कर लगाने का प्राधिकार दिया गया है। सत्य/असत्य
2. भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 275 में उन राज्यों के किए अनुदान की व्यवस्था है, जिनके बारे में संसद यह निर्धारित करे कि उन्हें सहायता की आवश्यकता है। सत्य/असत्य
3. भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 265 में यह व्यवस्था है कि विधि के प्राधिकार के बिना कोई कर न लगाया जाएगा और न वसूल किया जाएगा। सत्य/असत्य
4. संघीय सरकार को भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन लागू करने की अत्यन्त महत्वपूर्ण शक्ति दी गयी है। सत्य/असत्य

9.7 सारांश

जिस प्रकार से एक गाड़ी को चलाने के लिए उसके दोनों पहियों, के मध्य समन्वय का होना आवश्यक है, उसी प्रकार से केन्द्र तथा राज्यों के मध्य परस्पर समन्वय ही देश को विकास के क्षेत्र में ऊचॉइयों पर ले जा सकता है। स्वतन्त्रता के पश्चात आरम्भिक वर्षों में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य परस्पर सहयोग की भावना थी, किन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया दोनों के मध्य सम्बन्धों में दरारें दिखनी लगी। इसका एक कारण तो यह था कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात सभी में अपने देश की सरकार के प्रति चरम सीमा पर उत्साह था, तथा दूसरा कारण यह था कि ज्यादातर राज्यों में कांग्रेस की सरकार थी तथा केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों के मध्य बड़े भाई तथा छोटे भाई जैसा रिश्ता था। अतः तनाव न के बराबर था। तनाव उत्पन्न हाने का मुख्य कारण राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारों का उदय होना था। धीरे-धीरे समय बीतने के साथ-साथ विभिन्न मुद्दों पर केन्द्र तथा राज्यों के मध्य तनाव बढ़ाने के मुख्य कारणों में राज्यपाल की भूमिका भी मुख्य रही है, क्योंकि राज्यपाल सरकारों में संवैधानिक प्रमुख हाने के स्थान पर केन्द्रीय एजेन्ट के रूप में ज्यादा कार्य करने लगे हैं। तनाव का एक और मुख्य कारण अखिल भारतीय सेवाऐं हैं, जिसके कि सदस्यों को नियन्त्रित करने वाली केन्द्र सरकार होती है, जबकि वो कार्य राज्य सरकारों में करते हैं और बगैर केन्द्र की अनुमति के उनके खिलाफ कड़ी कार्यवाही नहीं कर सकती है। तनाव का एक अन्य

कारण वित्त भी है। कुछ सरकारें केन्द्र से मिले धन को राज्य के विकास में न लगाकर अपने राजनीतिक जनाधार को बढ़ाने में लगी रहती हैं, जिससे कि केन्द्र द्वारा अक्सर ही विरोध प्रकट किया जाता है। इसके अतिरिक्त केन्द्र-राज्यों के मध्य सम्बन्ध केन्द्र में प्रधानमन्त्री की स्थिति के ऊपर भी निर्भर करता है। 1990 के पश्चात केन्द्र में ज्यादातर सरकारें कमजोर रही हैं, उसका सबसे बड़ा कारण सांझा सरकार का होना रहा है। केन्द्र में सरकार राज्यों के क्षेत्रीय दलों के सहयोग से बनायी जा रही हैं, जिसकी वजह से समर्थन देने वाली पार्टी से केन्द्र सरकार ब्लैक-मेल होती रहती है। इसके उदाहरण हमको दिन-प्रतिदिन देखने को मिलते रहते हैं। यदि हमको वास्तव में अपने देश को तरक्की की राह पर ले जाना है तो केन्द्र सरकारों का राज्यों सरकारों के मध्य विवाद रहित तथा स्वार्थ रहित सम्बन्ध होने चाहिये।

संविधान में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य सम्बन्धों को स्पष्ट रूप से प्रशासनिक, विधायी तथा वित्तीय क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से विभाजित किया गया है और यह विभाजन संघ सूची, राज्य सूची, समवर्ती सूची के माध्यम से किया गया है। इसके अतिरिक्त विशेष परिस्थितियों में भी केन्द्र तथा राज्यों के मध्य सम्बन्धों को बताया गया है। स्पष्ट विभाजन के बावजूद भी विभिन्न क्षेत्रों में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य कठिनाइयॉं आती हैं। यह कठिनाइयॉं वहाँ अवश्य उत्पन्न होती हैं, जहाँ केन्द्र तथा राज्यों में अलग-अलग पार्टी की सरकारें होती हैं। देश की तरक्की के लिए केन्द्र तथा राज्यों के मध्य मधुर सम्बन्ध का होना अत्यन्त आवश्यक है।

9.8 शब्दावली

अपूर्व दृष्ट- पहले से ना सोचा हुआ, उदग्रहित- जो वसूल हो सके

9.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** सत्य, **3.** सत्य, **4.** सत्य

9.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारत का संविधान, ब्रज किशोर शर्मा, 2008, ए प्रेटिंस हाल ऑफ इंडिया प्राइवेट लि0, नई दिल्ली।
2. भारत में लोक प्रशासन, डॉ0 बी0एल0 फाड़िया, 2002, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
3. भारतीय प्रशासन, प्रो0 मधू सूदन त्रिपाठी, 2008, ओमेगा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
4. इंडियन एडमिनिस्ट्रेसन, डॉ0 बी0एल0 फाड़िया और डॉ0 कुलदीप फाड़िया, 2007, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा।

9 .11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. इंडियन एडमिनिस्ट्रेसन, अवस्थी एवं अवस्थी, 2009, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
2. इंडियन पब्लिक एडमिनिस्ट्रेसन, रमेश अरोड़ा, रजनी गोयल, 2001, विश्व प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. भारत का संविधान, डॉ0 जी0एस0 पाण्डेय 2001, यूनिवर्सिटी बुक हाउस, जयपुर।

9.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. केन्द्र तथा राज्यों के मध्य विधायी सम्बन्धों की विवेचना कीजिये।

2. केन्द्र तथा राज्यों के मध्य प्रशासनिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालिये।
3. केन्द्र तथा राज्यों में मध्य वित्तीय सम्बन्धों की व्याख्या कीजिये।
4. केन्द्र तथा राज्यों के मध्य विवाद के क्षेत्रों का वर्णन कीजिये।

इकाई- 10 लोक सेवाऐं- अर्थ, कार्य, आधुनिक प्रवृत्तियाँ और विशेषताऐं

इकाई की संरचना

10.0 प्रस्तावना
10.1 उद्देश्य
10.2 लोक सेवाऐं- अर्थ एवं परिभाषा
10.3 लोक सेवाओं का उद्-भव
    10.3.1 प्राचीन काल
    10.3.2 मौर्य तथा गुप्त काल
    10.3.3 मुगल काल
    10.3.4 ब्रिटिश शासन काल
10.4 लोक सेवाओं के कार्य
10.5 लोक सेवाओं की आधुनिक प्रवृत्तियाँ
10.6 लोक सेवाओं की विशेषताऐं
10.7 सारांश
10.8 शब्दावली
10.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
10.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
10.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
10.12 निबंधात्मक प्रश्न

10.0 प्रस्तावना

लोक प्रशासन विषय के रूप में अध्ययन हेतु लोक सेवाओं के बारे में जानना नितान्त आवश्यक है वरना विषय अधूरा रह जायेगा।

राज्य के बढ़ते हुये कार्यों के साथ कार्मिक वर्ग का योग एवं महत्व भी बढ़ता जा रहा है। पहले सरकारें प्रबन्ध नीति में विश्वास करती थीं एवं अपने कार्यों को केवल समाज में कानून व्यवस्था बनाये रखने तक ही सीमित रखती थीं, उस समय तो कर्मचारी-वर्ग में कार्य भी कुछ उद्देश्यों तक ही सीमित थे। परन्तु विज्ञान तथा शिल्पकला की प्रगति से विकासशील देशों में राज्य की क्रियाओं में असाधारण रूप में वृद्धि हुई है। वैश्वीकरण के दौर में सुशासन हेतु राज्य जन्म से मृत्यु-पर्यन्त मानवीय कल्याण में वृद्धि करता है। राज्य की क्रियाऐं अत्यन्त विस्तृत तथा विविध प्रकार की हो गयी हैं। राज्य, समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए कल्याणकारी योजनाओं का निर्माण करता है। इन योजनाओं के सफलतम क्रियान्वयन एवं अनुपालन को सुनिश्चित करने हेतु राज्य लोक सेवकों के माध्यम से नागरिकों तक पहुँचाता है।

मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास का इतिहास मनुष्य के अदम्य साहस, संघर्ष और जीजिविशा(जीने की इच्छा) का दर्पण है, दर्पण वर्तमान काल होता है। इसके माध्यम से सही एवं ताजी आकृति दिखाई देती है। वर्तमान कल्याणकारी राज्य के प्रवर्तन में सभ्यता का विकास एवमं विनाश पूर्णतः लोक सेवाओं तथा इसमें कार्यरत

कार्मिकों पर निर्भर करता है। प्रो0 डब्लू बी0 डोन हैम ने कहा है यदि हमारी वर्तमान सभ्यता का पतन हुआ, तो ऐसा मुख्यतः प्रशासन की विफलता का कारण होगा। राज्य, प्रशासनिक अधिकारियों एवं लोक सेवकों के माध्यम से ही अपने बढ़े हुए उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। देश का संविधान, नीति निमार्ता, मंत्रीगण कितने भी अच्छे क्यों न हो, परन्तु बिना दक्ष सेवी-वर्ग के उस देश का शासन सफल नहीं हो सकता है। राज्य की नीतियां कितनी ही अच्छी क्यों न हो, उसके अच्छे परिणाम तभी निकल सकते हैं, जब उन्हें कुशलतापूर्वक एवं सत्यनिष्ठा के साथ क्रियान्वित किया जाये।

लोक सेवा के महत्व का प्रतिपादन प्रो0 ऑग ने कुछ इस प्रकार कहा है सरकार का कार्य केवल राज्य सचिव तथा विभागों के अन्य प्रधानों, मण्डलों के सभापति, संसदीय अवर सचिवों, कनिष्ठ अधिपति तथा विशिष्ठ अधिपति। दूसरे शब्दों में मन्त्रीगण द्वारा पूर्ण नहीं किया जा सकता है। इन लोगों से यह आशा नहीं की जाती है कि वे कर एकत्र करें एवं लेखा परीक्षण, कारखानों का निरीक्षण, जनगणना आदि कार्य करें, हिसाब रखने, डाक के वितरण और समाचार ले जाने की तो बात ही दूर है। ऐसे बहुमुखी कार्य तो उन अधिकारियों द्वारा किये जाते हैं, जिन्हें स्थायी लोक सेवक कहा जाता है। स्त्री-पुरूषों का यह विशाल समूह ही राष्ट्र के एक छोर से दूसरे छोर तक विधि का पालन करता है और इन्हीं के द्वारा जनसाधारण नित्यप्रति राष्ट्रीय सरकार के निकट सम्पर्क में आता है। जनता की दृष्टि में इस निकाय का महत्व भले ही कम हो, किन्तु मन्त्रालयों के लिए काम करने वालों की यह सेना सरकार के उन उद्देश्यों को, जिनके लिए सरकार विद्यमान है, पूर्ण करने के लिए आवश्यक नहीं है। हरमन फाइनर के शब्दों में, लोक प्रशासन में सेवी-वर्ग को ही सर्वोच्च तत्व माना जाता है। पिफनर के अनुसार सेवी-वर्ग को प्रशासन की आधारशिला कहा जाता है।

उपरोक्त विचारकों के मत से सेवी-वर्ग के कथन में कोई अतिश्योक्ति नहीं है कि सुगठित तथा सुविचारित सेवी-वर्ग प्रशासन ही किसी प्रशासनिक संगठन की सफलता का मुख्य आधार है। फेलिम्स निग्रो का मानना है कि कार्मिकों की कुशलता तथा योग्यता ही संगठन की सफलता को निर्धारित करती है। योग्य तथा प्रतिबद्ध कर्मचारी कमजोर प्रशासनिक व्यवस्था की कमियों को दूर कर उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल रहते हैं, जबकि अयोग्य तथा निकृष्ट कर्मचारी सर्वोत्कृष्ट प्रशासनिक व्यवस्था को भी असफल सिद्ध कर देते हैं।

10.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- लोक सेवाऐं किसे कहते हैं, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- लोक प्रशासन के सन्दर्भ में लोक सेवा के अर्थ से भली-भांति परिचित हो पायेंगे।
- लोक सेवा के उद्-भव एवं विकास के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- लोक सेवाओं के कार्यों से भी भली-भॉति परिचित हो पायेंगे। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक लोक सेवाओं के प्रकृति एवं कार्य क्षेत्र में परिवर्तित प्रारूप से भी ज्ञानार्जित होंगे।
- अंत में लोक सेवाओं की विशेषताओं को भी जान पायेंगे।

10.2 लोक सेवाऐं- अर्थ एवं परिभाषा

लोक सेवा शब्द का प्रचलित अर्थ राज्य की प्रशासनिक सेवा को असैनिक शाखाऐं हैं। ये वे कार्मिक वर्ग हैं, जो शासन की नीतियों, कार्यक्रमों तथा विधियों में क्रियान्वयन में संलग्न हैं, ताकि राज्य की रक्षा, जनकल्याण तथा विकास के लक्ष्य प्राप्त हो सके।

सैनिक सेवा देश के सैनिक प्रशासन से सम्बन्धित होती है तथा असैनिक सेवा असैनिक प्रशासन से। फाइनर के शब्दों में लोक सेवा अधिकारियों का एक व्यावसायिक निकाय है जो स्थाई है, वैतनिक है तथा कार्यकुशल है।

ई0एन0 ग्लैडन ने लोक सेवा की व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की है, प्रशासन के क्षेत्र में तटस्थ विशेषज्ञों का व्यावसायिक निकाय, जो निःस्वार्थ रूप से बिना राजनीतिक दलीय विचारों अथवा वर्ग हितों से प्रभावित हुए राष्ट्र की सेवा में प्राणप्रण से जुटा है। ब्रिटेन में 'लोक सेवा' शब्द का तात्पर्य उन कर्मचारियों से है जो राजनीतिक या न्यायिक पदाधिकारियों के अतिरिक्त ताज; महारानी के वे सेवक जो असैनिक रूप से सेवायोजित हों और जिनका पारिश्रमिक पूर्णतः तथा प्रत्यक्षतः उस धनराशि में दिया जाता है, जो संसद द्वारा इस हेतु स्वीकृत की गयी हो। एल0 डी0 व्हाइट के अनुसार लोक सेवाऐं प्रशासनिक संगठन का ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा सरकार अपने लक्ष्यों को प्राप्त करती है। न्यू वेबस्टर विश्व कोश के अनुसार लोक सेवाओं से आशय निम्नलिखित सेवाओं से है-

1. रक्षा तथा न्यायिक कार्यों के अतिरिक्त वे सभी कार्मिक जो सरकारी प्रशासन में नियुक्त हैं।
2. ऐसी सरकारी सेवा जिसमें कार्मिक का कार्यकाल सुरक्षित है तथा प्रतियोगी परीक्षा के माध्यम से प्रवेश पाता है।
3. सरकारी विनियमों के अधीन गठित सेवा लोक सेवा है।

अमेरिकन विश्व कोश में लोक सेवा को पारिभाषित करते हुए कहा गया है कि लोक सेवाऐं उन संगठित वेतनभोगी कार्मिकों के निकाय को कहते हैं, जो सरकार के अधिकार-क्षेत्र में कार्यरत हैं। ये सेवाऐं तथा इनका नामकरण विभिन्न देशों की परम्पराओं के अनुसार होता है। यद्यपि आधुनिक राज्य में अधिकॉश सेवाऐं लोक सेवाऐं ही हैं, तथापि चुने हुए जनप्रतिनिधि तथा रक्षा कार्मिक 'लोक सेवा' से बाहर माने जाते रहे हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में इस शब्द का प्रयोग अधिक व्यापक रूप में होता हैं, वहाँ संघीय सरकार में जो सरकारी कर्मचारी प्रतियोगिता परीक्षाओं के द्वारा योग्यता के आधार पर नियुक्त किये जाते हैं, उन्हें 'सिविल सर्विस प्रतियोगिता सेवा' अथवा 'वर्गीकृत सेवा' का नाम दिया जाता है। इसी प्रकार विभिन्न राज्यों तथा नगरों की सेवा के लिए प्रतियोगिता परीक्षाओं के आधार पर जो व्यक्ति चुने जाते हैं, उन्हें भी सिविल सर्विस में सम्मिलित किया जाता है।

भारत में 1947 तक प्रतियोगिता के आधार पर चुने गये व्यक्ति 'इण्डियन सिविल सर्विस' के अंग होते थे। ये सैनिक सेवा के व्यक्तियों से पृथक होते थे, किन्तु इंग्लैण्ड की भॉति उस समय तक यहाँ न्यायाधीशों एवं सरकारी, प्रशासकों के पृथक वर्ग नहीं थे। स्वतन्त्रता के बाद इन दोनों को पृथक कर दिया गया है तथा इसे 'भारतीय प्रशासनिक सेवा' का नया नाम दे दिया गया है।

भारतीय दण्ड संहिता की धारा- 21 में लोक सेवक को इस प्रकार परिभाषित किया गया है, सरकारी सेवारत या वेतन पाने वाला अथवा सरकारी कार्य के लिए शुल्क या कमीशन पाने वाला व्यक्ति 'लोक सेवक' की श्रेणी में आता है।

उपरोक्त कथनों के अनुसार लोक सेवकों की कोई निश्चित परिभाषा अभी तक नहीं विकसित हो पायी है। विभिन्न देशों की कार्मिक सेवाऐं तथा पदों का वर्गीकरण स्थानीय संस्कारों एवं पर्यावरण से प्रभावित होती है। सारांशतः

लोक सेवा से तात्पर्य उन सरकारी सेवाओं से है, जिसके पदाधिकारियों को वेतन सरकारी खजाने से प्राप्त होता है एवं जिन पर सरकार अपना नियंत्रण रखती है।

10.3 लोक सेवा का उद्-भव

भारत में 'लोक सेवा' शब्द का प्रारम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आगमन के साथ हुआ है। कम्पनी में कार्यरत व्यापारिक तथा प्रशासनिक कार्मिकों के कार्यों के सम्बोधन हेतु यह शब्द प्रचलन में आया। जबकि लोक सेवाओं का जन्म ईस्वी सन् 06 में चीन में हुआ। वर्तमान में लोक सेवा अनवरत विकास क्रम का परिणाम है। मानव सभ्यता के विकास के साथ ही शासक तथा शासित की प्रवृत्तियॉ विकसित होने लगी थीं। राज्य की शासकीय सत्ता का संचालन नियुक्त कर्मचारी द्वारा ही निष्पादित किया जाता था। इन्हीं को कालान्तर में लोक सेवक कहा जाने लगा एवं इनके द्वारा सम्पन्न कार्यों को लोक सेवाओं की संज्ञा दी गयी। आदि काल से वर्तमान तक की लोक सेवाओं की यात्रा का विभिन्न चरणों में निम्नलिखित रूप स्पष्ट किया जा सकता है-

10.3.1 प्राचीन काल

अनुमानतः पृथ्वी की उत्पत्ति साढ़े चार अरब वर्ष पूर्व हुई, परन्तु मानव की उत्पत्ति प्रागैतिहासिक काल में आज से तीस लाख वर्ष पूर्व हुई। वर्तमान मानव तीस-चालीस हजार वर्ष पूर्व में विकसित हुए। ज्ञानी, मानव की संतान है। ऐसा माना जाता है कि ईसा से चार से पांच हजार वर्ष पूर्व सभ्य मानव, समाज, परिवार, कबीले तथा शासन करने जैसी अवधारणाओं से परिचित हो चुका था। सिन्धु घाटी सभ्यता लगभग साढ़े तीन हजार से पन्द्रह सौ वर्ष ईशा पूर्व में अस्तित्व में आ गयी थी। मोहन जोदड़ों, हड़प्पा एवं सिन्धु घाटी सभ्यता; 2300 से 1750 ईसा पूर्व में मिले अवशेषों के अभिलेख से स्पष्ट होता है कि मानव सभ्यता के विकास के आरम्भिक चरणों में सुसंगठित शासन एवं प्रशासन था। सिन्धु घाटी सभ्यता को नगरीय संस्कृति का प्रतिरूप माना जाता है जिसमें नगरीय प्रशासन से सम्बन्धित सारे क्रिया-कलापों का समावेश है। निःसंदेह प्रशासन के उत्तरदायित्वों की पूर्ति कुशल तथा प्रतिबद्ध लोक सेवकों; कार्मिकों द्वारा ही होती थी।

वैदिक काल में भारतीय प्रशासन का स्वरूप राजतंत्रात्मक था। राजा को उसके शासन कार्यों में सहयोग एवं सहायता प्रदान करने हेतु एक सभा होती थी। सभा के पदसोपन सिद्धान्त के अन्तर्गत पुरोहित का पद सर्वोच्च एवं प्रमुख होता था। ग्रामीण हितों की रक्षा हेतु ग्रामीण का पद होता था जो ग्राम वासियों के हित एवं सुख-सुविधा के लिए राजा को समयानुसार यथावश्यक परामर्श भी करता था। अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति आवश्यकतानुसार राजा के द्वारा सभा के सदस्यों के परामर्श पर की जाती थी। उत्तर वैदिक काल में राजा की सहायता हेतु मुख्यामात्य की नियुक्ति होने लगी थी। महाकाव्य काल में राजतंत्र तथा गणतंत्र दोनों प्रकार के राज्य थे। केन्द्रीय प्रशासन लगभग अट्ठारह से इक्कीस विभागों के द्वारा संचालित होता था। प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण को बढ़ावा देने के लिए गॉवों के समूह बना दिए जाते थे, जो वर्तमान में तहसीलों एवं जनपदों की तरह कार्य करते हैं। ग्राम, सबसे छोटी इकाई कहलाती थी। दस ग्रामों का 'ग्रामिक', बीस ग्रामों का 'विशंतये' एवं सौ ग्रामों का अधिकारी 'अधिपति' कहलाता था। प्रशासनिक कार्यों के स्वस्थ संचालन हेतु ये अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण रखते थे। कार्मिक प्रशासन का प्रमुख आधार योग्यता थी।

10.3.2 मौर्य तथा गुप्त काल

कौटिल्य द्वारा रचित 'अर्थशास्त्र' प्रशासन के सन्दर्भ में एक प्रमाणिक ग्रन्थ माना जाता है। मौर्य वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमन्त्री आचार्य चाणक्य; कौटिल्य थे। ग्रन्थ के विभिन्न अध्यायों में लोक प्रशासन के बारे में विस्तृत वर्णन किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से प्राचीन भारत में लोक सेवाओं के महत्व तथा कार्मिक प्रशासन की समसामायिक संरचना का आभास होता है। मेगस्थनीज ने भी 'इण्डिका' नामक पुस्तक में उस समय के प्रशासन के बारे में लिखा है कि सारे प्रशासनिक कार्य छः विभिन्न समितियों द्वारा निष्पादित किये जाते थे। प्रत्येक समिति में पॉच सदस्य होते थे। प्रथम समिति हस्तशिल्प कार्य के प्रति उत्तरदायी थी। द्वितीय समिति राज्य में अतिथियों के स्वागत हेतु निर्मित थी, अर्थात जब कोई अतिथि राज्य में आता था तो इस समिति के कर्मचारी उनका स्वागत करते थे। जन्म एवं मृत्यु प्रमाण-पत्र प्रदत्त करने का कार्य एवं दायित्व तृतीय समिति का था। वाणिज्य एवं व्यापार सम्बन्धित कार्यों के लिए चतुर्थ समिति ही जिम्मेदार थी। इनका काम राज्य में सही माप-तौल भी सुनिश्चित करना था। वस्तुओं के उत्पादन एवं गुणवत्ता बनाये रखने का दायित्व पंचम समिति करती थी। कर निर्धारण एवं वसूल करने का कार्य छठी समिति के पास था। कौटिल्य के अनुसार राज्य के सफल संचालन हेतु सप्तांग सिद्धान्त को अनुसरण करना चाहिए। सप्तांग के अन्तर्गत स्वामी; राजा, अमात्य; मंत्री, जनपद; राज्य क्षेत्र, दुर्ग; किला, कोष;वित्त, दण्ड; सेना एवं मित्र; सहयोगी सम्मिलित हैं। मौर्य काल में प्रशासन तंत्र के संचालन हेतु सत्रह वरिष्ठ अधिकारियों की नियुक्त की जाती थी। ये सत्रह अधिकारी-गण विभिन्न विभागों के कार्यों के सुनिश्चित अनुपालन हेतु राजा को सहायता प्रदान करते थे। परामर्शदाता, धर्माधिकारी, सेना प्रमुख, राजा का पुत्र, महलों का रक्षक, राजा का सुरक्षाधिकारी, दण्डनायक, राजस्व एकत्रकर्ता एवं बजट निर्माता, आयुक्त, नगर रक्षक, नगर प्रमुख, खानों का प्रमुख अथवा लोक उपक्रम प्रभारी, समन्वयकर्ता, रक्षा विभाग, किले का रक्षक, सीमाओं का अधिकारी एवं वन अधिकारी क्रमशः होते थे। लोक सेवकों का वर्गीकरण का उल्लेख भी मौर्य काल में मिलता है। इन लोक सेवकों को क्रमानुसार तीन वर्गों में विभक्त किया गया था- उपयुक्त, युक्त एवं तत्पुरूष।

10.3.3 मुगल काल

मुगल साम्राज्य की नींव सन् 1526 में बाबर ने रखी थी। मुगलों की शासन-प्रणाली फारसी एवं अरबी शासन व्यवस्थाओं का मिश्रण थी। मुगल शहंशाह को राजकार्यों में सहायता प्रदान करने हेतु अनेक वरिष्ठ अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। मुगल शासन ने प्रशासन के दृष्टिकोण से सम्पूर्ण राज्य को विभिन्न चरणों में विभक्त कर दिया था। सर्वोच्च स्तर केन्द्रीय प्रशासन का था, इसके अन्तर्गत शहंशाह होते थे। इनकी प्रशासनिक सेवाऐं विभिन्न कार्मिकों द्वारा प्रदत्त की जाती थी। वजीर को प्रधानमन्त्री के समान उच्च स्थल प्राप्त था। फिर दीदान का पद सृजित था जिसको उपमंत्री का अधिकार प्राप्त था। मुशारिफ; मुख्य लेखा अधिकारी, उलेमा; धार्मिक कार्यों के लिए इत्यादि पद हुआ करते थे।

प्रान्तीय स्तर पर जिसको सूबा कहते थे, उस पर नियंत्रण करने वाले को सूबेदार या नाजिम कहते थे। सूबेदार की सहायता हेतु प्रान्तीय दीवान एवं बख्शी भी हुआ करते थे। सूबे को सरकार अर्थात जिलों में बांटा हुआ था। सरकार का अधिकारी फौजदार के नाम से प्रचलित था। फौजदार के अन्तर्गत अमीर; राजस्व अधिकारी, वितिक्ची; राजस्व कागजात तथा खजानदार लोग कार्य करते थे। प्रशासनिक दृष्टिकोण से सरकार परगना में विभक्त था। परगना का सर्वोच्च अधिकारी परगनाधिकारी कहलाता था। परगनाधिकारी को अन्य नामों से भी पुकारा जाता था। जैसे

शिकदोर या शिगदार, परगना के अधीन गाँव होते थे। गाँव को 'भावडाह', 'डिह' या 'नगलाह' भी कहा जाता था। गांवों की देखभाल हेतु मुकदम, लगान वसूली हेतु पटवारी तथा झगड़ों को निपटाने हेतु चौधरी होते थे। पटवारी शब्द आज भी लोक सेवक के रूप में विख्यात एवं प्रचलन में हैं। अकबर के शासन-काल में मनसबदारी प्रथा शुरू हुई। मनसब के मायने रखना या निश्चित करने से है। मनसबदारी शाही सेवा में कार्यरत अधिकारियों की पद, प्रतिष्ठा, सत्ता एवं अधिकार को दर्शाने वाली प्रथा थी। 'आर्मी ऑफ द इण्डियन मुगल्स' पुस्तक के अनुसार मनसबदारी प्रथा को तीन श्रेणियों में बांटा गया था। श्रेणी के अनुसार मनसबदारियों का वेतन भी निर्धारित था। वेतन का विभाग 'दीवना-ए-तन' कहलाता था। 'तनख्वाह' शब्द भी मुगलशासन की देन है। आज के सन्दर्भ में लोक सेवकों को वेतन-मान दिया जाता है। यह शब्द 'तनख्वाह' शब्द का प्रर्यायवाची है। अकबर के नौ रत्नों में एक रत्न अबुल फजल भी थे। इनके द्वारा रचित 'आइने-अकबरी' में लोक सेवकों का कार्य एवं अधिकार वर्णित है। कोतवाल नाम से नियुक्त अधिकारी का वर्णन आइने-अकबरी में किया गया है।

10.3.4 ब्रिटिश शासन काल

आधुनिक लोक सेवाओं के इतिहास को ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के आगमन के साथ ही लिखने की परम्परा प्रारम्भ हुई। कम्पनी द्वारा नियुक्त होने वाला लोक सेवक को 'राइटर' कहते थे। इसका कार्य लिपीकीय गतिविधियाँ एवं रिकार्ड सम्बन्धी कार्यों के निष्पादन से सम्बद्ध रहता था। कम्पनी में दो प्रकार की प्रसंविद एवं अप्रसंविद लोक सेवाऐं हुआ करती थीं। प्रसंविद सेवा का अर्थ है, कि इस प्रकार की सेवाओं में सेवाकर्मी संविदा के रूप में रखे जाते थे। इनमें प्रायः उच्च पद जैसे- लेखाधिकारी, सुरक्षा अधिकारी आदि सम्मिलित थे। ये पद सिर्फ 'अंगेजों' द्वारा ही सुशोभित होते थे। अन्य लोगों अर्थात भारतीयों पर निष्ठा एवं विश्वास पर प्रश्न चिन्ह लगा था। अप्रसंविद सेवा में भारतीय, अंग्रेज, पेरिस के लोग एवं पुर्तगाली भी सम्मिलित थे। प्रारम्भिक दिनों में ये दोनों उपरोक्त प्रकार के लोक सेवक कम्पनी के व्यापारिक कार्यों में हाथ बंटाते रहे। सन् 1765 में मुगल बादशाह शाह आलम ने ईस्ट-इंण्डिया कम्पनी को बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा का दीवान बना दिया, क्योंकि इससे पहले भारतीय प्लासी एवं बक्सर की लड़ाई हार चुके थे। परिणाम स्वरूप उपरोक्त राज्यों से राजस्व एकत्र तथा दीवानी न्याय प्रशासन का दायित्व कम्पनी को मिल गया। यही वह समय था जब कम्पनी व्यापारिक संस्था से शासक बन गयी। सन् 1765 से कम्पनी के अभिलेख में 'सिविल सर्वेन्ट' शब्द प्रयुक्त होने लगा था। गर्वनर जनरल वारेन हेस्टिंग्स भारत में प्रथम रेगूलेटिंग एक्ट- 1773 के द्वारा पारित नियमों के क्रियान्वयन एवं अनुपालन सुनिश्चित करने हेतु आये। इसी समय से कम्पनी के लोक सेवाओं का रूप नौकरशाहीनुमा होने लगा था। इनका कार्य-क्षेत्र भी बढ़ गया था। जैसे- राजस्व एकत्र करना, शॉंति तथा सुरक्षा की स्थापना आदि था। 'राल्फ शेल्डन' सन् 1772 में प्रथम जिला कलक्टर के पद पर आसीन हुए थे। यद्यपि यह पद अगले ही वर्ष समाप्त भी कर दिया गया। 1786 में जिला राजस्व इकाई का जन्म हुआ तथा सन् 1787 में राजस्व एवं दण्ड नायक कार्य संयुक्त करके जिला कलक्टर नियुक्त होने लगे। भारत में लोक सेवाओं में जनक लार्ड कार्नवालिस माने जाते हैं। इन्होंने लोक सेवाओं की संहिता भी तैयार की। इसके अन्तर्गत लोक सेवकों को प्रर्याप्त वेतनमान एवं उत्तरदायी भी बनाया गया। लार्ड वेलेजली के शासन काल में ही फोर्ट विलियम कालेज, नाम की एक संस्था कलकत्ता में, लोक सेवकों के प्रशिक्षण हेतु स्थापना हुई थी। इसमें तीन वर्ष का प्रशिक्षण कम्पनी के अधिकारियों को देने की परम्परा थी। इस प्रशिक्षण संस्थान में अधिकारियों को

भारतीय भाषाओं के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता था। सन् 1813 में लार्ड ग्रेनविले ने योग्यता आधारित भर्ती का प्रस्ताव भी रखा।

आधुनिक योग्यता प्रणाली सन् 1853 में आरम्भ हुई। सन् 1855 में सिविल सर्विस कमीशन के माध्यम से जो कि लन्दन में स्थित था, प्रवेश परीक्षा आयोजित करने लगी। प्रवेश परीक्षा में आयु सीमा 19 से 22 वर्ष की रखी गयी। इसका सारा श्रेय लार्ड मैकाले को जाता। सन् 1864 में पहली बार भारतीय मूल के निवासी सत्येन्द्र नाथ टैगोर ने सिविल सेवा परीक्षा उत्तीर्ण की थी। सन् 1855 से 1921 तक आई0सी0एस0 परीक्षा लन्दन में होती थी। सन् 1922 में लन्दन एवं इलाहाबाद में परीक्षा एक साथ सम्पन्न हुई। लार्ड कैनिंग ने सन् 1859 में विभागीय व्यवस्था शुरू की। इसके अन्तर्गत प्रशासन के कार्यों को विभिन्न शाखाओं के बांटने की शुरूआत हुई। 'एचीसन आयोग' ने पूर्व में प्रचलित दोनों प्रकार की लोक सेवाओं की व्यवस्था को सामाप्त कर अन्य तीन प्रकार की लोक सेवाऐं प्रारम्भ की। ये सेवाऐं- इम्पीरियल सिविल सर्विस, प्रोविन्सियल सिविल सर्विस एवं सब-आर्डिनेट सिविल सर्विस नाम से जानी जाती थीं। इम्पीरियल सिविल सर्विस के अन्तर्गत भर्ती की प्रक्रिया लन्दन में होती थी। बाकी दोनों सेवाओं की भर्ती भारत में होनी शुरू हो गयी थी। प्रान्तों में सांविधिक लोक सेवा को समाप्त करके नई प्रोविन्सियल सिविल सर्विस के अधिकारियों को इम्पीरियल सिविल सर्विस में पदोन्नति दी जाने लगी।

भारतीयों द्वारा इग्लैण्ड तथा भारत में एक साथ सिविल सर्विस आयोजित करने की माँग पर सन् 1912 में इस्लिगंटन आयोग हुआ। आयोग ने भारतीयों के लिए 25 प्रतिशत पद इम्पीरियल सिविल सर्विस में सुरक्षित करने की सिफारिश की। 1919 में गवर्नमेण्ट आफ इंण्डिया एक्ट के तहत दोहरे शासन की शुरूआत हुई। जो सेवाऐं प्रत्यक्षतः सुप्रीम गवर्नमेण्ट के अधीन थीं, उनको केन्द्रीय सेवाऐं माना गया। जैसे- रेलवे, कस्टम आदि। अन्य इम्पीरियल सेवाओं को अखिल भारतीय सेवाओं का नाम दिया गया, जिसके अन्तर्गत इण्डियन सिविल सर्विस, इण्डिया पुलिस, इण्डिया सर्विस आफ इन्जीनियर्स तथा इण्डिया एजूकेशन सर्विस सम्मिलित की गयी। प्रान्तीय सेवाओं को प्रांत के नाम से जाना जाने लगा। सन् 1923 में 'ली आफ फर्नहाम' की अध्यक्षता में बने आयोग की अनुशंसा पर भारत में केन्द्रीय लोक सेवा आयोग की स्थापना 1926 में की गयी। इस आयोग के गठन का उद्देश्य लोक सेवाओं में सुधार का था।

भारत सरकार अधिनियम, 1935 के माध्यम से शासन तथा प्रशासन को उत्तरदायित्वपूर्ण बनाया गया। 15 अगस्त 1947 को भारत एक स्वतंत्र राष्ट्र घोषित हुआ। फलस्वरूप ब्रिटिश काल में बना इम्पीरियल सेक्रेटेरिएट सन् 1950 में केन्द्रीय सचिवालय कहलाने लगा।

स्वतंत्रता के पश्चात 26 जनवरी, 1950 से संघीय लोक सेवा आयोग का नाम बदल कर संघ लोक सेवा आयोग पड़ा तथा इण्डियन सिविल सर्विस; आई0सी0एस0 को इण्डियन एडमिनिस्टेटिव सर्विस नाम दिया गया। ब्रिटिश कालीन लोक सेवाओं का विकास दो शताब्दियों के संक्रमणकाल से गुजरा था। ब्रिटिश शासन में सिविल सेवाओं में महिलाओं का स्थान नहीं था। दिनांक 18 जुलाई 1948 से भारत में महिलाओं को सिविल सर्विस के अनुमति दी गयी तथा 1949 में कर्नाटक की चोनिरा वेलिप्पा मुथम्मा भारतीय विदेश सेवा की प्रथम महिला अधिकारी बनी। सन् 1950 में एना राजम जार्ज, प्रथम महिला आई0ए0एस0 अधिकारी बनी तथा सन् 1972 में किरण बेदी प्रथम महिला आई0 पी0एस0 अधिकारी बनी।

10.4 लोक सेवा के कार्य

वर्तमान में विश्व की किसी भी शासन व्यवस्था में लोक सेवाओं के बगैर शासन की नीतियों एवं कार्यक्रमों के संचालन की कल्पना तक नहीं की जा सकती है। आधुनिक समय में लोक सेवा को अनेक प्रकार के कार्य करने होते हैं। मुख्य रूप से इनके कार्यों का विभाजन तीन प्रकार से किया जा सकता है- प्रशासनिक, विधायी एवं न्यायिक। अरस्तू के अनुसार राज्य जीवन के लिए अस्तित्व में आया और अच्छे जीवन के लिए उसका अस्तित्व बना हुआ है। स्पष्ट है कि वर्तमान शासन व्यवस्थाओं में राज्य के कंधों पर जन-कल्याण तथा सुरक्षा के दायित्व हैं, जिनके क्रियान्वयन का माध्यम लोक सेवाऐं ही हैं। लोक सेवाओं में विपुल, योग्य तथा निुपुण कार्मिकों की सहायता से ही शासन की नीतियों, योजनाओं तथा कार्यक्रमों की व्यावहारिक स्तर पर क्रियान्वित सम्भव हो पाती है। लोक सेवा के समस्त कार्यों का वर्णन करना यहाँ सम्भव नहीं है, परन्तु इनके द्वारा निष्पादित मुख्य कार्यों का विवेचन निम्नलिखित है-

1. **नीति निर्माण-** नीति निमार्ण करना मंत्रियों व संसद का कार्य है। क्योंकि वे जन प्रतिनिधि होते हैं और जनता द्वारा सीधे चुनाव से जीत कर आते हैं जो कि लोकतंत्र का परिचायक भी है। किन्तु व्यावहारिक रूप से नीति-निर्माण में परोक्ष रूप से लोक सेवकों का बहुत बड़ा हाथ होता है। अपने कुशाग्र बुद्धि एवं निपुण होने से ये लोक सेवक, नीति निमार्ण में काफी सहायक होते हैं।
2. **नीति क्रियान्वयन-** नीति निधार्रण के पश्चात उनका क्रियान्वयन अत्यन्त आवश्यक है। इसका सम्पूर्ण दायित्व लोक सेवकों पर ही होता है। कार्यक्रम तभी सफल होते हैं, जब उनको सही रूप से क्रियान्वित किया जाये वरना अच्छी से अच्छी नीतियां कागज के पन्नों में सिर्फ शब्द बन कर रह जाती हैं।
3. **परामर्शकर्ता-** लोक सेवा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य राजनीतिक कार्यपालिका के सदस्यों अर्थात मंत्रीगण को सलाह देना भी है। यद्यपि शासन मंत्रियों द्वारा ही संचालित होता है। परन्तु उनके सफल संचालन का उत्तरदायित्व लोक सेवकों पर ही होता है। मन्त्रियों को शासन प्रणाली तंत्र का बहुत ज्ञान नहीं होता है। प्रशासन के सफल संचालन में अपने विश्वसनीय अधिकारियों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। रैमजेम्योर कहते हैं कि सौ में से निन्यानवे मामलों में मन्त्रीगण लोक सेवकों की राय मान लेते हैं और नियत स्थान पर हस्ताक्षर भी कर देते हैं। जोसेफ चैम्बर लेन, बिट्रिश प्रधानमन्त्री ने यहाँ तक कहा है कि मुझे सन्देह है कि आप लोग; लोक सेवक हमारे बिना काम चला सकते हैं, परन्तु मेरा पक्का विश्वास है कि हम लोग; मंत्रिगण आपके बिना काम नहीं चला सकते।
4. **प्रत्यायोजित विधि निर्माण-** वर्तमान में लोक सेवकों को प्रत्यायोजित विधि निर्माण का कार्य भी करना पड़ता है। अधिक कार्य एवं समयाभाव के कारण संसद अनेक जटिल विषयों पर विधि का मूर्तरूप प्रदत्त कर पाती है, जब कि वास्तविक रूप से लोक सेवक ही सूक्ष्म एवं व्यापक रूपरेखा प्रदान करते हैं।
5. **अर्ध-न्यायिक कार्य-** लोक सेवकों को अर्ध-न्यायिक प्रकृति के कार्य भी करने पड़ते हैं। प्रशासनिक कानून तथा प्रशासनिक अधिनिर्णय के फलस्वरूप प्रशासक न केवल प्रशासन करते हैं, अपितु न्याय भी करते हैं। राज्य के कार्य-क्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ प्रशासनिक अधिनिर्णय की मात्रा भी बढ़ती जा रही है।
6. **विकास एवं परिवर्तन में सहायक-** कृषि एवं आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने वाले समस्त उद्योगों का विकास, मशीनीकरण, संसाधनों का समुचित दोहन, आयात-निर्यात में संतुलन, उत्पादन तथा आय में

वृद्धि एवं जीवन स्तर को ऊँचा उठाने में सहायक कारकों को प्रगतिशील बनाये रखने हेतु लोक सेवाओं की भूमिका अहम और सर्वविदित है। आर्थिक एवं सामाजिक विकास प्रत्यक्षतः सम्बद्ध हैं। जे0जे0 स्पेंगलर के मतानुसार सामान्यतः विकास तब माना जाता है, जब वांछनीय तथा प्राथमिक माने जाने वाली वस्तुओं का सूचकांक बढ़ जाए।

7. **राष्ट्रीय एकता में सहायक-** भारत सामाजिक, भौगोलिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विविधताओं से ओत-प्रोत है। जिसमें भाषावाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद तथा साम्प्रदायिकता की सामाजिक समस्याऐं भी विद्यमान है। इन समस्याओं को सुलझाने में लोक सेवकों का बहुत बड़ा योगदान रहता है। लोक सेवकों का कार्यक्षेत्र राष्ट्रीय स्तर के होते हैं एवं तटस्थता तथा समानता के आधार पर कर्य करते हैं जो कि समस्याओं के समाधान में बहुत कारगर होती है।
8. **लोक सेवक के रूप में-** विकासशील एवम लोकतांत्रिक देश में लोक सेवक शब्द अप्रत्यक्ष सेवा करने का नाम है। यहाँ उनसे अपेक्षा की जाती है कि लोक सेवाऐं अपनी भूमिका निभाने के लिए जन-साधारण के साथ तादात्म्य स्थापित करें।

सारांशतः कहा जा सकता है कि आधुनिक कल्याणकारी शासन व्यवस्थाओं में लोक सेवाऐं एक महत्वपूर्ण निकाय हैं, जो सम्पूर्ण विकास तंत्र का मुख्य आधार भी है।

10.5 लोक सेवाओं की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

लोक सेवाओं की प्रवृत्तियाँ समयानुकूल होती हैं। कहने का तात्पर्य है कि राजनीतिक परिवर्तनों, वैज्ञानिक एवं तकनीकी अविष्कारों, मानव मूल्य के नये आयामों एवं परिवर्तित समस्याओं की चुनौती द्वारा इसके लक्ष्य, संगठन, प्रक्रिया, औचित्य इत्यादि को उन्हीं के अनुरूप परिवर्तित किया जाता है। उपरोक्त परिवर्तित परिवेश से उत्पन्न हुई नई समस्याओं को हल करने के लिए लोक सेवाओं की प्रवृत्तियों के बदलाव आज भी परमावश्यक है। वर्तमान में लोक सेवाओं की प्रवृत्तियाँ निम्नवत् हैं-

1. **संख्यात्मक विकास-** लोक सेवा की संख्या में निरन्तर तेजी से वृद्धि हो रही है। पार्किन्स के नियमानुसार सन् 1955 में लोक कर्मचारियों की संख्या में अनवरत वृद्धि से भलीभॉति परिचित हैं। विकसित राष्ट्र, जैसे- संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के संघीय कर्मचारियों की संख्या सन् 1817 में छः हजार पांच सौ के लगभग थी, वहीं 1957 में इनकी वृद्धि तेईस लाख हो गयी थी। पार्किन्स नियम के अनुसार प्रतिवर्ष 5.75 प्रतिशत औसत की दर से नौकरशाही वृद्धि करती है। इसे 'राइजिंग पिरामिड आफ ब्यूरोक्रेसी' के नाम से भी जाना जाता है।
2. **वैज्ञानिक एवं तकनीकी विशेषज्ञ-** लोक सेवा में सरकारी कार्यों की प्रकृति के परिवर्तन के साथ-साथ वैज्ञानिकों एवं तकनीकी विशेषज्ञों की नियुक्ती होने लगी है। सरकार अब अधिकाधिक वैज्ञानिकों, डाक्टरों, अभियन्ताओं, अर्थशास्त्रियों, कृषिशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों को भी नियुक्त करती है।
3. **लोक सेवक की बढ़ती शक्तियाँ-** लोक प्रशासन के उद्-भव काल से लेकर अब तक कई पड़ाव आये, साथ ही साथ इसकी व्याख्या भी बदलती गयी जो पहले संकुचित विचारधारा तक ही सीमित थी। अब वो काफी व्यापक हो गयी है और उसे नवीन लोक प्रबंधन की संज्ञा से परिभाषित किया जाता है। परिणामतः लोक प्रशासन के विस्तार में वृद्धि हुई और उसका कार्य अधिकाधिक प्राविधिक स्वरूप धारण

करता गया है। अब लोक कर्मचारी पहले की भांति केवल पुलिस या राजस्व अधिकारी मात्र नहीं हैं, वरन् विकास कार्यक्रम के अनेक पहलुओं से जुड़े हैं। स्वतन्त्र भारत की आर्थिक तथा सामाजिक कठिनाइयों ने एक कल्याणकारी राज्य तथा समाजवादी समाज की धारणा एवं उसकी स्थापना के विचार को बल दिया है।

4. **तटस्थता-** लोक सेवा का परम्परागत गुण तटस्थता रहा है। तटस्थता का अर्थ है लोक सेवकों को राजनीतिक कार्यों व गतिविधियों से अलग बनाये रखना एवं अपने को निर्लिप्त रखना। आज के परिप्रेक्ष्य में निष्पक्षता का स्थान प्रतिबद्धता ले चुकी है। फलस्वरूप नीति-निर्माण में भी लोक सेवकों की अहम भूमिका रहती है। इनके उपलब्धियों का मूल्यांकन राजनीतिक कार्यपालिका करती है।
5. **सकारात्मक प्रकृति-** लोक सेवकों के चरित्र में काफी परिवर्तन आ गया है। प्रारम्भ में ये नकारात्मक सोच रखते थे एवं नागरिक के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करते थे। वर्तमान में बिल्कुल विपरीत हो रहा है, जो सोच नागरिक के विश्वास एवं विकास में बांधा बनती थी, वही अब उनकी कठिनाइयों के समाधान खोजने एवम मार्ग प्रशस्त करने को तत्पर रहती है।
6. **व्यावसायिक मानदण्ड-** लोक सेवकों में उच्च मनोबल तथा ईमानदारी बनाये रखने हेतु व्यावसायिक मानदण्डों पर काफी बल दिया जाता है। अन्य व्यवसायों जैसे चिकित्सा, पत्रकारिता, विधि आदि की भॉति यदि लोक सेवा भी एक व्यवसाय बन जाता है तो व्यावसायिक मानदण्ड तथा आचरण की संहिताएं शीघ्र ही स्थापित हो जायेंगी।
7. **प्रबन्धक के रूप में-** विकासशील देशों में विकास का लक्ष्य मुख्य है। समाज के प्रत्येक वर्ग को विकास कार्यक्रमों की जानकारी देना एवं उन तक पहुँचाने के लिए विकास कार्यक्रमों का अनुपालन सुनिश्चित करना लोक सेवकों का दायित्व बन गया है।

10.6 लोक सेवा की विशेषताऐं

डॉ0 एल0डी0 व्हाइट के शब्दों में, लोक सेवाऐं प्रशासनिक संगठन का ऐसा माध्यम हैं, जिसके द्वारा सरकार अपने लक्ष्यों को प्राप्त करती है। आधुनिक लोक सेवा की विशेषताऐं निम्नलिखित विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं-

1. **निपुण लोक सेवक-** लोक सेवा ऐसे कार्यकर्ताओं; अधिकारियों का एक व्यवसायिक वर्ग है जो कि प्रशिक्षित, कुशल, स्थायी तथा वेतन भोगी है। लोक सेवकों का कार्य, कुशल रूप से प्रशासन का संचालन करना होता है। प्रशासन का कार्य करना ही लोक सेवकों का पूर्णकालिक प्रशासनिक व्यवसाय है। प्रशासनिक कार्यों के निष्पादन हेतु उन्हें वेतन मिलता है।
2. **पदानुक्रम का सिद्धान्त-** लोक सेवकों का संगठन लोक प्रशासन के पद-सोपान के सिद्धान्त पर आधारित है। इसके अन्तर्गत वरिष्ठ अधिकारी अपने द्वारा दिये गये आदेशों का अनुपालन, अपने अधीनस्थ अधिकारी द्वारा सुनिश्चित कराता है।
3. **तटस्थता का दृष्टिकोण-** लोक सेवकों की यह महत्वपूर्ण विशेषता है। वे राज्य के सेवक होते हैं। इन्हें सत्तारूढ़ दलों की सेवा करनी पड़ती है।
4. **अनामता का सिद्धान्त-** लोक सेवक प्रत्येक कार्य के निष्पादन के पश्चात अनाम ही बने रहते हैं। इनके द्वारा निष्पादित कार्यों का सेहरा जन-प्रतिनिधियों के सर मढ़ता है।

5. **निष्पक्षता-** निष्पक्ष रूप से लोक सेवा का कार्य करना ही निष्पक्षता है। ये समाज के प्रत्येक वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति के लिए बिना पक्षपात के राज्य के आदेशों एवं नियमों को लागू करने से लेकर अनुपालन तक सुनिश्चित करते हैं।
6. **वचनबद्धता-** सत्तारूढ़ दल के कार्यक्रमों के साथ लोक सेवक वचनबद्ध होते हैं। सार्वजनिक अधिकारियों को राजनीतिक दलों का सदस्य बनने एवं उनकी बैठकों में भाग लेने की अनुमति नहीं होती है।
7. **कर्तव्य-** देश के कानून द्वारा लोक सेवकों के कर्तव्यों की व्याख्या की जाती है। अतः उन्हें संविधियों में उल्लिखित न्यूनतम तथा अधिकतम अनुज्ञाओं की सीमाओं के अन्तर्गत कार्य करना होता है।
8. **उत्तरदायी-** जनता के द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी होते हैं। क्योंकि प्रजातंत्र में जनता ही सम्प्रभु होती है।

फाइनर ने अपनी रचना "ए प्रीमियर ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन" में कहा है, कि लोक सेवा का अस्तित्व लाभोपार्जन के लिए नहीं होता है। अतः इसके सदस्यों की प्रेरणा अन्तिम आश्रय के रूप में, वेतन प्राप्त करने की ही होती है, जोखिम उठाकर अधिक धन कमाने की नहीं। दूसरी बात यह कही है कि लोक सेवा सार्वजनिक होती है, अतः इनके कार्यों की दृढ़ एवं सूक्ष्म जाँच की जाती है और वे अस्वीकृत भी किये जा सकते हैं। इस प्रकार से उनकी लोचशीलता तथा तत्परता सीमित हो जाती है और अन्त में लिखते हैं कि लोक सेवकों तथा उनके मन्त्रियों को निरन्तर संसद की आलोचनाओं का सामना करना पड़ता है। इससे उन्हें अवसरों के प्रति सतर्क एवं सन्नद्ध रहने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। अन्ततः इनकी सेवाऐं व्यापक होती हैं। अतः ये अपने स्टाफ सम्बन्धों की ओर विशेष ध्यान दें और इनमें पारम्परिक प्रेम के अभाव अथवा विवाद को दूर करने के लिए सेवा की कोटि के सम्भावित व्यय पर व्यवहार की समानता उत्पन्न करें।

अभ्यास प्रश्न-

1. स्वतंत्रता पश्चात लोक सेवा आयोग का क्या नाम है?
2. आई0सी0एस0 के नाम को बदल कर अब क्या कहा जाता है?
3. लोक सेवाओं का जन्म चीन में हुआ। सत्य /असत्य
4. कौटिल्य द्वारा रचित ग्रन्थ अर्थशास्त्र है। सत्य/असत्य
5. मौर्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य था। सत्य/असत्य
6. मेगस्थनीज की पुस्तक 'इण्डिका' है। सत्य/असत्य
7. कौटिल्य के अनुसार राज्य के सफल संचालन हेतु सप्तांग सिद्धान्त को अनुसरण करना चाहिए। सत्य /असत्य

10.7 सारांश

संगठन को बनाने का एक उद्देश्य होता है। उस उद्देश्य के पूर्ति के लिए मानव संसाधन की भी आवश्यकता पड़ती है। लोक प्रशासन की भाषा में संगठन में कार्यरत कार्मिक को निकाल दें, तो वह एक अमूर्त वस्तु बन जाता है, अर्थात वह पारस्परिक सम्बन्धों की एक ऐसी व्यवस्था मात्र रह जाता है जो संगठन के मस्तिष्क में अथवा कागज पर होती है। संगठन के भीतर विविध पदों पर कार्य करने वाले सामूहिक रूप से प्रथक सेवाओं के नाम से पुकारे जाते हैं।

10.8 शब्दावली

सेवी वर्ग- पिफनर के अनुसार 'सेवी वर्ग' को प्रशासन की आधारशिला कहा जाता है।
इण्डियन सिविल सर्विस- 1947 तक प्रतियोगिता के आधार पर चुने जाते थे। स्वतंत्रता पश्चात इसे भारतीय प्रशासनिक सेवा का नया नाम दिया गया है।

10.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. संघ लोक सेवा आयोग, **2.** आईएएस, **3.** सत्य, **4.** सत्य, **5.** सत्य, **6.** सत्य, **7.** सत्य

10.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. कटारिया, सुरेन्द्र- कार्मिक प्रशासन।
2. शर्मा एवं जैन- लोक सेवीवर्गीय प्रशासन।
3. शर्मा एवं सडाना- लोक प्रशासन।

10.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. योडर, डेल- कार्मिक प्रबन्धन एवम औद्योगिक सम्बन्ध।
2. केरने आर0 सी0- लोक कार्मिक।

10.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. लोक सेवा की परिभाषा दीजिए। भारत में लोक सेवा की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. लोक सेवा के अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र की विवेचना कीजिए।
3. लोक सेवा के विकास पर एक निबन्ध लिखिए।

इकाई- 11 अखिल भारतीय सेवाऐं , केन्द्रीय सेवाऐं, भर्ती एवं प्रशिक्षण

इकाई की संरचना

11.0 प्रस्तावना
11.1 उद्देश्य
11.2 अखिल भारतीय सेवाऐं
    11.2.1 अखिल भारतीय सेवाओं की आवश्यकता एवं ऐतिहासिक विकास
    11.2.2 अखिल भारतीय सेवाओं का गठन
    11.2.3 भारतीय प्रशासनिक सेवा का महत्व
    11.2.4 अखिल भारतीय सेवाओं के कार्मिकों का प्रशिक्षण एवं उसका महत्व
11.3 केन्द्रीय सेवाऐं
    11.3.1 केन्द्रीय सेवाओं में प्रशिक्षण
    11.3.2 भारतीय विदेश सेवा
11.4 भर्ती एवं प्रशिक्षण
    11.4.1 भर्ती का अर्थ
    11.4.2 भर्ती प्रणाली के महत्व एवं मूल सिद्धान्त
    11.4.3 भर्ती की रीतियाँ
    11.4.4 चयन
    11.4.5 योग्यता प्रणाली का मापदण्ड
    11.4.6 प्रशिक्षण
    11.4.7 प्रशिक्षण के प्रकार
11.5 सारांश
11.6 शब्दावली
11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
11.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
11.10 निबंधात्मक प्रश्न

11.0 प्रस्तावना

कार्मिक-वर्ग सरकारी तन्त्र का संचालन करता है। नीति, विधियों, नियमों तथा विनियमों को क्रियान्वित करने के लिए प्रशासन जो भी कार्यवाहियां करता है, वे सब कर्मचारी-वर्ग द्वारा ही की जाती हैं। इनके द्वारा प्रदत्त सेवाओं को अखिल भारतीय सेवाऐं कहा जाता है। अखिल भारतीय सेवाओं का गठन संविधान के अनुच्छेद- 312 के अन्तर्गत किया गया है। इसी को अखिल भारतीय सेवा अधिनियम की संज्ञा दी गयी है।

इनके चयन में तीन चरणों की प्रक्रिया अपनायी जाती है। इन्हें क्रमश: प्रारम्भिक परीक्षा, मुख्य परीक्षा एवं साक्षात्कार।

चयनोपरान्त भर्ती एवं प्रशिक्षण का कार्य प्रारम्भ होता है। भर्ती वह प्रक्रिया है, जिसमें परोक्ष रूप से संगठन का भविष्य निहित होता है, क्योंकि संगठन की सफलता एवं कुशलता कार्मिकों की प्रर्याप्तता पर आश्रित होती है। प्रशिक्षण कार्मिक प्रशासन का अभिन्न अंग है। इसके द्वारा कार्मिकों में आत्म विश्वास, निपुणता, निर्णय की क्षमता आदि में वृहद बढ़ोत्तरी होती है।

11.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के अपरान्त आप-

- अखिल भारतीय सेवाओं के गठन, महत्व एवं सिद्धान्तों के सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- केन्द्रीय सेवाओं के विषय में जान पायेंगे।

11.2 अखिल भारतीय सेवाऐं

अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना की आवश्यकता पर टिप्पणी करते हुए संविधान प्रारूप निर्मात्री समिति के अध्यक्ष डॉ0 भीम राव अम्बेडकर ने संविधान सभा के समक्ष अपने वक्तव्य में कहा था कि यह मानी हुई बात है कि प्रत्येक देश में उसकी प्रशासकीय रचना में कुछ ऐसे पद होते हैं, जो प्रशासनिक स्तर को बनाये रखने के विचार से महत्वपूर्ण हो सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्रशासनिक स्तर, इन पदों पर नियुक्त लोक सेवकों की योग्यता पर निर्भर होता है। संविधान में यह प्रावधान किया गया है कि एक अखिल भारतीय सेवा होगी और केवल उस सेवा के ही सदस्य संघ भर में ऐसे महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किये जा सकेंगे। इस प्रकार अम्बेडकर ने उस योगदान पर बल दिया, जिससे इस प्रकार की सेवा द्वारा संघ और राज्यों के प्रशासन में अधिक कार्यकुशलता उत्पन्न की जा सके।

11.2.1अखिल भारतीय सेवाओं की आवश्यकता एवं ऐतिहासिक विकास

साइमन कमीशन के अनुसार इतने विशाल क्षेत्र में यदि सम्पर्क बनाये रखना है तो केन्द्र तथा प्रान्तों के बीच सेवाओं का उचित चक्र आवश्यक है। ए0डी0 गोरवाला के शब्दों में, राष्ट्रीय एकता की स्थापना में यह सेवा एक मूल्यवान योगदान सिद्ध होगी। प्रत्येक प्रान्त अपने प्रशासन में बहुत से ऐसे तत्वों की एक प्रतिकृति उत्पन्न कर लेगा, जो इस प्राचीन देश की सम्पन्नता में योग देते हैं। एक बड़ा नाटककार ऐसी विश्व सरकार की बात सोचता है, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक देश का स्थानीय प्रशासन उस देश के निवासियों द्वारा ही चलाया जाता है, जिससे प्रशासन निष्पक्ष हो और साथ ही सभी देशों के निवासियों को विश्व एकता की अनिवार्यता का ज्ञान हो सके। हम भारतीय इतने भाग्यशाली हैं कि यदि हम चाहें तो इस प्रयोग को एक बड़े पैमाने पर कार्यान्वित कर सकते हैं। विघटनकारी प्रवृत्तियों को सफलतापूर्वक रोक कर एकरूपता स्थापित कर सकते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि यह सेवा देश भर में प्रशासकीय प्रणाली में समरूपता स्थापित करने में प्रभावशाली एवं आवश्यक है।

भारत में ब्रिटिश काल में 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के समय में ही भारतीय सिविल सेवा की रचना हुई थी। अतः भारत में हमेशा ही सेवाओं का अखिल भारतीय संवर्ग उपस्थित रहा है, जो कि बाद में धीरे-धीरे अखिल भारतीय संवर्गों की संघीय सरकार के विभिन्न विभागों में अधिकारियों का संवर्ग स्थापित हो गया, परन्तु ये सभी सेवाऐं गवर्नन जनरल के नियन्त्रण में न होकर सीधे भारत मंत्री और उसकी परिषद के अधीन थीं। अखिल भारतीय सेवा

के किसी भी पदाधिकारी को 'सपरिषद भारत मंत्री' के अतिरिक्त अन्य कोई अधिकारी सेवा से अपदस्थ नहीं कर सकता था। भारतीय सिविल सेवा के द्वारा इस प्रकार की व्यवस्था की गयी थी कि अखिल भारतीय सेवा के किसी अधिकारी के साथ अनुचित व्यवहार न हो, और यदि हो तो उस अधिकारी को भारत मंत्री से अपील करने का अधिकार प्राप्त होता था एवं प्रान्तीय गवर्नर की जाँच की उपरान्त सही शिकायत के निवारण का भी विधान था। अखिल भारतीय सेवा के अधिकारी के वेतन, पेंशन; सेवानिवृत्ति, वेतन इत्यादि पर किसी भी भारतीय विधान-मण्डल को कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। चूँकि अखिल भारतीय सेवा के अधिकारी लोकमत; जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं थे, अतः अपने विशेषाधिकार से पूर्णतः सुरक्षित भी थे। इसलिए भारतीय शासन अधिनियम; 1919 द्वारा इसमें कुछ सुधार प्रक्रिया को अमल में लाया गया। 1924 में भारत में उच्च लोक सेवा विषयक शाही आयोग; की नियुक्ति की गयी, जिसके सभापति लार्ड के0 ली थे, अतः इसे ली आयोग से भी जाना जाता है। ली आयोग ने कुछ अखिल भारतीय सेवाओं की समाप्ति की अनुशंसा की, जो उन विभागों से सम्बन्धित थी, जिन्हें 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत भारतीयों को 'हस्तान्तरित' कर दिया गया था। जैसे भारतीय शिक्षा सेवा/इण्डियन एजूकेशनल सर्विस, भारतीय कृषि सेवा/इण्डियन एग्रीकल्चरल सर्विस, भारतीय पशु-चिकित्सा सेवा/ इण्डियन वेटरिनरी सर्विस और भारतीय अभियन्ता सेवा की सड़क तथा भवन निर्माण शाखा/ इण्डियन सर्विस ऑफ इंजीनियर्स की रोड्स एवं बिल्डिंग शाखा। लेकिन आयोग ने भारतीय सिविल सर्विस/इण्डियन सिविल सर्विस, भारतीय पुलिस सेवा/इण्डियन पुलिस, भारतीय वन सेवा/इण्डियन फॉरेस्ट सर्विस, भारतीय चिकित्सा सेवा/इण्डियन मेडिकल सर्विस और भारतीय अभियन्ता सेवा की सिंचाई शाखा/इण्डियन सर्विस ऑफ इंजीनियर्स की सिंचाई शाखा को कायम रखने की अनुशंसा और साथ ही इन सेवाओं के निरन्तर भारतीयकरण किये जाने की भी सिफारिश की थी। इसके अतिरिक्त, आयोग ने यह भी सिफारिश की कि यदि किसी विभाग का नियन्त्रण उत्तरदायी भारतीय मंत्रियों को हस्तान्तरित किया जाए तो उस विभाग में उस समय कार्यरत किसी भी ब्रिटिश पदाधिकारी को आनुपातिक पेंशन लेकर सेवानिवृत्त होने का अधिकार होना चाहिए। इन सिफारिशों को क्रियान्वित किया गया था।

1935 के भारत शासन अधिनियम; द्वारा अखिल भारतीय सेवाओं में कुछ अन्य परिवर्तन भी लाए गये। इस अधिनियम की धारा 224 के अनुसार, आई0सी0एस., आई0पी0एस0 और आई0एम0एस0; सिविल की सेवाओं को जारी रखने की व्यवस्था की गयी। 1947 में जब राज्य सत्ता का हस्तान्तरण भारतीयों को किया गया तो केवल दो अखिल भारतीय सेवाऐं अर्थात् आई0सी0एस0 और आई0पी0एस0 में ही भर्ती जारी रखी गयी और आई0एम0एस0 एस0 भर्ती को निलम्बित कर दिया गया। इनमें से आई0सी0एस0 सबसे महत्वपूर्ण और सर्वोच्च श्रेणी की सेवा थी, क्योंकि इनका वेतनमान, उच्च और अधिकार व्यापक होने के साथ-साथ सामाजिक प्रतिष्ठा एवं सम्मान प्राप्त थी, इसी कारण इसे 'हेवेन बौर्न-सर्विस' और 'स्टीम फ्रेम' के नाम से भी जाना जाता था।

चूंकि ब्रिटिश सरकार अपनी शक्ति के लिए अपने लोक सेवकों पर निर्भर करती थी अतः उसने उन्हें वे सभी अनुग्रह, विशेषाधिकार तथा रियायतें प्रदान कर रखी थीं, जिनके फलस्वरूप लोक सेवा को 'एक विशेष' स्थिति प्राप्त हो गयी थी।

सत्ता हस्तान्तरण के दौरान अधिकारियों की सेवा शर्तों के सम्बन्ध में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की सन्तुष्टि के अनुरूप व्यवस्था की गयी। इस प्रकार जुलाई 1947 के भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम; में समुचित गारण्टी संनगीकृत की गयी। पुरानी सेवाओं की गारण्टी देते समय नयी भारत सरकार ने इस बात की आवश्यकता का ध्यान रखा कि इन

सेवाओं के स्थान पर ऐसी सेवा की स्थापना की जाए, जो भारतीयों द्वारा नियन्त्रित हों तथा जिसमें केवल भारतीय पदाधिकारी ही हों। गवर्नन जनरल की कार्यपालिका परिषद में सरदार बल्लभ भाई पटेल तत्कालीन गृह मंत्री थे, जिनके द्वारा 1946 में ही पुरानी आई0सी0एस0 और आई0पी0एस0 के स्थान पर दो नवीन अखिल भारतीय सेवाओं के संगठन के लिए प्रान्तीय सरकारों की स्वीकृति प्राप्त कर ली गयी थी। ये दो नवीन अखिल भारतीय सेवाऐं हैं- भारतीय प्रशासनिक सेवा; आई0ए0एस0 एवं भारतीय पुलिस सेवा; आई0पी0एस0। अखिल भारतीय सेवाऐं हैं- भारतीय प्रशासनिक सेवा (आई0ए0एस0)भारतीय पुलिस सेवा (आई0पी0एस0) और भारतीय वन सेवा (आई0एफ0एस0)।

11.2.2 अखिल भारतीय सेवाओं का गठन

अखिल भारतीय स्तर पर संविधान में सिविल सेवाओं के गठन की व्यवस्था की गयी है। संविधान के अनुच्छेद-312 में इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख है।

अनुच्छेद- 312 संसद को विधि द्वारा संघ और राज्यों के लिए सम्मिलित एक या अधिक अखिल भारतीय सेवाओं के सृजन करने की शक्ति प्रदान करता है। इसके अनुसार यदि राज्य सभा राष्ट्रहित में आवश्यक या इष्टकर समझती है तो राज्य सभा के उपस्थित और मतदान में भाग ले रहे सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित संकल्प द्वारा ऐसी सेवाओं का सृजन कर सकती है और इन सेवाओं की भर्ती तथा नियुक्त व्यक्तियों की सेवा की शर्तो का विनियमन कर सकती है। चूंकि राज्य सभा में विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं, इसलिए इसके समर्थन से नवीन सेवाओं के गठन हेतु राज्यों की सहमति सुनिश्चित हो जाती है। इसी अधिकार के अनुसार अक्टूबर 1951 में 'अखिल भारतीय सेवा अधिनियम' पारित किया गया।

संविधान निर्माण के बाद केवल एक अखिल भारतीय सेवा 'भारतीय वन सेवा' का गठन किया। जबकि भारतीय इंजीनियरिंग सेवा; सिंचाई, शक्ति, भवन निर्माण एवं सड़कें तथा भारतीय चिकित्सा व स्वास्थ्य सेवा के प्रस्ताव को अस्वीकृत किया गया।

संघ सरकार ने अखिल भारतीय सेवा अधिनियम के अनुच्छेद-3 के उप-अनुच्छेद-1 में दिए गये अधिकारों के अन्तर्गत, पुराने नियमों के कई हिस्सों के अर्थहीन हो जाने के कारण, अखिल भारतीय सेवाओं के लिए नवीन नियम एवं उपबन्ध स्थापित किए। इस अधिनियम के प्रभावी होने के पूर्व के क्रियान्वित नियमों को जारी रखा गया, अतः इस प्रकार अखिल भारतीय सेवाओं की सेवा-शर्तों के नियमों के दो वर्ग बन गये। पहले, भारत मंत्री और काउंसिल सहित गवर्नर जनरल द्वारा बनाए गये पुराने नियम, जिनके अन्तर्गत आई0सी0एस0 एवं आई0पी0एस0 पदाधिकारियों की सेवा शर्तें निर्धारित की जाती थीं तथा दूसरे, 1951 के अधिनियम के अनुसार निर्मित नवीन नियम जो कि 'भारतीय प्रशासनिक सेवा' और 'भारतीय पुलिस सेवा' पर लागू किए गये।

1. **भारतीय प्रशासनिक सेवा-** भारतीय प्रशासनिक सेवा; आई0ए0एस0 को पुरानी भारतीय सिविल सेवा का नवीन प्रारूप कहा जा सकता है। यह सेवा अखिल भारतीय सेवा के रूप में केन्द्र सरकार के नियन्त्रण के साथ-साथ राज्य संवर्गों में भी विभाजित है, अतः यह सम्बन्धित राज्य सरकारों के भी प्रत्यक्ष नियन्त्रण में होती है। भारतीय प्रशासनिक सेवा के पदाधिकारियों का वेतन और सेवानिवृत्ति वेतन; पेंशन राज्य सरकारों द्वारा प्रदान किया जाता है, परन्तु इन पर अनुशासनिक नियन्त्रण रखने और दण्डित करने का

कार्य केन्द्र सरकार द्वारा किया जाता है। केन्द्र सरकार अपना यह दायित्व संघ लोक सेवा आयोग की सलाह पर निभाती है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी केन्द्र और राज्य के बीच परिभ्रमण के नियमानुसार प्रतिनियुक्त होते हैं, जिससे केन्द्र और राज्य दोनों ही सरकारों को लाभ होता है। इस प्रणाली को सरकारी भाषा में 'अवधि प्रणाली' अथवा टेन्योर सिस्टम के नाम से जाना जाता है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा की दूसरी विशेषता इसका बहुउद्देशीय स्वरूप का होना भी है। इसमें ऐसे 'सामान्यज्ञ' प्रशासक होते हैं, जिनसे समय-समय पर व्यापक विविधतापूर्ण दायित्व एवं कार्य निभाने की अपेक्षा की जाती है। उदाहरणस्वरूप कानून व्यवस्था का दायित्व, राजस्व वसूली, व्यापार, वाणिज्य या उद्योग का विनियमन, कल्याणकारी कार्यक्रम, विकास तथा प्रसार कार्य आदि। इस प्रकार भारतीय प्रशासनिक सेवा एक बहु-पक्षीय सेवा का स्वरूप ले लेती है।

अखिल भारतीय सेवाओं में से एक 'भारतीय पुलिस सेवा' स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व की सेवा है, जो कि भारतीय प्रशासनिक सेवा से निम्न दो बातों से अलग है- पहला, इसके अधिकतर अधिकारी राज्यों में ही कार्य करते हैं, कारण केन्द्र में पुलिस से सम्बन्धित अधिक पद नहीं होते हैं। दूसरा- इनका वेतनमान और स्तर आई0ए0एस0 से कम है। जबकि इस सेवा के अधिकारी भी इसी सम्मिलित अखिल भारतीय सिविल सेवा परीक्षा के माध्यम से ही नियुक्त किये जाते हैं।

भारतीय पुलिस सेवा के लिए सर्व प्रथम पांच महीने का बुनियादी प्रशिक्षण दिया जाता है। तत्पश्चात विशेष प्रशिक्षण हेतु 'सरदार पटेल राष्ट्रीय पुलिस अकादमी' हैदाराबाद भेजा जाता है। जहाँ इन्हें हथियारों से सम्बन्धित प्रशिक्षण आदि भी दिया जाता है। लगभग एक वर्ष के प्रशिक्षण कार्यक्रम के पाठ्यक्रम में अपराध, मनोविज्ञान, अपराध का पता लगाने में काम आने वाले वैज्ञानिक उपकरण, भ्रष्टाचार निवारक उपाय एवं तत्काल सहायता पहुँचाने के तरीकों आदि का समावेश होता है। तत्पश्चात परिवीक्षाधीन अधिकारी को संघ लोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित परीक्षा में सफलता प्राप्त करनी होती है, उसके बाद ही पुलिस उप-अधीक्षक के पद पर नियुक्ति होती है। यहाँ पर भी नियुक्ति पूर्व एक वर्षीय व्यावहारिक प्रशिक्षण का प्रावधान है।

राज्य संवर्गों में बंटा हर संवर्ग, सम्बन्धित राज्य सरकार के नियन्त्रण में होता है, जो कि मूलतः संघ सरकार के नियन्त्रण में भी होता है। पुलिस सेवा का प्रशासन गृह मंत्रालय करता है, लेकिन इसके कार्मिकों के बारे में सामान्य नीति निर्धारण कार्मिक तथा प्रशासनिक सुधार विभाग के अधीन है।

2. **भारतीय वन सेवा-** अखिल भारतीय सेवाओं में 'भारतीय वन सेवा' का गठन स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद किया गया है। भारतीय वन सेवा सन् 1967 में संसद द्वारा एक अधिनियम पास किए जाने के बाद प्रारम्भ हुई। इसका वेतनमान एवं स्तर दोनों अखिल भारतीय सेवाओं आई0ए0एस0 और आई0पी0एस0 से निम्न है। इस सेवा के लिए अधिकारियों का चयन, संघ लोक सेवा आयोग द्वारा ही अलग से एक परीक्षा आयोजित करके किया जाता है। चूंकि इसकी प्रकृति एवं कार्य में विशिष्टता एवं विशेषज्ञता पायी जाती है, अतः यह सामान्य सिविल सेवा के अन्तर्गत नहीं आती है। इस सेवा का प्रबन्ध भी कार्मिक एवं प्रशासनिक सुधार विभाग के अधीन ही होता है, जो कि सभी अखिल भारतीय सेवाओं में नियुक्ति, अनुशासन एवं सेवा की शर्तों आदि की व्यवस्था करता है। इसका बुनियादी प्रशिक्षण मसूरी में लगभग

तीन महीने का होता है। यह प्रशिक्षण इन्हें अखिल भारतीय एवं केन्द्रीय सेवाओं के चयनित अधिकारियों के साथ ही दिया जाता है। तत्पश्चात परिवीक्षाधीन अधिकारी को देहरादून स्थित 'भारतीय वन संस्थान' में दो वर्ष का सख़्त प्रशिक्षण प्राप्त करना होता है, जिसकी समाप्ति के बाद इन्हें एक और अन्तिम परीक्षा पास करती होती है तभी इन्हें नियुक्ति मिलती है।

भारतीय वन सेवा भी अन्य अखिल भारतीय सेवाओं की भाँति संवर्ग सेवा है। इसके पदाधिकारी भी प्रतिनियुक्ति होकर केन्द्र सरकार की सेवा में आ सकते हैं, परन्तु यह अवधि पूरी होते ही इन्हें अपनी सेवा में वापस जाना पड़ता है।

11.2.3 अखिल भारतीय सेवाओं का महत्व

अखिल भारतीय सेवा देश में सर्वाधिक प्रतिष्ठा वाली सेवा है। सर्वोच्च स्थान प्राप्त होने के कारण इसका महत्व भी बढ़ जाता है। इस सेवा के पदाधिकारी प्रशासकीय शक्ति एवं अधिकारों का पूरी तरह उपयोग करते हैं। चूंकि भारत में संघीय शासन प्रणाली है। अतः इस प्रणाली द्वारा केन्द्र व राज्य दोनों ही सरकारों को लाभ होता है। साथ ही अधिकारियों को भी संघ व राज्य दोनों सरकारों की नीतियों और कार्यक्रमों से परिचय प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार ये अधिकारी संघीय तथा राज्य प्रशासनों के बीच प्रशासकीय समन्वय स्थापित करने के सर्वोत्तम माध्यम सिद्ध हो जाते हैं।

यहाँ यह भी गौरतलब है कि संघीय शासन में संघ और राज्यों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बने होने चाहिए और इसके लिए सबसे महत्वपूर्ण यह है कि अधिकारी तन्त्र पर किसी एक का पूर्ण नियन्त्रण न हो। इस आवश्यकता की पूर्ति प्रशासकीय सेवा के द्वारा की जाती है। क्योंकि भारतीय प्रशासनिक सेवा पर न तो पूर्णतः केन्द्र का नियन्त्रण रहता है और न ही राज्य का नियन्त्रण रहता है। इस सेवा के द्वारा नियुक्त पदाधिकारी को राज्य संवर्ग प्राप्त होता है, जो 'अवधि प्रणाली' (टेन्योर सिस्टम) के अन्तर्गत केन्द्र या अन्य राज्य में प्रतिनियुक्त किए जाते रहते हैं।

अखिल भारतीय सेवाओं में भर्ती प्रक्रिया के अर्न्तगत भारत में अखिल भारतीय तथा केन्द्रीय सेवाओं में भर्ती का कार्य संघ लोक सेवा आयोग, नई दिल्ली द्वारा परीक्षाओं के संचालन के माध्यम से किया जाता है। विदित हो कि 1979 से पहले सिविल सेवा की केवल एक परीक्षा होती थी। 1975 में सरकार द्वारा प्रो0 डी0एस0 कोठारी की अध्यक्षता में नियुक्त समिति की अनुशंसा के आधार पर, 1979 से सिविल सेवा की प्रारम्भिक परीक्षा प्रारम्भ हुई, जिसका उद्देश्य प्रधान परीक्षा/मुख्य परीक्षा के लिए उम्मीदवारों का चयन, छटनी या स्क्रीनिंग करना है। यह परीक्षा प्रायः जून में आयोजित होती है। सिविल सेवा की प्रधान/मुख्य परीक्षा; लिखित और साक्षात्कार द्वारा विभिन्न अखिल भारतीय और केन्द्रीय सेवाओं के पदों के लिए उम्मीदवारों का चयन किया जाता है। यह प्रधान/मुख्य परीक्षा प्रायः दिसम्बर माह में होती हैं। इस परीक्षा में बैठने की न्यूनतम उम्र 21 वर्ष और अधिकतम 30 वर्ष है।

11.2.4 अखिल भारतीय सेवाओं के कार्मिकों का प्रशिक्षण एवं उसका महत्व

भारत सरकार के कार्यक्षेत्र में निरन्तर वृद्धि तथा प्रशासकीय कार्यों के अत्यन्त प्राविधिक, विशिष्टि तथा जटिल रूप धारण करने के कारण लोक सेवकों का प्रशिक्षण बहुत अधिक महत्व रखता है। लोक प्रशासन में प्रशिक्षण का अर्थ कार्मिकों के पदों से सम्बन्धित ज्ञान तथा कौशल में सुधार अथवा वृद्धि के लिए किया गया प्रयास है। साथ ही यह कार्मिकों के दृष्टिकोण तथा मूल्यों को एक खास दिशा में उन्मुख करने का एक माध्यम है।

भारतीय प्रशासनिक सुधार आयोग की रिर्पोट के अनुसार 'प्रशिक्षण मानवीय साधनों में निवेश है। यह मानवीय क्षमता को सुधारने और सेवीवर्ग की कुशलता बढ़ाने का महत्वपूर्ण साधन है।'

अमरीका की 'सेवायोजन समिति' की रिर्पोट के अनुसार प्रशिक्षण एक ऐसी प्रक्रिया है, जो मुख्य रूप से लोक सेवक में वर्तमान तथा भावी कार्य को सम्पन्न करने के लिए गतिशीलता देती है। वह उपयुक्त स्वभाव, विचार, क्रिया, ज्ञान और दृष्टिकोण का उसी के अनुरूप विकास करती है।

अखिल भारतीय और केन्द्रीय सेवाओं के लिए चुने गये प्रत्याशियों को पॉच महीने के आरम्भिक प्रशिक्षण देने के उपरान्त उन्हें उनकी सेवा के अनुरूप विभिन्न संस्थानों में विशेष प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की जाती है।

आरम्भिक प्रशिक्षण में सिविल सेवाओं के लक्ष्य, कर्त्तव्य तथा पेशे की नैतिकता सम्बन्धित सूचनाएं प्रदान की जाती हैं। इनके पाठ्यक्रम का महत्वपूर्ण उद्देश्य उच्च सेवाओं के अधिकारियों को देश के संवैधानिक, आर्थिक व सामाजिक स्वरूप की जानकारी प्रदान करना होता है, जिसके अन्तर्गत उन्हें कार्य सम्पादित करना होगा एवं नीति और उनसे जुड़े कार्यक्रमों का निर्धारण कर उन्हें निर्मित एवं लागू करने के कार्य में योगदान देना होगा। प्रशिक्षण का उद्देश्य इन अधिकारियों को सरकारी तन्त्र एवं लोक प्रशासन के व्यापक सिद्धान्तों की जानकारी देना भी है और साथ-साथ इस प्रकार के प्रशिक्षण से विभिन्न सेवाओं के अधिकारियों के मध्य न केवल समान जनसेवा की भावना पैदा होती है, बल्कि व्यापक रूप से समान दृष्टिकोण के प्रति जुड़ाव भी पैदा हो जाता है।

पांच महीने से इस बुनियादी पाठ्यक्रम के बाद आई0ए0एस0 को छोड़कर अन्य सेवाओं के परिवीक्षाधीन अधिकारी अपनी-अपनी सेवाओं के अनुरूप संस्थागत प्रशिक्षण प्राप्त करने हेतु विभिन्न प्रशिक्षण संस्थाओं में अग्रसर किये जाते हैं परन्तु आई0ए0एस0 के परिवीक्षाधीन अधिकारी अकादमी में ही संस्थागत प्रशिक्षण के दूसरे पाठ्यक्रम में प्रवेश कर जाते हैं।

द्वितीय चरण, व्यावहारिक प्रशिक्षण; राज्य, बुनियादी प्रशिक्षण प्रथम चरण; पांच माह, सेंडविच पाठ्यक्रम, नवीन प्रशिक्षण प्रणाली।

'भारतीय प्रशासनिक सेवा' हेतु 1969 से सरकार द्वारा 'सेंडविच पाठ्यक्रम' जैसे नवीन प्रशिक्षण का आरम्भ किया जा चुका है। इसके अन्तर्गत पहले चरण तथा बुनियादी पाठ्यक्रम के मध्य अधिकारी को राज्य में व्यावहारिक प्रशिक्षण हेतु भेजा जाता है, यह वह राज्य होता है, जिसका उसे संवर्ग प्राप्त है। तत्पश्चात दूसरे चरण में फिर प्रशिक्षण हेतु अकादमी भेजा जाता है। इस प्रकार पूरे प्रशिक्षण में उसे व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दोनों प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसके उपरान्त प्रशिक्षण सम्बन्धी अन्य नियमों को पूरा करने के बाद ही नियुक्ति होती है।

सन् 1970 तक भारत सरकार का कार्मिक प्रबन्ध देखने वाली मुख्य एजेन्सी गृह मंत्रालय थी, जो कि वित्त मंत्रालय के साथ मिल-जुलकर सार्वजनिक सेवाओं का प्रबन्धन करती थी। इसके अन्तर्गत सामान्य सेवा-शर्तें गृह मंत्रालय द्वारा निर्धारित होती थी तथा वित्त सम्बन्धी सेवा शर्तें वित्त मंत्रालय के द्वारा निर्धारित की जाती थीं। परन्तु गृह मंत्रालय कार्मिक प्रबन्ध की मुख्य एजेंसी थी, अतः अखिल भारतीय सेवाओं पर इसका सम्पूर्ण नियन्त्रण था। मंत्रालय विभिन्न सेवाओं में चयन, अनुशासन एवं सेवा-शर्तों के समान स्तर को कायम रखने हेतु सभी सेवाओं पर एक समान रूप से लागू होने वाले विषयों की देख-रेख किया करता था। 1970 के बाद गृह मंत्रालय के कार्मिक विभाग द्वारा 'भारतीय प्रशासनिक सेवा' एवं 'भारतीय वन सेवा' का प्रबन्धन किया जाने लगा तथा 'भारतीय पुलिस सेवा' का प्रबन्धन कार्य गृह मंत्रालय द्वारा ही किया जाता है।

11.3 केन्द्रीय सेवाऐं

केन्द्रीय सेवाऐं, वो सिविल सेवाऐं हैं जो पूरी तरह केन्द्र सरकार के अधीन होती हैं, जबकि अखिल भारतीय सेवाओं पर केन्द्र का पूर्णतः नियन्त्रण नहीं होता है। केन्द्रीय सेवा भी राष्ट्रीय स्तर की सेवा में नियुक्ति तथा सेवा शर्तों के सम्बन्ध में कानून संसद बनाती है। इस सेवा के अन्तर्गत शामिल सेवाऐं हैं- भारतीय राजस्व सेवा, भारतीय रेलवे लेखा सेवा, भारतीय चुंगी तथा केन्द्रीय आबकारी सेवा, भारतीय लेखा तथा संपरीक्षा सेवा, भारतीय प्रतिरक्षा लेखा सेवा, भारतीय डाक सेवा, भारतीय रेलवे यातायात सेवा, सैन्य भूमि एवं छावनी सेवा, भारतीय आयुध कारखाना सेवा तथा केन्द्रीय सूचना सेवा।

केन्द्र सरकार की सविल सेवाओं में नियमित केन्द्रीय सिविल सेवाऐं तथा इनके अतिरिक्त ऐसे बाहरी सिविल पद होते हैं, जिन्हें मिलाकर इसे सामान्य केन्द्रीय सेवा कहा जाता है। इस सेवा के कर्मचारी राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त अपने पद पर बने रहते हैं। केन्द्रीय सिविल सेवाओं और अन्य सिविल पदों को चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है- प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ। इनमें से प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी की केन्द्रीय सेवाओं में भर्ती संघ लोक सेवा-आयोग द्वारा आयोजित 'अखिल भारतीय सिविल सेवा परीक्षा' के माध्यम से होती है।

11.3.1 केन्द्रीय सेवाओं में प्रशिक्षण

केन्द्रीय सेवाओं में प्रथम श्रेणी के पद हेतु 'लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासनिक अकादमी' मसूरी में पांच महीने का बुनियादी/अथवा आरम्भिक पाठ्यक्रम पूरा करना होता है। तत्पश्चात अपनी-अपनी सेवाओं के अनुरूप अन्य संस्थानों में प्रशिक्षण के लिए भेजा जाता है, जहाँ पर उनको सेवा के अनुरूप ही प्रशिक्षण देने की व्यवस्था होती है। इसी दौरान इन्हें व्यावहारिक प्रशिक्षण भी दिया जाता है, जिसके उपरान्त परिवीक्षाधीन अधिकारी को एक विभागीय परीक्षा पास करनी होती है, जिसके विषय उसकी सेवा से सीधे सम्बन्धित होते हैं। फिर इनकी नियुक्ति कर दी जाती है।

केन्द्रीय सेवाओं की सेवा-शर्तों के निर्धारण का कार्य कार्मिक विभाग का है तथा वित्त मंत्रालय द्वारा इन पदों के वेतनमान तथा अन्य वित्तीय पक्षों जैसे- वेतन निर्धारण, वेतन वृद्धि की मंजूरी, पेंशन, ग्रेच्युटी एवं भविष्य निधि में अंशदान आदि विषयों को देखा जाता है।

11.3.2 भारतीय विदेश सेवा

भारतीय विदेश सेवा, प्रथम श्रेणी की एक केन्द्रीय सिविल सेवा है। इस सेवा का गठन स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद किया गया एवं इस पर पूर्णतः केन्द्र सरकार का नियन्त्रण होता है। अखिल भारतीय सिविल सेवा परीक्षा के प्रथम श्रेणी के सफल उम्मीदवारों को इस सेवा में नियुक्त किया जाता है। सिविल सेवाओं में इस सेवा को सर्वाधिक सम्मान, प्रतिष्ठा, उच्चस्तर, वेतन तथा भत्ते मिलते हैं। इसके अधिकारियों को विदेशों में भारतीय मिशनों एवं दूतावासों में नियुक्त किया जाता है।

भारतीय विदेश सेवा का प्रबन्धन विदश मंत्रालय के पास होता है। जिसमें कार्मिक विभाग एवं वित्त मंत्रालय भी शामिल है। भारतीय विदेश सेवा के नवनियुक्त अधिकारी का प्रशिक्षण कार्यक्रम तीन वर्ष का होता है, जिसके अन्तर्गत इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून, राजनय, भूगोल आदि विषयों की जानकारी दी जाती है तथा इन्हें आई0ए0एस0

के परिवीक्षाधीनों के साथ 'संस्थागत प्रशिक्षण' भी दिलाया जाता है। इनके प्रशिक्षण कार्यक्रम में मुख्यतः जिले के व्यावहारिक कार्य, सचिवालय सम्बन्धी कार्य तथा भाषाओं से सम्बन्धित प्रशिक्षण कार्यक्रम शामिल होता है।

11.4 भर्ती एवं प्रशिक्षण

पिछले अध्याय में 'लोक सेवाओं के बारे में विस्तृत चर्चा की जा चुकी है, जो कि कार्मिक प्रशासन का अभिन्न अंग है। 'भर्ती' वह प्रक्रिया है जिसमें परोक्ष रूप से संगठन का भविष्य निहित होता है, क्योंकि प्रत्येक संगठन की सफलता एवं कुशलता कार्मिकों की पर्याप्तता पर आश्रित रहती है। किसी भी देश के लिए, जो कि लोक सेवाओं के लिए कुशल अधिकारियों व कर्मचारियों को प्राप्त करना चाहता है, अत्यन्त आवश्यक है कि वह भर्ती की एक सुदृढ़ एवं युक्तिसंगत नीति अपनाये।

11.4.1 भर्ती का अर्थ

सामान्य अर्थ में 'भर्ती' शब्द को नियुक्ति का समानार्थक माना जाता है। परन्तु, यह सही नहीं है। प्रशासन की तकनीकी शब्दावली में भर्ती का अर्थ किसी पद के लिए समुचित तथा उपयुक्त प्रकार के उम्मीदवारों को आकर्षित करना है।

भर्ती से आशय भावी कर्मचारियों को खोजने एवं उन्हें संगठन में रिक्त कृत्यों के लिए आवेदन करने हेतु प्रोत्साहित करने की प्रक्रिया है।

इडविन बी0 फिलिप्पो के अनुसार, भर्ती का आशय प्रयाप्त मानवशक्ति स्रोतों का विकास करना एवं उनको बनाये रखना है। इसमें उपलब्ध कार्मिकों का एक निकाय स्थापित करना भी सम्मिलित है, ताकि संगठन में अतिरिक्त कार्मिकों की आवश्यता पड़ने पर प्राप्त किया जा सके।

डेल ए0 बीच ने भर्ती एक ऐसी प्रक्रिया माना गया है, जिसके द्वारा कार्य करने को तत्पर भावी कार्मिकों का पता लगाया जाता है और उन्हें नौकरी के लिए आवेदन-पत्र देने को प्रोत्साहित किया जाता है। अतः भर्ती का कार्य संगठन में उपेक्षित मानव शक्ति के पूर्वानुमान बनाये जाने के उपरान्त सम्पादित किया जाता है।

निषेधात्मक और निश्चयात्मक भर्ती की विचारधारा राजनैतिक प्रभाव को समाप्त करने अथवा पक्षपात को रोकने के उद्देश्य से यदि भर्ती की जाती है तो इसे निषेधात्मक विचारधारा का नाम दिया जाता है। प्रारम्भ में जब 'योग्यता प्रणाली' ने 'लूट प्रणाली' का स्थान ग्रहण कर लिया था तो लोक सेवा आयोग को 'लूट की राजनीति' को समाप्त करने का एक अस्त्र समझा जाता था। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु भर्ती प्रक्रिया में सभी व्यक्तियों को लोक सेवा के लिए खुले बाजार में प्रतियोगिता करने के लिए योग्य वर्ग वंचित रह जाता, क्योंकि भर्ती की प्रक्रिया खुले रूप में हो रही थी।

कालान्तर में 'लूट प्रणाली' के द्वारा किये गये निर्णयों पर अंकुश लगने के साथ-साथ भर्ती के सम्बन्ध में सर्वश्रेष्ठ एवं सबसे योग्य सक्षम व्यक्ति को प्राप्त करने पर बल दिया जाने लगा। कार्मिक वर्ग का चुनाव करने वाला अभिकरण सक्रिय होकर योग्य एवं सर्वोत्तम अर्हताओं वाले व्यक्तियों को चुनने लगा। इस विचारधारा को निश्चयात्मक भर्ती की संज्ञा दी जाती है।

11.4.2 भर्ती प्रणाली के महत्व एवं मूल सिद्धान्त

किसी भी संगठन में भर्ती की प्रक्रिया का अत्यधिक विशेष महत्व होता है। इसके द्वारा ही लोक सेवाओं का स्तर एवं योग्यता सुनिश्चित की जाती है और प्रशासनिक संरचना में परिवर्तन लाया जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो भर्ती प्रणाली द्वारा ही प्रशासनिक मशीनरी को जनकल्याणकारी तथा समाजोन्मुख बनाया जाता है। भर्ती ही लोक सेवा का आधार होती है, जो इसे लक्ष्य तक पहुँचाती है, क्योंकि राज्य में सरकार के कल्याणकारी दायित्वों की पूर्ति लोक सेवाओं के माध्यम से होती है। अतः योग्यता आधारित, निष्पक्ष तथा व्यावहारिक भर्ती प्रणाली का महत्व स्वयं सिद्ध हो जाता है।

ओ0 ग्लेन स्टॉल ने अपनी महत्वपूर्ण रचना में कहा है 'भर्ती सम्पूर्ण लोक सेवाओं के ढ़ाँचे की आधार शिला है''। उन्होंने भर्ती को कार्मिक ढ़ाँचे का 'कॉर्नर स्टोन' कहा है। वास्तव में भर्ती की प्रक्रिया में आधारभूत सामग्री उचित होनी चाहिए एवं साथ-साथ यह प्रक्रिया जितनी ईमानदारी से होगी, प्रशासन की सफलता उतनी ही अधिक होगी। भारत में आधुनिक लोक सेवाओं की शुरूआत ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के दौरान सन् 1853 के राजलेख के माध्यम से हुई थी। हॉलांकि इसके पहले भी लोक सेवाऐं थीं, किन्तु उनमें भर्ती का आधार नितांत स्वैच्छित था। जबकि 1853 से योग्यता का सिद्धान्त को अपनाया गया। भारत में भर्ती प्रणाली के मूल सिद्धान्त इस प्रकार हैं-

1. सिविल सेवाओं में भर्ती योग्यता के आधार पर की जाती है। योग्यता की परख खुली प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से होती है। जिसको संचालन कराने का संवैधानिक कार्य 'लोक सेवा आयोग' संस्था का है।
2. लोक सेवा आयोग; भर्ती हेतु संस्था को निर्मित करने में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि यह संस्था राजनीतिक प्रभावों से दूर रहकर एवं निष्पक्ष होकर भर्ती का कार्य करे।
3. भारत में भर्ती की दो प्रक्रियाऐं हैं- प्रत्यक्ष भर्ती और पदोन्नति द्वारा भर्ती। प्रायः पदोन्नति द्वारा भरे जाने वाले पदों का अनुपात सेवा की प्रकृति पर निर्भर करता है।

अखिल भारतीय सेवाओं के 33 प्रतिशत पद राज्य प्रशासनिक सेवाओं के अधिकारियों में से पदोन्नति द्वारा भरे जाते हैं। संघ लोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित प्रतियोगी परीक्षा के माध्यम से, अखिल भारतीय सेवाओं में से अनेक सेवाओं, जैसे- भारतीय विदेश सेवा, भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय पुलिस सेवा और केन्द्रीय सेवाओं की विभिन्न श्रेणियों के लिए एक ही परीक्षा आयोजित होती है। इसमें बैठने वाले की आयु वर्तमान में नवीन सरकार द्वारा प्रत्याशी की उच्चतम आयु 26 वर्ष से बढ़ाकर 30 वर्ष कर दी है। ब्रिटिश 'सामान्य'; जनरल प्रणाली पर आधारित इस परीक्षा में विश्वविद्यालय की स्नातक उपाधि वाला; बी0ए0/बी0एस0सी0 या समकक्ष उपाधि का प्रत्याशी बैठ सकता है। इसके अन्तर्गत पहले एक उच्च स्तर की लिखित परीक्षा ली जाती है, जिसमें प्रत्याशी की बौद्धिक क्षमता एवं किताबी जानकारी का अनुमान लगाया जाता है, तत्पश्चात संघ लोक सेवा आयोग साक्षात्कार के रूप मे व्यक्तित्व एवं चरित्र को आंकने हेतु परीक्षा लेता है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा में चयन हेतु तीन परीक्षाऐं आयोजित की जाती हैं- प्रारंभिक परीक्षा, मुख्य परीक्षा और साक्षात्कार।

भारतीय नागरिक, जिसकी न्यूनतम आयु 21 वर्ष, अधिकतम आयु के सम्बन्ध में भिन्नता है। सामान्य के लिए 30 वर्ष, पिछड़ा वर्ग के लिए 35 वर्ष, अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के लिए 35 वर्ष शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्ति के लिए 40 वर्ष निर्धारित है।

शैक्षिक योग्यता, किसी मान्यता प्राप्त संस्था से स्नातक उपाधि प्राप्त हो, मुक्त और दूरस्थ शिक्षा से प्राप्त डिग्री सामान रूप से मान्य होगी।

परीक्षा के अवसर, सामान्य को चार अवसर, पिछड़ा वर्ग को सात अवसर, अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के लिए कोई सीमा नहीं और शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्ति के लिए सात अवसर होते हैं।

परीक्षा के लिए आवेदन करने वाले यदि परीक्षा में भाग नहीं लेते तो वह अवसर के रूप में नहीं गिना जायेगा। परन्तु यदि प्रारंभिक परिक्षा का एक प्रश्न-पत्र दे देते हैं तो वह एक अवसर माना जायेगा।

11.4.3 भर्ती की रीतियाँ

भर्ती दो प्रकार से की जाती है। प्रत्यक्ष एवं पदोन्नति, सरकारी कर्मचारी-वर्ग की भर्ती दोनों उपरोक्त तरीकों से की जाती है। जब योग्य उम्मीदवारों का चयन खुला रखा जाय तो प्रत्यक्ष भर्ती अथवा सीधी भर्ती कहा जाता है। इसके विपरीत विभाग में कार्यरत कार्मिकों तक ही सीमित करते हुए उन्हें उच्च पद आसीन करने की प्रक्रिया को पदोन्नति कहते हैं। इसे सेवा के अन्दर से की जाने वाली भर्ती कहा जाता है। प्रत्यक्ष भर्ती की प्रणाली का गुण लोकतान्त्रिक सिद्धान्त के अनुरूप है, जिसमें समस्त योग्य व्यक्तियों को सेवा पद प्राप्त करने का समान अवसर प्रदान होता है। दूसरा गुण है कि इस प्रकार के भर्ती प्रक्रिया के द्वारा अधिक विस्तृत स्रोतों के माध्यम से योग्य एवं प्रतिभाशाली लोगों को लोक सेवक बनने का अवसर प्रदान होता है।

अखिल भारतीय सेवाऐं अपने आप में एक अलग वर्ग है। उनके लिए अधिकांश भर्ती प्रतियोगिता परीक्षाओं के आधार पर प्रत्यक्ष रीति से की जाती है। दोनों प्रकार के भर्ती प्रक्रिया में गुण एवं दोष दिखते हैं। उदाहरणार्थ सीधी भर्ती वाला कम आयु का होकर अपने अधीनस्थ को जो आयु में बड़ा है, आदेश का अनुपालन सुनिश्चित कराने की सत्ता रखता है।

वहीं दूसरी तरफ पदोन्नति पाने वाला सेवीवर्ग आधिक कार्य अनुभव एवं आयु का आधार होता है। फलस्वरूप नई भर्ती को संगठन के वातावरण, कार्य-शैली एवं संगठन के प्रति निष्ठा का अनुभव प्राप्त होता है। इनके द्वारा नई प्रत्यक्ष भर्ती को मार्गदर्शन भी प्राप्त होता है, जो कि हमारे समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

व्यावहारिक अनुभव से यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष भर्ती एवं पदोन्नति की रीति में से किसी से भी अकेले ही काम नहीं चल सकता। यदि उच्चतर पदों पर बाहर से बड़े पैमाने पर भर्ती की जाये तो यह सेवाओं के भीतर उपलब्ध योग्यता एवं प्रतिभा का निरादर है और उससे सेवाओं में आजीवन व्यवसाय की धारणा को ठेस लगती है। इसके विपरीत, प्रत्यक्ष भर्ती की पद्धति न अपनाये जाने से भी सेवा का विकास बांधित होता है, क्योंकि उस स्थित में सेवाओं के भीतर आत्मसंतोष की भावना उत्पन्न हो जायेगी और वे प्रतिभागी बन जायेगी।

11.4.4 चयन

चयन, भर्ती का दूसरा सोपान है। आवेदक के आवेदन-पत्र प्राप्त होने के पश्चात यह प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। योग्यतम अभ्यर्थी का चयन करके उसे नियुक्ति के लिए प्रमाणित किया जाता है। कार्मिक प्रशासन के इतिहास में चयन प्रक्रिया में तीन प्रकार की प्रणाली का प्रयोग होता था। ये प्रकार थे- पदों की नीलामी, संरक्षण प्रथा एवं लूट प्रथा।

पदों की नीलामी, फ्रांस में क्रान्ति के पहले पदों की नीलामी होती थी और उच्चतम बोली बोलने वाले को पद दिया जाता था। वर्तमान के सन्दर्भ में यह हास्यापद लगता है, परन्तु इस प्रकार की प्रक्रिया राज्य को आय स्रोत माना जाता था।

संरक्षण प्रथा, अधिकांश राज्यों में संरक्षण प्रथा के माध्यम से कार्मिकों का चयन किया जाता था। इस प्रणाली में वे ही अभ्यर्थी योग्य होते थे जो व्यक्तिगत अथवा राजनीतिक दृष्टिकोण से बहुत प्रिय होते थे।

लूट प्रथा, संयुक्त राज्य अमेरिका में यह प्रचलन प्रारम्भ से ही प्रचलित था। इस प्रथा के अन्तर्गत वे ही कार्मिक योग्य पाये जाते थे, जिनके समर्थन एवं सहयोग से राजनीतिक दल विजयी होता था। जीतने के उपरान्त सत्ताधारी दल अपने ही समर्थकों को पदों पर नियुक्त करते थे। जब कभी अगले चुनाव में राजनीतिक दल जीतता था तो वह पहले वाले विरोधी सभी कार्मिकों को पदच्युत कर देता था।

कालान्तर में जैसे-जैसे लोकतन्त्र विश्व में व्याप्त होता गया, उपरोक्त प्रकार के भर्ती प्रक्रिया पर प्रश्न चिन्ह उठने लगा। अंततः इस प्रकार के भर्ती स्वरूप में बदलाव आया और योग्यता प्रणाली को अपनाया गया। थोड़े ही समय में यह योग्यता प्रणाली सर्वव्यापक रूप से पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गयी।

11.4.5 योग्यता प्रणाली का मापदण्ड

अधिकांश राष्ट्रों में अधिकतर नियुक्तियाँ योग्यता के आधार पर ही की जाती है। कुछ राष्ट्र अपवाद हो सकते है। योग्यता का आंकलन परीक्षण के माध्यम से होता है। अभ्यार्थियों की तुलनात्मक योग्यता और उपयुक्तता की जाँच करने के लिए चार प्रकार के परीक्षण प्रचलित है। लिखित परीक्षा, मौखिक परीक्षा अथवा साक्षात्कार, कार्य कुशलता का प्रत्यक्ष प्रर्दशन तथा शिक्षा एवं अनुभव के मूल्यांकन द्वारा तुलनात्मक चयन।

लिखित परीक्षा, का प्रत्याशियों की योग्यताओं की जाँच करने के लिए सभी देशों द्वारा आमतौर पर उपयोग किया जाता है। हमारे देश में इस परीक्षा का उद्देश्य यह है कि प्रत्याशियों की सामान्य बुद्धिमत्ता अथवा श्रेष्ठता के ज्ञान का पता लगाया जाय। परीक्षाऐं उन विषयों में ली जाती हैं, जो कि स्नातक एवं स्नात्कोत्तर में पढ़ाए जाते हैं। इस प्रकार की परीक्षा के समर्थकों का यह विश्वास है कि श्रेष्ठतर वुद्धि एवं ज्ञान वाले व्यक्ति हर प्रकार का कार्य कर सकते हैं और अपने आपको सभी परिस्थितियों के अनूकूल बना सकते हैं। मैकाले इसी विचारधारा के समर्थक थे।

लिखित परीक्षा में लघु उत्तरीय लिखित परीक्षा द्वारा प्रत्याशी को प्रश्न-पत्र में सौ या अधिक प्रश्नों के उत्तर देने पड़ते हैं। इन प्रश्नों का स्वरूप बहु विकल्पीय उत्तरों पर आधारित होता है। एक प्रश्न के चार उत्तर होते हैं, इन्हीं में से सही उत्तर को निशान लगाना होता है।

निबन्धात्मक परीक्षा में प्रत्याशी को इस प्रकार की प्रणाली में पुछे गये प्रश्नों का उत्तर विस्तृत रूप में लिखना पड़ता है। ये वर्णनात्मक एवं विवेचनात्मक प्रकृति के निबन्ध की परीक्षा होती है। अतः परीक्षा प्रणाली से प्रतिभागी के भावनात्मक तत्व का आंकलन किया जाता है।

लिखित परीक्षा के आधार पर प्रतियोगियों के व्यक्तित्व का पूर्ण परिचय नहीं हो पाता है। अभ्यर्थी लिखित परीक्षा में योग्य सिद्ध हो सकता है, तथापि उसके भीतर धैर्य, अभिक्रम, सर्तकता, निर्णायक क्षमता एवं कार्य करने की गति का सर्वथा अभाव है। जबकि ये गुण एक लोक सेवी के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं आवश्यक है। इस प्रकार से लिखित परीक्षा के उपरान्त मौखिक परीक्षा के द्वारा ही उम्मीदवार का सही मूल्यांकन संभव है।

तकनीकी कार्यों अथवा व्यवसायिक रोजगार के लिए कर्मचारियों की भर्ती करते समय सम्पन्नता अथवा कार्य कुशलता की परीक्षा विधि का उपयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ मुद्रलेखकों, आशुलिपिकों अथवा तकनीकी कार्यों को करने की अपनी प्रवीणता एवं कुशलता का प्रदर्शन करना होता है। प्रत्याशी के चुनाव के लिए उसकी शैक्षणिक योग्यताओं एवं अनुभव का भी मूल्यांकन किया जाता है। ऐसे मूल्यांकन पद्धति में अभ्यर्थी के शारीरिक जाँच भी की जाती है। फलस्वरूप कार्मिक शारीरिक रूप से स्वथ्य है और अपने दायित्वों का निर्वाहन सुचारू रूप से सम्पन्न करेगा।

11.4.6 प्रशिक्षण

प्रशिक्षण, कर्मचारी को यथार्थता का पाठ पढ़ाने, आत्म निर्भर तथा स्वतंत्र बनाने और उसमें निर्णय की क्षमता उत्पन्न करने के लिए प्रशिक्षण बड़ा महत्वपूर्ण है। लोक सेवकों के प्रशिक्षण पर सन् 1944 में ग्रेट ब्रिटेन में गठित समिति ने कुछ उद्देश्य तथा सिद्धान्त निर्धारित किये थे। प्रशिक्षण के पॉच मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

1. प्रशिक्षण के द्वारा लोक सेवकों को कार्य निष्पादन की यर्थाथता एवं शुद्धता को सत्य के रूप में स्वीकार करने लायक बनाये।
2. परिवर्तनशील परिस्थितियों में लोक सेवक अपने आप को समयानुकूल कार्य निष्पादन करने के लिए उपयुक्त हों।
3. लोक सेवक यन्त्रवत न बने रहें। अपने विभाग द्वारा समाज के लिए सम्पादित की जाने वाली सेवा से उसके कार्य का क्या सम्बन्ध हैं? वह अपने विस्तृत संगठन में क्या कार्य सम्पन्न कर रहा है?
4. प्रशिक्षण किसी एक कार्य को सम्पन्न करने के लिए नहीं होना चाहिए वरन् अन्य कार्यों के कुशल निष्पादन हेतु भी तैयार करें।
5. कर्मचारी-वर्ग के मनोबल की ओर गम्भीरता से विचार करें।

11.4.7 प्रशिक्षण के प्रकार

प्रशिक्षण के कुछ महत्वपूर्ण प्रकार निम्नलिखित हैं-

1. **औपचारिक और अनौपचारिक प्रशिक्षण-** विभागाध्यक्षों द्वारा प्रदत्त प्रशिक्षण जो भाषण अथवा अनुदेशों के रूप में होता है, औपचारिक प्रशिक्षण कहलाता है। यह औपचारिक प्रशिक्षण कुछ प्रवीणताओं तथा कार्यविधियों से सम्बन्धित वास्तविक अनुदेशों के रूप में होता है। कर्मचारी को विभाग की कार्य प्रणाली, उसके कार्यों की प्रकृति तथा उस आचार संहिता के बारे में दिये जाते हैं, जिसका कि उसे कार्यालय में पालन करना होता है। कार्य सम्पादन करते-करते जो अनुभव कर्मचारी को प्राप्त होता है, उसको अनौपचारिक प्रशिक्षण कहते हैं। जब वह अपना कार्य सम्पादित करता है, तो उसके बारे में अनेक बातों की जानकारी प्राप्त होती है। लोक प्रशासन में यही परम्परागत प्रशिक्षण होता चला आया है।
2. **अल्पकालीन अथवा दीर्घकालीन प्रशिक्षण-** समय की अवधि इस कौशल की सरलता अथवा कठिनता पर अवलम्वित होती है। सेवीवर्ग के अवधि प्रकृति के बारे में ध्यान रखा जाता है, स्थायी है अथवा अस्थाई।
3. **प्रवेश पूर्व या सेवाकालीन प्रशिक्षण-** सेवा में प्रविष्ट होने से पूर्व जो प्रशिक्षण दिया जाता है, उससे भर्ती के लोग भावी सेवा कार्य के लिए तैयार होते हैं। दूसरे शब्दों में स्कूल कालेजों की सभी शिक्षाऐं पूर्व

प्रवेशीय प्रशिक्षण हैं, क्योंकि इस प्रकार भी लोग प्रायः राजकीय सेवाओं के लिए तैयार किये जाते हैं। उदाहरण के रूप में इंजिनीयरिंग, मेडिकल संस्थाऐं आदि। सेवाकालीन प्रशिक्षण उन लोगों के लिए होते हैं, जो पूर्व से ही सेवा में लगे होते हैं। इस प्रकार के प्रशिक्षण का उद्देश्य कार्य का समुचित एवं श्रेष्ठतम निष्पादन है। ऐसा प्रशिक्षण पदोन्नति के लिए भी आवश्यक होता है। सेवाकालीन प्रशिक्षण तभी दिया जाता है जब वे नौकरी में प्रवेश पा लेते हैं।

4. **विभागीय प्रशिक्षण-** जब स्वतः कार्यालय या विभाग में ही प्रशिक्षण का प्रबन्ध होता है, तब इसको विभागीय प्रशिक्षण कहते हैं। प्रत्येक विभाग अपनी विशेष आवश्यकताओं के अनुसार प्रशिक्षण करता है। इसी प्रकार भारतीय सेवा के लिए प्रशिक्षण संस्था दिल्ली में खोली गयी थी। वह अब मसूरी में है और इसको प्रशासनिक राष्ट्रीय अकादमी के नाम से जानते हैं।
5. **कौशल प्रशिक्षण-** इस प्रशिक्षण का उद्देश्य कर्मचारियों में उस विशेष योग्यता को उत्पन्न करना है, जो विशेष विभागों में सहायक हो सकता है। उदाहरण के लिए शिक्षकों का प्रशिक्षण, इसका उद्देश्य अध्यापन प्रणाली सिखाना है। भारत में भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय विदेश सेवा, भारतीय पुलिस सेवा, भारतीय लेखा प्रशिक्षण तथा लेखा सेवा, आयकर सेवा, केन्द्रीय सचिवालय सेवा प्रशिक्षण संस्थान हैं, जो प्रशिक्षण का कार्य सम्पन्न करते रहते हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1. लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासनिक अकादमी मसूरी में है। सत्य/असत्य
2. 'लूट पद्धति' की शुरूआत कहाँ हुई?
3. भारत में भर्ती कितने प्रकार से की जाती है?
4. प्रो0 एस0 डी0 कोठारी की अध्यक्षता में नियुक्त समिति की अनुशंसा के आधार पर सन् 1979 से सिविल सेवा की प्रारम्भिक परीक्षा शुरू हुई। सत्य/असत्य

11.5 सारांश

उपरोक्त अध्याय के अध्ययन पश्चात हम अखिल भारतीय सेवाओं के स्वरूप से भली-भाँति परिचित हो चुके होंगे। साथ ही साथ केन्द्रीय सेवाओं का भी वर्णन किया गया है। भर्ती एवं प्रशिक्षण को भी लिपिबद्ध किया है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हमने भारत में प्रचलित अखिल भारतीय सेवाओं, केन्द्रीय सेवाओं के बारे में जानने का अवसर प्राप्त हुआ है।

साथ ही साथ राज्यों के लिए, राज्य लोक सेवाओं के बारे में जाना है और इसके साथ में हमने यह भी देखा है कि भारत में लोक सेवकों की भर्ती के कौन से तरीके अपनाये जाते हैं। इसी क्रम में हमने यह जाना है कि पदोन्नति भी भर्ती का एक तरीका है।

11.6 शब्दावली

आई0ए0एस0- भारतीय प्रशासनिक सेवा, आई0पी0एस0- भारतीय पुलिस सेवा, आई0एफ0एस0- भारतीय वन सेवा, आई0एफ0एस0- भारतीय विदेश सेवा, भर्ती- नियुक्ति का समानयिक अर्थ।

11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.सत्य, **2.** संयुक्त राज्य अमेरिका, **3.** दो प्रकार, **4.** सत्य

11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. एस0 डब्लू0 एवं केरने आर0 सी0- लोक कार्मिक।
2. शर्मा एवं सडाना- लोक प्रशासन।
3. योडर, डेल- कार्मिक प्रबन्धन एवम औद्योगिक सम्बन्ध।

11.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. गोयल एस0एल0- पब्लिक परसोनेल एडमिनिस्ट्रेशन।
2. कटारिया सुरेन्द्र- कार्मिक प्रशासन।
3. शर्मा एवं जैन- लोक सेवी वर्गीय प्रशासन।

11.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना के कारकों की व्याख्या कीजिए।
2. सेवीवर्ग नीति की परिभाषा दीजिए। सेवीवर्ग प्रशासन में इसके महत्व की व्याख्या कीजिए।
3. लोक कार्मिक प्रशासन में भर्ती अभिकरणों के कार्य एवं भूमिका की विवेचना कीजिए।
4. प्रशिक्षण से आप क्या समझते हैं? इसके विभिन्न प्रकार क्या हैं?

इकाई- 12 संघ लोक सेवा आयोग और कर्मचारी चयन आयोग

इकाई की संरचना

12.0 प्रस्तावना
12.1 उद्देश्य
12.2 कार्मिक अभिकरण : अर्थ एवं उद्देश्य
12.3 भारत में कार्मिक अभिकरण
12.4 संघ लोक सेवा आयोग
12.4.1 संघ लोक सेवा आयोग का उद्भव एवं विकास
12.4.1.1 प्रथम काल (1926-37)
12.4.1.2 द्वितीय काल (1937-50)
12.4.1.3 तृतीय काल(1950 से अब तक)
12.4.2 संघ लोक सेवा आयोग का संगठन
12.4.3 संघ लोक सेवा आयोग के कार्य
12.4.4 संघ लोक सेवा आयोग की सलाहकार भूमिका
12.4.5 संघ लोक सेवा आयोग की भूमिका का मूल्यांकन
12.5 कर्मचारी चयन आयोग
12.5.1 कर्मचारी चयन आयोग के गठन सम्बन्धी प्रावधान
12.5.2 कर्मचारी चयन आयोग का संगठन
12.5.3 कर्मचारी चयन आयोग के कार्य
12.5.4 कर्मचारी चयन आयोग की भूमिका का मूल्यांकन
12.6 कार्मिक अभिकरणों की भूमिका का मूल्यांकन
12.7 सारांश
12.8 शब्दावली
12.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
12.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
12.12 निबन्धात्मक प्रश्न

12.0 प्रस्तावना

लोक प्रशासन की क्रियाओं को संपादित करने के लिए एक विस्तृत तंत्र की आवश्यकता होती है और तंत्र को सुचारू रूप से चलाने के लिए कार्मिकों की विशाल संख्या की जरूरत पड़ती है। राज्य के कार्यों में अत्यधिक विस्तार होने के कारण लोक सेवकों की महत्ता विगत कुछ वर्षों से काफी बढ़ गई है। लोक प्रशासन की गुणवत्ता एवं प्रभावशीलता इसके कार्मिकों पर निर्भर करती है। लोक सेवकों के पदों की भर्ती के लिए एक ऐसे निकाय की आवश्यकता होती है जो राजनीतिक एवं प्रशासनिक दबाव से मुक्त होकर कार्य कर सके। विकासशील एवं

प्रजातांत्रिक देशों में इस कठिन एवं दुरूह कार्य को लोक सेवा आयोग द्वारा संपन्न किया जाता है। लोक सेवा आयोग लोक सेवाओं में योग्यता को एकमात्र मापदंड मानकर उसे अन्य राजनीतिक संस्थाओं के संभावित दबाबों से बचाता है तथा निष्पक्षता बनाए रखता है। यद्यपि इस प्रकार के आयोग परामर्श दात्री संस्थाओं के रूप मे कार्य करती है, फिर भी इनकी सिफारिशें स्वीकार नहीं की जाती। भारत में संघ लोक सेवा आयोग के महत्व को देखते हुए संविधान निर्माताओं ने इसे संवैधानिक दर्जा प्रदान किया है।

कार्मिक ऐसी धुरी हैं जिनके इर्द-गिर्द चारों ओर प्रशासन घूमता रहता है। भारत मे संघ लोक सेवा आयोग को केन्द्रीय लोक सेवकों की नियुक्ति का कार्य सौंपा गया है तथा राज्य स्तर पर गठित राज्य लोक सेवा आयोग राज्य के लोक सेवकों की नियुक्ति करता है। इसी प्रकार प्रशासन के निचले स्तर के कार्मिकों की नियुक्ति कर्मचारी चयन आयोग के माध्यम से होता है।

इस अध्याय का उद्देश्य पाठकों को भारत में लोक सेवाओं के विविध कार्मिक अभिकरणों से परिचय कराना है। इसमें संघ लोक सेवा आयोग एवं कर्मचारी चयन आयोग के उद्भव एवं विकास, संगठन, कार्य एवं भूमिका के बारे में ज्ञान प्राप्त होगा।

भारत के कार्मिक अभिकरणों की आवश्यकता, क्रम-विकास आदि मुद्दों पर चर्चा से भी पाठकों का ज्ञानवर्धन होगा।

12.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भारत के विविध कार्मिक अभिकरणों के महत्व एवं कार्यों के बारे में जानकारी प्राप्त कर पायेंगे।
- साथ ही आपको संघ लोक सेवा आयोग के उद्भव एवं विकास, संगठन, कार्य एवं भूमिका के बारे में ज्ञान प्राप्त कर पायेंगे। तथा
- कर्मचारी चयन आयोग के गठन सम्बन्धी प्रावधान, कार्य एवं भूमिका से भी आप अवगत होंगे।

12.2 कार्मिक अभिकरण: अर्थ एवं उद्देश्य

किसी संगठन को ऐसे योग्यता प्राप्त कर्मचारियों की पर्याप्त संख्या में नियुक्ति की व्यवस्था करना आवश्यक होता है जो उसके लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक विभिन्न कार्य कर सके। कर्मचारियों की पूर्ति के इस कार्य को भर्ती तथा चयन द्वारा संपन्न किया जाता है। किसी संगठन में लोक सेवकों का चयन सर्वाधिक आवश्यक कार्य है। राज्य के स्वरूप और गतिविधियों के विस्तार के साथ प्रशासन का महत्व भी बढ़ता गया है। आज के संदर्भ में राज्य केवल सतही और विनियामक कार्य ही नहीं करता बल्कि वह लोगों की राज्य के प्रति आकांक्षाओं के अनुरूप आर्थिक विकास को गति देता है और सामाजिक और संस्कृति प्रगति को भी एक परिवर्तित रूप देता है। सरकार के कार्य, परिस्थितियों के अनुसार विगत कई दशकों से परिवर्तित हुए हैं और अब प्रशासन एक गतिमूलक, परिवर्तनमूलक और उद्देश्यमूलक प्रणाली का रूप ले चुका है। इस प्रकार की प्रशासनिक व्यवस्था में कार्मिक अति महत्वपूर्ण हो जाते हैं। कार्मिकों को व्यवसायिक और प्रेरणात्मक रूप से तैयार करने के लिए एक ठोस संगठनात्मक प्रणाली का विकसित होना अत्यावश्यक है और ऐसी संगठनात्मक संरचना की छवि हमें केंद्रीय कार्मिक अभिकरण में दिखाई पड़ती है। केंद्रीय कार्मिक अभिकरण ऐसे ही माध्यम हैं जो सभी महत्वपूर्ण कार्मिक

गतिविधियों को क्रियान्वित करते हैं तथा भावी नीतियों को बनाने में और विकास कार्यक्रमों की योजना बनाने में सही दिशा भी प्रदान करते हैं। कार्मिक अभिकरण सक्रिय कार्मिक नीति बनाने और कार्मिक संबंधी आधुनिक प्रयोगों को लागू करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

12.3 भारत में कार्मिक अभिकरण

भारत जैसे विशाल देश में कार्मिक अभिकरणों की भूमिका काफी महत्वपूर्ण है। भारत चीन के बाद विश्व की सबसे घनी आबादी वाला देश है। पर्याप्त श्रमिक बल, कुशल स्नाकतकों की अपार संख्याव तथा तेज़ी से विकसित होती अर्थव्यवस्था के चलते, रोजगार के अवसरों की ज़रूरत में अत्यधिक वृद्धि हुई है। स्वतंत्रता के पश्चात कार्मिक संबंधी कार्यों का निष्पादन केंद्र स्तर पर गृह मंत्रालय अपनी सेवा तथा स्थापना शाखा के अधिकारियों के माध्यम से करता था। भारत में प्रशासनिक सुधार आयोग की अनुशंसाओं के पश्चात वर्ष 1970 में कार्मिक विभाग की स्थापना की गई थी। उस समय यह मंत्रिमंडल सचिवालय में स्थित था और प्रधानमंत्री के नियंत्रण में कार्य करता था। विविध अध्ययन दलों तथा आयोगों की अनुशंसा के आधार पर इसमें समयानुसार परिवर्तन भी किए गए। अनंतर अखिल भारतीय सेवाओं तथा केंद्रीय सेवाओं के कार्मिकों को नियंत्रित एवं निर्देशित करने, संघीय कार्यालयों के विरुद्ध जन शिकायतों का निवारण करने तथा केंद्र सरकार के सेवानिवृत्त कार्मिकों को पेंशन संबंधी मामलों में कार्रवाई करने के लिए कार्मिक, लोक शिकायत एवं पेंशन मंत्रालय की स्थापना 1985 में की गई थी। 1985 में केंद्रीय सचिवालय के मंत्रालयों में पुनर्गठन करते हुए कार्मिक लोक शिकायत तथा पेंशन मंत्रालय की स्थापना की गई। यह मंत्रालय प्रधानमंत्री के प्रत्यक्ष नियंत्रण में कार्य करता है, जिसकी सहायता के लिए राज्यमंत्री और उप मंत्री नियुक्त होते हैं। कार्मिक, प्रशिक्षण, प्रशासनिक सुधार, लोक शिकायत एवं पेंशन भोगी कल्याण मंत्रालय में तीन अलग-अलग विभाग शामिल हैं: कार्मिक और प्रशिक्षण विभाग, प्रशासनिक सुधार और लोक शिकायत विभाग तथा पेंशन और पेंशन भोगी कल्याण विभाग।

इसके साथ ही, भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 315 के अधीन गठित एक संवैधानिक प्राधिकरण के रूप में संघ लोक सेवा आयोग उच्च सिविल सेवा के अधिकारियों तथा संघ सरकार के संबंधित अन्य पदों की परीक्षा और साक्षात्कार के माध्यम से अधिकारियों की भर्ती करने के अलावा केंद्रीय कार्मिक प्रशासन की संरचना में एक सलाहकार की भूमिका भी निभाता है। राज्य स्तर पर यह व्यवस्था राज्य लोक सेवा आयोग द्वारा संपादित की जाती है। संघ लोक सेवा आयोग, राज्य लोक सेवा आयोग और कर्मचारी चयन आयोग विभिन्न सेवाओं एवं पदों पर भर्ती के लिए प्रतियोगी परीक्षाएं आयोजित करते हैं।

भारत के संविधान में लोक सेवा आयोगों के तीन वर्गों पर विचार किया है। संविधान के अनुच्छेद 315 से 323 में एक 'संघीय लोक सेवा आयोग' और राज्यों के लिए 'राज्य लोक सेवा आयोग' के गठन का प्रावधान है। संघ लोक सेवा आयोग संघ सरकार की सेवाओं संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा, एक संयुक्त लोक सेवा आयोग दो या अधिक राज्यों की और राज्य लोक सेवा आयोग एक राज्य की सेवाओं संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। संघ लोक सेवा आयोग और राज्य लोक सेवा आयोग तो सांविधानिक निकाय हैं, परन्तु संयुक्त लोक सेवा आयोग का निर्माण संसद के अधिनियम द्वारा ही हो सकता है।

12.4 संघ लोक सेवा आयोग

लोक सेवकों की नियुक्ति के संबंध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एक निष्पक्ष संस्था की स्थापना है, जो राजनीतिक और प्रशासनिक दबाव से मुक्त होकर कार्य करे। साथ ही नियुक्तियां समय पर हो तथा मापदंड योग्यता पर आधारित हो, इन्हीं सारी बिंदुओं के परिप्रेक्ष्य में भारत में संघ लोक सेवा आयोग की स्थापना की गई है तथा इसे संवैधानिक दर्जा भी प्रदान किया गया है। संघ लोक सेवा आयोग एक स्वतंत्र संस्था है, जो कार्मिक प्रशासन के मामले में सरकार के एक निष्पक्ष और सुविज्ञ परामर्शदाता की महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसका हमारी कार्य पद्धति में एक महत्वपूर्ण स्थान है और यह एक दक्ष और निष्पक्ष लोक सेवा बनने में सरकार की सहायता करता है। भारतीय शासन अधिनियम, 1919 द्वारा सर्वप्रथम एक लोक सेवा आयोग की स्थापना की गई थी यद्यपि यह आयोग 1926 में स्थापित हो पाया। अनंतर 1935 के भारतीय शासन अधिनियम के द्वारा संघ में लोक सेवा आयोग की स्थापना के अतिरिक्त प्रांतों में भी लोक सेवा आयोग की व्यवस्था का प्रावधान रखा गया। स्वतंत्र भारत में संविधान के लागू होते ही संघीय सरकार के लिए एक संघ लोक सेवा आयोग तथा संघ के घटक भिन्न-भिन्न राज्यों के लिए राज्य लोक सेवा आयोग का प्रावधान किया गया।

संघ लोक सेवा आयोग भारत के संविधान द्वारा स्थापित एक संवैधानिक निकाय है जो भारत सरकार के लोकसेवा के पदाधिकारियों की नियुक्ति के लिए परीक्षाओं का संचालन करती है। संविधान के अनुच्छेद 315 से लेकर 323 तक में एक संघीय लोक सेवा आयोग और राज्यों के लिए राज्य लोक सेवा आयोग के गठन का प्रावधान किया गया है।

12.4.1 संघ लोक सेवा आयोग का उद्भव एवं विकास

भारत में लोक सेवा आयोग के गठन का लंबा इतिहास है। स्वतंत्रता से पूर्व इस प्रकार के आयोगों के गठन के प्रयास ब्रिटिश शासकों द्वारा किए गए थे। यहाँ तक कि ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भी कर्मचारियों की आवश्यकता को देखते हुए इस दिशा मे प्रयास किए। लोक सेवा के सिविल कर्मचारी की संज्ञा सबसे पहले ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के उन कर्मचारियों को दी गई थी जो भारत में इसके वाणिज्यिक कार्यों के प्रशासन से संबंधित थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्मचारी तब इंग्लैंड में इसके 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' द्वारा चुने जाते थे और भर्ती किए जाते थे। भर्ती के उद्देश्य से, पूर्वी व्यापार और वाणिज्यिक लेखाओं का प्राथमिक ज्ञान उम्मीदवारों की योग्यता माना जाता था लेकिन कुल मिलाकर भर्ती प्रश्रय के आधार पर की जाती थीं। चूँकि नियुक्तियाँ निदेशकों द्वारा नामित व्यक्तियों के लिए पूर्णतः आरक्षित थी, अतः इससे सेवाओं के लिए भर्ती में और अधिक भ्रष्ट तरीके इस्तेमाल होने लगे।

सर्वप्रथम 1833 में लार्ड ग्रेनविल ने यह मांग कि उम्मीदवारों की भर्ती निदेशकों द्वारा किए गए नामांकनों के बजाए प्रतियोगिता के आधार पर होनी चाहिए। लेकिन 1853 तक इस दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई। फिर भी ईस्ट इंडिया कम्पनी को प्रदत्त चार्टर अधिनियम, 1833 में एक खंड जोड़ा गया कि भविष्य में सिविल सेवा के लिए पात्रता का मानदंड उपयुक्तता होगी और जाति तथा रंग का कोई भेदभाव नहीं बरता जाएगा। भारत में सिविल सेवाओं में नियुक्तियों के लिए नामांकन के संबंध में निदेशकों का अधिकार अप्रैल, 1854 के अंत तक जारी रहने दिया गया। 1833 के अधिनियम को अमल में लाने के लिए उपायों पर सलाह देने के लिए सर चार्ल्स वुड ने 1854 में लार्ड मैकाले की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की और इससे, सिद्धान्त रूप में ही सही, भारतीय सिविल सेवा में

नियुक्तियाँ, बिना किसी भेदभाव के, प्रतियोगिता के आधार पर होने लगी। समिति ने सिफारिश की कि प्रत्याशियों का चयन प्रतियोगी परीक्षा के आधार पर होना चाहिए। कर्मचारियों की अंतिम रूप से नियुक्ति से पहले परिवीक्षा अवधि होनी चाहिए और हेलीबरी कॉलेज बंद कर देना चाहिए।

प्रतियोगी परीक्षा प्रणाली की प्रथम परीक्षा भारत में हुई और फिर धीरे-धीरे यह इंग्लैंड में भी अपनाई गई। लेकिन सेवाओं के भारतीयकरण की प्रक्रिया 1909 तक बहुत धीमी गति से चलती रही । मार्ले- मिंटो सुधार शुरू किए गए लेकिन यह सुधार भारतीयों को संतुष्ट नहीं कर सके।

संघ लोक सेवा आयोग के उद्भव एवं विकास को तीन काल खंड मे विभाजित किया जाता है-

12.4.1.1 प्रथम काल (1926-37)

लोक सेवा निकायों के स्थापना का प्रयास उन दिनों हुआ जब 1919 में तत्कालीन अंग्रेजी शासकों ने भारत के लिए स्वायत्त शासन की आवश्यकता स्वीकार की। सन 1919 के भारतीय शासन अधिनियम में इस भावना की व्यावहारिक अभिव्यक्ति मिलती है। उसमें एक सार्वजनिक सेवा आयोग की स्थापना का प्रावधान था जिसकी सेवाओं के लिये पदाधिकारियों की भर्ती, भारत की सार्वजनिक सेवाओं का नियंत्रण तथा ऐसे अन्य कर्त्तव्य होंगे जिनका निर्देश सपरिषद भारत सचिव करेंगे। परंतु उस आयोग की स्थापना तत्काल नहीं हुई। भारत सरकार अधिनिय, 1919 तत्कालीन सेक्रेटरी ऑफ स्टेट मांटेग्यू तथा तत्कालीन वायसराय और गवर्नर जनरल ऑफ इंडिया लार्ड चैम्सफोर्ड द्वारा प्रस्तुत संयुक्त रिपोर्ट पर आधारित था। यह भारत में लोक सेवा आयोग की स्थापना की दिशा में पहला कदम था। इस अधिनियम में एक सक्षम और स्वतंत्र सिविल सेवा रखने के महत्व को मान्यता दी गई थी। बिना किसी राजनीतिक हस्तक्षेप के सिविल कर्मचारियों की किसी विशेषज्ञ निकाय द्वारा भर्ती करने की तथा ऐसे एक स्थायी कार्यालय की स्थापना की आवश्यकता पर बल दिया गया। अधिनियम के निर्माताओं ने यह अवलोकन किया था कि भारत में लोक सेवा आयोग की स्थापना हो जाने पर भारतीय लोक सेवाओं में अपेक्षाकृत अधिक संख्या में आ सकेंगे और साथ ही सिविल कर्मचारियों की राजनीतिक हस्तक्षेप से सुरक्षा भी हो सकेगी। अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार लाके सेवा आयोग की सदस्य संख्या, अध्यक्ष को मिलाकर, पाँच से अधिक नहीं हो सकती थी। प्रत्येक सदस्य अपने पद पर पाँच वर्ष तक रह सकता था और पुनः नियुक्ति के लिए पात्र था।

अनंतर 1923 में ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों को प्रशासन की प्रत्येक शाखा के साथ सम्बद्ध स्थापित करने की अपनी घोषित नीति के अनुपालन में लार्ड ली की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया। लॉर्ड ली के नेतृत्व में नियुक्त शाही आयोग को भारतीय उच्च सेवाओं के संबंध मे विचार एवं विवरण प्रस्तुत करना था। उस शाही आयोग ने तत्काल उस लोक सेवा आयोग की स्थापना की आवश्यकता पर विशेष बल दिया। आयोग की राय थी कि सरकार को अपनी जिम्मेदारी निभाने की दिशा में सहायता प्रदान करने के लिए लोक सेवा आयोग की स्थापना आवश्यक थी। इसका विचार था कि लोक सेवा आयोग की स्थापना के संबंध में उसकी सिफारिश उस रिपोर्ट की एक आधारभूत विशेषता थी और सेवाओं के भविष्य के लिए उसके प्रस्तावों का पूरी संरचना का अभिन्न और अनिवार्य अंग थी। आयोग की सिफारिशों की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि उन्होंने प्रान्तों के लिए ऐसे आयोगों का सुझाव नहीं दिया था और राय दी थी कि केन्द्र के लोक सेवा आयोग की विशेषज्ञता का उपयोग प्रान्तीय सरकार को भी करने दिया जाए। शाही आयोग का प्रस्ताव था कि उक्त आयोग के निम्नलिखित चार मुख्य कार्य होंगे- (क) सार्वजनिक सेवाओं के लिये कर्मचारियों की भर्ती, (ख) सेवाओं में प्रविष्ट

होनेवाले व्यक्तियों की योग्यताओं का विधान तथा उचित मानक स्थापित करना, (ग) सेवाओं के अधिकारों की सुरक्षा करना तथा नियंत्रण एवं अनुशासन की व्यवस्था करना तथा (घ) सामान्य रूप से सेवा संबंधी समस्याओं पर परामर्श एवं अनुमति देना।

अनुशंसाओं के फलस्वरूप लोकसेवा आयोग की स्थापना अक्टूबर 1926 में हुई। इसका एक अध्यक्ष और चार अन्य सदस्य थे। यह प्रावधान किया गया कि अखिल भारतीय प्रथम और द्वितीय श्रेणियों की सेवाओं के, उन प्रतियोगिता परीक्षाओं के पाठ्यक्रमों के निर्धारण, जिनके द्वारा कर्मचारियों का निर्वाचन हो, उक्त सेवाओं के लिये पदोन्नति, अनुशासनीय कार्य, वेतन, भत्ते, पेंशन, प्रॉविडेंट फंड एवं पारिवारिक पेंशन विषय आदि मामलों में सरकार उससे परामर्श ले। किसी वर्ग विशेष या सभी सेवाओं के नियम तथा छुट्टी आदि के नियमों के प्रश्नों पर भी सरकार उक्त आयोग से परामर्श करेगी। इसे अखिल भारतीय सेवाओं, केन्द्रीय सेवा प्रथम श्रेणी में भर्ती से संबंधित सभी विषयों पर गवर्नर जनरल इन काउंसिल को सलाह देनी थी। आयोग को सौंपे गए कार्य मात्र परामर्शी स्वरूप के थे। ली आयोग चाहता था कि जहाँ तक भारत में सेवाओं में भर्ती का संबंध है, लोक सेवा आयोग का प्राधिकार अंतिम होना चाहिए। लेकिन तब भारत सरकार ने उसकी सिफारिशों पर कोई ध्यान नहीं दिया और इसलिए लोक सेवा आयोग को केवल परामर्शी शक्तियों सहित गठित किया गया।

लंदन में 1930 में सम्पन्न पहली गोलमेज कांफ्रेंस में एक प्रस्ताव रखा गया था कि, प्रत्येक प्रान्त में और केन्द्र सरकार के संबंध में, यथास्थिति, गवर्नर अथवा गवर्नर जनरल द्वारा एक सांविधानिक लोक सेवा आयोग नियुक्त किया जाएगा। ब्रिटिश सरकार के जो सांविधानिक प्रस्ताव 15 मार्च, 1933 को प्रकाशित हुए थे, उनमें भी व्यवस्था थी कि फेडरल लोक सेवा आयोग के साथ-साथ प्रान्तों में भी लोक सेवा आयोग गठित किए जाए। भारतीय सांविधानिक सुधारों पर संयुक्त समिति (1933-34) भी ऐसे प्रस्तावों पर सहमत थी और उसने भी सारे भारत के लिए एक से अधिक लोक सेवा आयोग गठित करने की आवश्यता को स्वीकार किया था।

12.4.1.2 द्वितीय काल (1937-50)

भारतीय लोक सेवा आयोग के 1930-36 के क्रियाकलापों से पता चलता है कि यह आयोग एक शक्तिशाली कार्मिक अभिकरण नही बन सका। यह कार्यपालिका से स्वतंत्र नहीं था। भारत सरकार अधिनियम, 1935, जिसके अंतर्गत प्रान्त पूर्णतया उत्तरदायी बन गए थे, ने सिविल सेवा आयोग के कार्यों का सांविधानिक प्राधिकार बढ़ा दिया था। सन 1935 के भारतीय विधान के परिच्छेद 266 में, उपर्युक्त प्रस्तावों को स्थाई रूप दिया गया। उसमें लोक सेवा आयोगों के कर्त्तव्यों को स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दिया गया। यह कहा जा सकता है कि उक्त विधान के द्वारा ही आयोगों की अंतिम एवं स्थायी रूप में रचना की गई थी। इस अधिनियम के 1937 में लागू होने से लोक सेवा आयोग का नाम फेडरल लोक सेवा आयोग रख दिया गया। इसमें यह भी व्यवस्था थी कि प्रान्त भी अपने-अपने लोक सेवा आयोग गठित करें। आज के केंद्रीय अथवा राज्यों के आयोग का संगठन, रूप एवं आधार, सब उसी पर आधारित हैं।

इस आयोग के अध्यक्ष और अन्य सदस्यों की नियुक्ति गवर्नर जनरल द्वारा किया जाना था। आयोग के सदस्यों की संख्या, उनकी पदावधि, सेवा शर्तों आदि गवर्नर जनरल पर ही निर्भर था। प्रावधान यह था कि आयोग के कम से कम आधे सदस्य ऐसे होने चाहिए जिन्होंने भारत में ब्रिटिश शासन के अधीन कम से कम दस वर्ष तक पद संभाला हो। इस आयोग को निम्नलिखित मामलों पर सरकार को सलाह भी देनी थी-

- सिविल सेवाओं और सिविल पदों के लिए भर्ती के तरीकों से संबंधित सभी मामले।
- सिविल सेवाओं और सिविल पदों पर नियुक्तियों करने तथा पदोन्नतियाँ करने और एक सेवा से दूसरी सेवा में अंतरण करने व ऐसी नियुक्ति, पदोन्नति अथवा अन्तरण के लिए उम्मीदवार की उपयुक्तता के संबंध में मामले।
- सिविल कर्मचारी की हैसियत से सेवारत व्यक्ति से संबंधित सभी अनुशासनिक मामले।
- किसी सरकारी कर्मचारी द्वारा उसकी डयूटियों के निष्पादन में किए गए कार्यो के खिलाफ, यदि कोई कानूनी कार्यवाही की जाती है तो उसमें अपने बचाव के लिए किए गए व्ययों के प्रतिपूर्ति के लिए दावों से संबंधित मामले, और
- सिविल कर्मचारी की हैसियत में किसी सरकारी कर्मचारी को पहुँची क्षति के लिए पेंशन प्रदान करने संबंधी मामले, तथा गवर्नर जनरल द्वारा आयोग को भेजे गए कोई अन्य मामले।

12.4.1.3 तृतीय काल(1950 से अब तक)

फेडरल लोक सेवा आयोग अपने वर्तमान रूप में 1947 से 1950 के बीच काम करता रहा। 26 जनवरी 1950 को जब भारत का संविधान लागू हुआ तो इसका स्थान अंतिम रूप से संघ लोक सेवा आयोग ने ले लिया। भारत की स्वाधीनता कुछ दृष्टियों से संघ लोक सेवा आयोग के लिए एक नए युग का सूत्रपात हुआ। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने संघ लोक सेवा आयोग को न्यायपालिका तथा नियंत्रक और महालेखा परीक्षक के साथ-साथ लोकतंत्र को दृढ बनाने का साधन समझा। अतः उन्होंने इसे न केवल सांविधानिक दर्ज़ा दी, बल्कि इसकी स्वतंत्रता के बचाव के लिए विस्तृत उपायों की भी व्यवस्था की।

12.4.2 संघ लोक सेवा आयोग का संगठन

भारतीय संविधान में संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों की संख्या तथा सेवा संबंधी शर्तों का उल्लेख नहीं किया गया है तथा इसे राष्ट्रपति के विवेक पर छोड़ दिया गया है। लोक सेवा आयोग (संघ अथवा संयुक्त) का अध्यक्ष तथा अन्य सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। संविधान के प्रावधानों के अनुसार राज्य आयोग के मामले में अध्यक्ष तथा अन्य सदस्य उस राज्य के राज्यपाल द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। संविधान में आयोग के सदस्यों के संख्या नियत नहीं की गई है किन्तु आयोग के आधे सदस्य ऐसे होने चाहिए जिन्होंने भारत सरकार अथवा किसी राज्य सरकार के अधीन कम से कम 10 वर्ष तक किसी न किसी पद पर कार्य किया हो।

सामान्यतया संघ लोक सेवा आयोग में एक अध्यक्ष के अतिरिक्त 10 सदस्य होते हैं जो राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त होते हैं । सदस्यों का कार्यकाल पदभार ग्रहण करने की तिथि से 6 वर्ष अथवा 65 वर्ष की आयु प्राप्त करने तक, जो भी पहले हो, होता है। सामान्यतया सदस्यों की नियुक्ति करते समय नियुक्ति करते समय प्रशासनिक योग्यता के साथ साथ उनके चरित्र, कर्तव्य निष्ठा और ईमानदारी को भी ध्यान में रखा जाता है। ये कभी भी अपना इस्तीफ़ा राष्ट्रपति को सौप सकते हैं। कार्यकाल पूर्ण होने से पहले राष्ट्रपति इन्हें पद की अवमानना या अवैध कार्यों में लिप्त होने के लिए बर्ख़ास्त कर सकता है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 317 में सदस्यों के अपदस्थ करने की प्रक्रिया का वर्णन मिलता है इसके अनुसार राष्ट्रपति निम्न स्थितियों में संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष या अन्य किसी सदस्य को कार्यकाल के पूर्व भी

हटा सकता है - क. यदि अध्यक्ष या सदस्य दिवालिया हो गया हो, ख. यदि आयोग के सेवाकाल में उन्होंने अन्य वेतनभोगी पद स्वीकार किया हो तथा ग. यदि राष्ट्रपति के विचार में अध्यक्ष या सदस्य शारीरिक अथवा मानसिक दुर्बलता के कारण अपने पद का कार्यभार ग्रहण करने में असमर्थ हो।

उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त दुराचरण और कदाचार के अपराध में भी राष्ट्रपति उन्हें सर्वोच्च न्यायालय से जांच कराकर हटा सकता है। शब्द 'कदाचार' को संविधान में स्पष्ट कर दिया गया है। कोई सदस्य कदाचार का दोषी तब माना जाएगा जब (क) वह भारत सरकार या किसी राज्य सरकार की ओर से किए गए किसी करार या संविदा में उसका हित लाभ हो या वा उससे संबंधित हो अथवा (ख) वह किसी निगमित कम्पनी के अन्य सदस्यों के साथ मिलकर ऐसे करार अथवा संविदा में किसी भी रूप से लाभ का भागीदार हो।

संघ लोक सेवा आयोग के लिए राष्ट्रपति आयोग के सदस्यों में से एक सदस्य को एक कार्यवाहक अध्यक्ष के रूप में नियुक्त कर सकता है यदि-आयोग के अध्यक्ष का पद रिक्त हो जाये अथवा, आयोग का अध्यक्ष अनुपस्थिति या किसी अन्य कारण से अपने कार्यालय के कर्तव्यों का पालन करने में असमर्थ हो।

इस तरह का सदस्य एक कार्यवाहक अध्यक्ष के रूप में कार्य करता है, जब तक किसी व्यक्ति को कार्यालय के कर्तव्यों का पालन करने के लिए अध्यक्ष के रूप में नियुक्त किया जाये या जब तक अध्यक्ष पुनः अपना कार्य आरंभ ना कर दे, जैस भी मामला हो।

आयोग के सदस्यों के वेतन और भत्ते तथा अन्य शर्तों को तय करने का अधिकार राष्ट्रपति को प्रदान किया गया है जिसे उनकी पदावधि में बदला नहीं जा सकता। 7 वें वेतन आयोग के अनुरूप संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष को रु. 2,50,000 तथा तथा सदस्यों को रु. 2,25,000 मासिक वेतन मिलता है। संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों के वेतन सहित अन्य सभी प्रकार के खर्चे भारत सरकार की संचित निधि से दिए जाते हैं।

इसके साथ ही आयोग का सचिवालय भी है, जिसमें अनेक प्रकार के कर्मचारी कार्यरत हैं। औपचारिक रूप से आयोग के कार्यालय को केंद्रीय सचिवालय का ही एक अंग माना जाता है। कार्यालय के कर्मचारियों की संख्या घटती-बढ़ती रहती है। आयोग में एक सचिव और दो अतिरिक्त सचिव होते हैं । साथ ही कार्यपालक निदेशक, सूचना प्रणाली निदेशक, परीक्षा सुधार संयुक्त सचिव, 14 उपसचिव और अनेक विशेषज्ञ अधिकारी और अन्य कार्यालय अधिकारी कार्यरत होते हैं। इनके अतिरिक्त आयोग में कार्यों की प्रकृति के आधार पर ढेर सारी नियुक्तियां भी की जाती है। संघ लोक सेवा आयोग के सचिव का दर्जा भारत सरकार के संयुक्त सचिव के समकक्ष है तथा उसका वेतनमान और अन्य सेवा शर्ते भारत सरकार के संयुक्त सचिवों के अनुरूप ही है। संविधान के अनुच्छेद-318 में संघ लोक सेवा आयोग में कर्मचारियों की संख्या एवं उनकी सेवा शर्तों के संबंध में विनियम बनाने की बनाने का अधिकार राष्ट्रपति के पास है। आयोग का कर्मचारी केंद्रीय सचिवालय के विभागों में स्थानांतरित अथवा पदोन्नत हो सकता है ।

भारत के संघ लोक सेवा आयोग का मुख्यालय धौलपुर हाउस, नई दिल्ली मे स्थित है। कुंडलाकार की यह सुन्दर इमारत इंडिया गेट के बगल में शाहजहां रोड पर स्थित है। पहले यह धौलपुर राजघराने का निवास हुआ करता था और इसका निर्माण भी नई दिल्ली के निर्माण के दौरान 1920 के दशक में किया गया था।

12.4.3 संघ लोक सेवा आयोग के कार्य

भारतीय संविधान के अनुच्छेद-315 के अधीन गठित एक संवैधानिक प्राधिकरण के रूप में संघ लोक सेवा आयोग उच्च सिविल सेवा के अधिकारियों तथा संघ सरकार के संबंधित अन्य पदों की परीक्षा और साक्षात्कार के माध्यम से अधिकारियों की भर्ती करने के अलावा केंद्रीय कार्मिक प्रशासन की संरचना में एक सलाहकार की भूमिका भी निभाता है। समय के साथ इसके कार्यों मे विस्तार हुआ है। संघ लोक सेवा आयोग के जो कार्य संविधान में अनुच्छेद- 320 के अंतर्गत विनिर्दिष्ट किए गए हैं वे वही हैं जो भारत सरकार अधिनियम, 1935 में फेडरल लोक सेवा आयोग के लिए विनिर्दिष्ट किए गए थे। इन कार्यों को मोटे तौर पर तीन वर्गों में बाँटा गया है- यथा (1) नियामक, (2) कार्यपालक (3) अर्ध-न्यायिक

1. **नियामक कार्य-** नियामक कार्यों में संघ लोक सेवा आयोग सरकार को निम्नलिखित से संबंधित मामलों में सलाह देता है- भर्ती के तरीके और नियुक्तियाँ, पदोन्नतियाँ तथा एक सेवा में दूसरी सेवा में अन्तरण करने के लिए अपनाए जाने वाले सिद्धान्त। फिर भी, संयुक्त राज्य अमेरिका के लोक सेवा आयोग को जिस प्रकार का नियामक अधिकार क्षेत्र मिला हुआ है, भारत में संघ लोक सेवा आयोग को ऐसी कोई शक्तियाँ नहीं मिली हैं। संघ लोक सेवा आयोग का कार्य क्षेत्र मात्र परामर्शी है। संविधान के अनुच्छेद-320 (3) में केवल यह उल्लेख है कि यह आयोग का कर्तव्य है कि वह सरकार को सिविल सेवा में भर्ती की पद्धतियों, पदोन्नतियों और अन्तरणों से संबंधित सभी मामलो में सलाह दें। यद्यपि संघ लोक सेवा आयोग के कुछ कार्यों को प्रायः नियामक कार्य कहा जाता है, परन्तु वास्तव में वह कार्य भी मात्र सलाहकारी कार्य ही है।
2. **कार्यपालक कार्य-** आयोग का एक विशिष्ट सांविधानिक कर्तव्य है कि वह संघ की सेवाओं में नियुक्तियों के लिए परीक्षाएँ ले। इस प्रावधान के अधीन संघ लोक सेवा आयोग प्रति वर्ष विभिन्न वर्गो के पदों के लिए अनेक लिखित परीक्षाएँ लेती है। साथ ही विशिष्ट और अन्य वर्गों के पदों के लिए उम्मीदवारों का चयन करने के लिए साक्षात्कार भी आयोजित किए जाते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि आयोग का कार्य-क्षेत्र राजपत्रित अधिकारियों तक ही सीमित रखा गया है, जिनकी संख्या सरकारी कर्मचारियों की कुल संख्या की तुलना में बहुत कम है। वस्तुतः आयोग का कार्यपालक कार्य क्षेत्र केन्द्र सरकार के कुल कर्मचारियों के 1.9 प्रतिशत कर्मचारियों पर ही लागू होता है।
   संघ लोक सेवा आयोग का दूसरा कार्यपालक कार्य है, राष्ट्रपति को प्रति वर्ष आयोग द्वारा पिछले वर्ष के दौरान किए गए कार्य की रिपोर्ट प्रस्तुत करना। राष्ट्रपति यह रिपोर्ट, एक ऐसे ज्ञापन के साथ सदन के दोनों सदनों के समक्ष रखते हैं जिसमं उन मामलो को स्पष्ट किया जाता है, जिनमें आयोग की सलाह नहीं मानी गई थी और साथ ही न मानने के कारण भी दिए जाते हैं।
3. **अर्ध-न्यायिक कार्य-** संघ लोक सेवा आयोग की अर्द्ध-न्यायिक अधिकार क्षेत्र और विस्तार दोनों दृष्टियों से सीमित है। वास्तव में, इसको कोई सचमुच के अपीली अधिकार नहीं है। कर्मचारियों के विरूद्ध की गई अनुशासनिक कार्रवाइयों पर यह केवल सलाह दे सकता है। संविधान के अनुसार, सरकार को निम्नलिखित मामलों में आयोग की सलाह लेनी चाहिए-

- सरकारी कर्मचारी के संबंध में, परिनिन्दा, वेतन वृद्धि अथवा पदोन्नति रोकना, निम्न वेतनमान में पदावनत करना, अनिवार्य सेवा-निवृत्ति, सेवा से हटाना अथवा पदच्युत करना आदि जैसी अनुशासनिक कार्यवाहियां।
- किसी कर्मचारी द्वारा अपनी ड्यूटी के निष्पादन में किए गए कार्यों के संबंध में उसके खिलाफ की गई कानूनी कार्यवाही में उस कर्मचारी द्वारा किए गए खर्च की प्रतिपूर्ति के दावे, और
- किसी कर्मचारी को पहुँची क्षति के संबंध में पेंशन देने के दावे और ऐसी पेंशन की राशि के संबंध में सभी प्रश्न।

संघ लाके सेवा आयोग के जो कार्य निर्धारित किए गए हैं, वे जैसा ऊपर बताया गया है कि भारत के संविधान से तो लिए ही गए हैं साथ ही अन्य स्त्रोतों से भी लिए जाते हैं। जैसे- संसद द्वारा बनाए गए कानून, कार्यपालिका के नियम, विनियम और आदेश और परिपाटियाँ। संविधान के अनुच्छेद 318 और 320 के अनुसार केन्द्र सरकार कुछ विनियमों और आदेशों के माध्यम से आयोग को कुछ कार्य सौंप सकती है। साथ ही राष्ट्रपति भी, समय-समय पर विनियमों के माध्यम से उन मामलों को भी परिनिश्चित कर सकते हैं जिनमे आयोग की सलाह आवश्यक नहीं होती।

आयोग कुछ ऐसे कार्य भी करता है जो परिपाटियों के माध्यम से उसे सौंपे गए हैं, यद्यपि संविधान में इनकी व्याख्या नहीं है। संविधान के अधीन रक्षा सेनाओं के लिए भर्ती का कार्य आयोग के अधिकार क्षेत्र में नहीं है, क्योंकि रक्षा सेवाएँ सिविल सेवाओं का अंग नहीं हैं। लेकिन 1948 से आयोग केडेटों के चयन के लिए लिखित परीक्षा ले रहा है, जो अब एक नियमित कार्यकलाप बन गया है। इसी प्रकार संघ लोक सेवा आयोग उच्च योग्यता प्राप्त वैज्ञानिकों तथा प्रौद्योगविदों के पूल के लिए वैज्ञानिकों तथा तकनीशियनों का चयन करता है, जो केन्द्र सरकार, वैज्ञानिक संस्थानों, राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं, विश्व विद्यालयों आदि में प्रतिनियुक्त किए जाते हैं। यह कार्य संघ लोक सेवा आयोग द्वारा केवल परिपाटियों के आधार पर किए जा रहे हैं।

संघ लोक सेवा आयोग संविधान के अनुच्छेद 320 और 321 के अंतर्गत संघ की सेवाओं में नियुक्तियों के लिए परीक्षाएं आयोजित करता है, जिसमें केंद्र शासित प्रदेशों की अखिल भारतीय सेवाएँ, केंद्रीय सेवाएँ, और सार्वजनिक सेवाएँ शामिल हैं। आयोग विभिन्न सेवाओ के लिए लगभग दर्जन भर परीक्षाओ का आयोजन करता है, जैसे अभियांत्रिकी, चिकित्सा, वन सेवा आदि। वर्तमान में संघ लोक सेवा आयोग सिविल सेवा परीक्षाओ के माध्यम से विविध सेवाओ के लिए अभ्यर्थियों का चयन करता है इसमें से सबसे चर्चित भारतीय प्रशासिनिक, भारतीय पुलिस सेवा व भारतीय राजस्व सेवा हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय रक्षा अकादमी और नौसेना अकादमी परीक्षा, सम्मिलित रक्षा सेवा परीक्षा, भारतीय अभियांत्रिकी सेवा, भारतीय आर्थिक और सांख्यिकी सेवा, संयुक्त चिकित्सा सेवा, विशिष्ट श्रेणी रेलवे प्रशिक्षु सेवा, भूगर्भ सेवा, विभागीय अधिकारी/आशुलिपिक (श्रेणी 'ख'/श्रेणी।) परिसीमित विभागीय प्रतियोगी परीक्षा तथा 'स्पेशल क्लास रेलवे प्रशिक्षु परीक्षा' परीक्षाओ का आयोजन करता है। यह किसी भी सेवा के लिए संयुक्त भर्ती तैयार करने और परिचालन योजनाओं में राज्यों को सहायता करता है जिसके लिए विशेष योग्यता रखने वाले उम्मीदवारों की आवश्यकता होती है, जिसके लिए दो या उससे अधिक राज्यों द्वारा अनुरोध किया गया हो।

12.4.4 संघ लोक सेवा आयोग की सलाहकार भूमिका

यद्यपि आयोग को महत्वपूर्ण सांविधानिक कर्तव्य और कार्य सौंपे गए हैं, फिर भी इसकी भूमिका मात्र सलाहकार और परामर्शी की है। भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अंतर्गत संघीय लोक सेवा आयोग की भूमिका भी परामर्शी ही थी। उस समय यह विचार किया गया था कि यदि आयोग को अधिक अधिकार दिए गए तो इससे कार्यपालिका की शक्तियों के साथ हस्तक्षेप हो सकता है। संघ लोक सेवा आयोग का कार्य सरकार को केवल मात्र सलाह देना है और कार्यपालिका इसकी सलाह मानने के लिए कानूनी तौर पर बाध्य नहीं है।
लोक सेवा आयोग स्थिति के अनुसार निम्नलिखित मामलों में अपना परामर्श देगा, ये मामले हैं-

- सभी मामले सिविल सेवाओं तथा सिविल पदों की नियुक्ति के तरीके से संबन्धित।
- सिविल सेवाओं और पदों के लिए नियुक्तियों करने में और एक सेवा से दूसरे में स्थानांतरण तथा पदोन्नति और इस तरह की नियुक्तियों, स्थानान्तरण और पदोन्नति के लिए उम्मीदवारों की उपयुक्तता पर सिद्धांतों का अनुसरण करना।
- एक नागरिक की हैसियत से भारत सरकार के अधीन सेवारत व्यक्ति को प्रभावित करने वाले सभी अनुशासनात्मक मामले जिसमें इन मामलों से संबन्धित स्मारक या याचिकाएं शामिल हों।
- अपने आधिकारिक कर्तव्य के निष्पादन में या किए गए कृत्यों का उसके खिलाफ स्थापित कानूनी कार्यवाही की रक्षा करने में एक सिविल सेवक द्वारा उठाए गए खर्च का किसी भी प्रकार का दावा करना।
- भारत सरकार के अधीन सेवारत व्यक्ति घायल होने पर पेंशन के हक़ के लिए दावा कर सकता है और किसी भी हक़ के लिए राशि से संबन्धित कोई भी प्रश्न कर सकता है।
- कार्मिक प्रबंधन से संबंधित कोई भी मामला राष्ट्रपति द्वारा संदर्भित।

संघ लोक सेवा आयोग के प्रदर्शन से संबन्धित वार्षिक रिपोर्ट को राष्ट्रपति के समक्ष पेश किया जाता है। इसके बाद राष्ट्रपति इस रिपोर्ट को संसद के दोनों सदनों में ज्ञापन के साथ प्रस्तुत करता है जिसमें यह बताया गया होता है कि कहाँ पर आयोग की सलाह को नहीं स्वीकार किया गया और इस गैर स्वीकृति के पीछे का कारण क्या है।
यह समझा जा सकता है कि संविधान के अधीन, कुछ ऐसे मामले हैं जिन पर सरकार आयोग की सलाह लेने के लिए बाध्य है। इस प्रावधान का उल्लंघन असांविधानिक माना जाएगा। लेकिन सरकार आयोग की सलाह स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं है। साथ ही संविधान में एक नया अनुच्छेद- 323 जोड़कर आयोग की सलाह स्वीकार न करने पर एक सांविधानिक अवरोध लगा दिया गया है। जिन मामलों में आयोग की सलाह स्वीकार नहीं कि जाती है, उन मामलों में इस अनुच्छेद की अपेक्षाओं के अनुसार, सरकार को संसद के समक्ष एक ज्ञापन प्रस्तुत करना होता है जिसमें सलाह स्वीकार ने करने के कारण बताए जाते हैं। साथ ही, आयोग की सलाह पर, कार्यवाही करने के लिए मंत्रालय अथवा विभाग की शक्तियाँ सोच-समझकर इस तरह सीमित कर दी गई है कि वे आयोग तब तक अस्वीकार नहीं कर सकते जब तक मंत्रीमंडल की नियुक्ति समिति का अनुमोदन प्राप्त न हो जाए। आयोग की सलाह के खिलाफ कोई भी प्रशासनिक विभाग तब तक कार्रवाई नहीं कर सकता जब तक कि उसे समिति की सहमति प्राप्त न हो जाए। इन आंतरिक और बाध्य प्रतिबंधों के कारण आयोग की सलाह स्वीकार न करने के मामलों की संख्या नगण्य रही है।

12.4.5 संघ लोक सेवा आयोग भूमिका का मूल्यांकन

संघ लोक सेवा आयोग केंद्रीय भर्ती अभिकरण है। यह प्रतिभा प्रणाली को बनाए रखने और पदों के लिए सबसे उपयुक्त लोगों को आगे लाने के लिए उत्तरदायी है। यह परीक्षा आयोजित करता है और समूह क एव समूह ख में अखिल भारतीय सेवाओं और केंद्रीय सेवाओं में कर्मियों की नियुक्ति के लिए सरकार को अपनी सिफ़ारिश भेजता है। संघ लोक सेवा आयोग की भूमिका स्वभाव से सलाहकार की होती है और सरकार के लिए बाध्यकारी नहीं होती है। हालांकि, सरकार संसद के प्रति जवाबदेह है, यदि, वह आयोग की सलाह को खारिज कर दे। इसके अलावा, संघ लोक सेवा आयोग का संबंध परीक्षा प्रक्रिया से है और ना की सेवाओं के वर्गीकरण, कैडर प्रबंधन, प्रशिक्षण, सेवा शर्तों आदि के साथ संबंध रखता है। इन मामलों को कार्मिक, लोक शिकायत और पेंशन मंत्रालय के अधीन कार्मिक और प्रशिक्षण विभाग द्वारा नियंत्रित किया जाता है। सरकार पदोन्नति और अनुशासनात्मक मामलों पर संघ लोक सेवा आयोग से सलाह लेती है। लेकिन कुछ ऐसे मामले हैं जो संघ लोक सेवा आयोग के कार्यक्षेत्र में नहीं आते हैं। वे इस प्रकार हैं-

- भारत के संविधान में अनुच्छेद- 335 के अंतर्गत व्यवस्था है कि विभिन्न पदों की नियुक्ति के मामलों में सरकार अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के दावों पर विचार करेगी। अनुच्छेद- 320(4) के अनुसार, अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के उम्मीदवारों के लिए आरक्षणों की सीमा निर्धारित करने के संबंध में संघ लोक सेवा आयोग की सलाह लेना आवश्यक नहीं है। लेकिन एक बार ऐसी शर्तें निर्धारित हो जाने के बाद आयोग, एक भर्ती एजेंसी के रूप में, चयन की कार्य पद्धति शुरू कर देता है।
- राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह ऐसे विनिमय बना सकता है जिनसे कुछ मामले संघ लोक सेवा आयोग की सलाह के कार्य क्षेत्र से बाहर रखे जा सकते है। ऐसे सभी विनियमों को अनुमोदन के लिए अधिक से अधिक चैदह दिनों की अवधि के लिए संसद के दोनों सदनों में रखा जाना अनिवार्य है। संसद, यदि आवश्यक समझे तो, इनमें संशोधन कर सकती है अथवा इन्हें रद्द कर सकती है।

जिन पदों की भर्ती के लिए संघ लोक सेवा आयोग की सलाह आवश्यक नहीं है, वे हैं- अभिकरणों, आयोगों, उच्च-अधिकार प्राप्त समितियों के सदस्यों अथवा अध्यक्षों के पद उच्च तकनीकी अथवा प्रशासनिक पद, ऐसी अस्थायी रिक्तियाँ भरना जहाँ नियुक्तियाँ एक वर्ष से कम अवधि के लिए की जाती हैं।

अपने 70 वर्ष के कार्यकाल में लोक सेवा आयोग ने अपने संविधानिक उद्देश्यों को काफी सीमा तक पूरा किया है और वास्तव में यह सिद्ध कर दिया है कि यह किसी खास वर्ग विशेष का प्रतिनिधि नहीं बल्कि निष्पक्ष और राजनीतिक रूप से किसी भी प्रकार के दबाबों से अपने आप को अछूता पाता है। आयोग ने कार्यपालिका के दबाव के विरुद्ध बिना भय या पक्षपात कर अधिक अच्छी मिसाल कायम की है।

12.5 कर्मचारी चयन आयोग

कर्मचारी चयन आयोग भारत सरकार के कार्मिक, लोक शिकायत तथा पेंशन मंत्रालय से संबद्ध एक संस्था है। कर्मचारी चयन आयोग की स्थापना का उद्देश्य भारत सरकार के गैर तकनीकी संवर्ग के पदों पर निम्न स्तर के कर्मचारियों की भर्ती करने संबंधी व्यवस्था को युक्तिसंगत बनाना है। भारत सरकार के मंत्रालयों व विभागों और

अधीनस्थ कार्यालयों में गैर तकनीकी समूह 'ग' और समूह 'घ' के अराजपत्रित पदों में भर्ती का कार्य आयोग द्वारा किया जाता है। इसके लिए समय-समय पर आयोग द्वारा परीक्षायें आयोजित किये जाते हैं । संघ एवं राज्य लोक सेवा आयोग के कार्यों की अधिकता को देखते हुए तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों की नियुक्ति हेतु कर्मचारी चयन आयोग की स्थापना संसद की आकलन समिति की सिफारिशों के आधार पर की गई थी।

12.5.1 कर्मचारी चयन आयोग का गठन सम्बन्धी प्रावधान

संसद की आकलन समिति ने अपनी 47वीं रिपोर्ट (1967-68) में कर्मचारी चयन आयोग की स्थापना की सिफारिश की थी जिसके आधार पर निम्न श्रेणी के पदों पर कर्मचारियों की भर्ती संबंधित परीक्षाएं आयोजित करने का दायित्व एक नई संस्था को देने का फैसला किया गया। विविध नियुक्ति संबंधी परीक्षा आयोजित करने के कारण संघ लोक सेवा आयोग द्वारा परीक्षा एवं परिणाम की घोषणा करने में अनावश्यक विलंब हो जाता था तथा निम्न स्तर के पदों पर कर्मचारियों की नियुक्ति की समस्या बनी रह जाती थी। इसलिए एक निकाय की स्थापना आवश्यकता महसूस हुई। अंतरिम तौर पर सचिवालय प्रशिक्षण विद्यालय में एक परीक्षा स्कन्ध स्थापित किया गया जिसे बाद में सचिवालय प्रशिक्षण एवं प्रबंध संस्थान कहा गया ।

प्रशासनिक सुधार समिति ने भी कार्मिक प्रशासन संबंधी अपनी रिपोर्ट में इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया था कि केंद्र और राज्य सरकारों के अधिकांश पद तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणी से संबंध रखते हैं। नियुक्ति संबंधी व्यवस्थाओं को समान स्वरूप देने के लिए विभिन्न अनुशंसाएं की थी। आयोग की इन अनुशंसाओं के पश्चात भारत सरकार ने वर्ष 1975 में एक अधीनस्थ चयन आयोग की स्थापना का निर्णय लिया। इस आयोग द्वारा विभिन्न सरकारी एवं अधीनस्थ कार्यालयों में लिपिक आशुलिपिक एवं विविध सैनी एवं निम्न श्रेणी के पदों पर नियुक्ति संबंधी परीक्षाएं आयोजित करने और सफल परीक्षार्थियों की सिफारिश करने का उत्तरदायित्व एक नवगठित चयन आयोग को सौंपा गया। इसे बाद मे कर्मचारी चयन आयोग का नाम दिया गया जो जुलाई 1976 से गतिमान हुआ। इसे पहले "अधीनस्थ सेवा आयोग" कहते थे। इसका पुन: नामकरण सितंबर 1977 में 'कर्मचारी चयन आयोग' के रूप में हुआ।

12.5.2 कर्मचारी चयन आयोग का संगठन

कर्मचारी चयन आयोग केंद्रीय कार्मिक एवं प्रशिक्षण विभाग का संबंध कार्यालय है, इसमें एक अध्यक्ष और दो सदस्य होते हैं। साथ ही एक सदस्य सचिव सह-परीक्षा नियंत्रक होते हैं जिनकी नियुक्ति समय-समय पर केंद्र सरकार द्वारा निर्धारित नियम एवं शर्तों के अधीन की जाती है। सदस्यों का कार्यकाल 05 वर्ष या 62 वर्ष की आयु, जो पहले हो, होता है। सदस्यों की नियुक्ति केंद्र सरकार द्वारा की जाती है। आयोग की अध्यक्षता अध्यक्ष द्वारा की जाती है। सचिव दोनों सदस्यों के अधीन कार्य करता है। आयोग का मुख्यालय नई दिल्ली के सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड में स्थित है। वर्तमान मे आयोग मे एक निदेशक, दो संयुक्त निदेशक, एक उप-सचिव, 9 अनु सचिव,चार उप-निदेशक, एक वित्त अधिकारी, 24 अनुभाग अधिकारी और 183 से अधिक अन्य कर्मचारी मुख्यालय में कार्यरत हैं।

इसके अतिरिक्त कर्मचारी चयन आयोग के सात क्षेत्रीय कार्यालय हैं जो इलाहाबाद, मुंबई, दिल्ली, कोलकाता, गुवाहाटी, बैंगलुरु और चेन्नई में स्थित हैं। इसके साथ ही, कर्मचारी चयन आयोग के दो उप-क्षेत्रीय कार्यालय हैं जो रायपुर और चंडीगढ़ में स्थित है। उप-क्षेत्रीय कार्यालय मे क्षेत्रीय निदेशक प्रधान होते है, जिनकी सहायता के

लियए उप निदेशक नियुक्त होते हैं। कर्मचारी चयन आयोग के क्षेत्रीय कार्यालय आयोग की नीतियों तथा कार्यक्रमों के क्रियान्वयन, क्षेत्रीय कार्यालय के पर्यवेक्षण मे राज्य सरकार के साथ संपर्क बनाए रखने तथा अपने केंद्र में अपने अधिकार क्षेत्र के भीतर रहकर परीक्षा और साक्षात्कारों का आयोजन करने में आयोग की सहायता करते हैं।

12.5.3 कर्मचारी चयन आयोग के कार्य

कर्मचारी चयन आयोग का कार्य भारत सरकार के मंत्रालयों व विभागों, संबद्ध और अधीनस्थथ कार्यालयों और महानियंत्रक एवं लेखा परीक्षक एवं महालेखाकारों के कार्यालयों में गैर-तकनीकीय समूह 'ग' और 'घ' के अराजपत्रित पदों में भर्ती करना है। अधीनस्थध सेवा आयोग की स्था पना सरकारी क्षेत्र में निम्न श्रेणी के पदों में भर्ती के लिए परीक्षाओं का आयोजन करने के लिए की गई है। कर्मचारी चयन आयोग ने सचिवालय प्रशिक्षण एवं प्रबंध संस्थान की परीक्षा स्कंध द्वारा आयोजित किए जाने वाले परीक्षा संबंधित सभी कार्य अपनी स्थापना के वक्त ही ले लिए थे। धीरे धीरे आयोग ने दिल्ली और दिल्ली के बाहर स्थित संपूर्ण केंद्र सरकार के संगठनों में सभी मध्य स्तरीय और अधीनस्थ स्तर के गैर तकनीकी पदों पर नियुक्ति करने का कार्य संपादित करना शुरू किया जो संपूर्ण सरकारी पदों का लगभग 55 फीसदी है। आयोग नीतियां तैयार करने के लिए उत्तरदायी है जिसमें परीक्षाओं की एवं अन्या प्रक्रियाओं की योजना बनाना शामिल है, ताकि परीक्षाओं और चयन परीक्षणों को सुव्य वस्थित रूप से चलाया जा सके। कर्मचारी चयन आयोग संयुक्त स्नातक स्तरीय परीक्षा के साथ-साथ संयुक्त उच्चतर माध्यमिक परीक्षा, आशुलिपिक सीमित विभागीय प्रतियोगी परीक्षा, इंजीनियरिंग सहायक, कनिष्ठ अभियंता सीमित विभागीय परीक्षा और अन्य परीक्षा आयोजित करता है।

कर्मचारी चयन आयोग के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं-

- केंद्रीय सरकार के निम्न श्रेणी के लिपिकों की भर्ती हेतु प्रतियोगिता परीक्षा का आयोजन।
- केंद्रीय सचिवालय के आशुलिपिक सेवा संवर्ग की भर्ती के लिए प्रतियोगिता परीक्षा का आयोजन।
- केंद्रीय सचिवालय के लिपिक श्रेणी तथा वर्ग चतुर्थ सेवर भारतीय में पदोन्नति के लिए विभागीय परीक्षाओं का आयोजन।
- अंग्रेजी और हिंदी की टंकण परीक्षा का आयोजन आदि।

इस प्रकार, भारत सरकार के लगभग 55 प्रतिशत पद, जो मध्य एवं अधीनस्थ स्तर के गैर तकनीकी पद होते हैं तथा उन पर नियुक्ति का कार्य कर्मचारी चयन आयोग द्वारा ही किया जाता है। वर्तमान समय में इस आयोग के पास कुछ नए कार्य भी सौपे गए हैं। भर्ती के लिए योग्यताओं पर परामर्श, पद विशेषीकरण, विशेष वर्गों एवं श्रेणियों के उम्मीदवारों के लिए चयन के विशेष प्रयास, अनुसूचित जाति एवं जनजाति के उम्मीदवारों के लिए नियुक्ति से पूर्व प्रशिक्षण आदि ऐसे विषय हैं, जिन पर कर्मचारी चयन आयोग कार्य करता है।

12.5.4 कर्मचारी चयन आयोग भूमिका का मूल्यांकन

स्थापना से लेकर आज तक कर्मचारी चयन आयोग की भूमिका सकारात्मक रही है। लगातार बढ़ रहे नियुक्तियों की जिम्मेदारियों का निर्वाह इस संस्था ने बखूबी किया है। विगत कुछ वर्षों में पद संबंधी अपेक्षाओं और उम्मीदवारों की उपलब्धता को देखते हुए कर्मचारी चयन आयोग ने मंत्रालयों, विभागों और संगठनों को परामर्श देने का कार्य भी अपने हाथों में ले लिया है। साथ ही जिन क्षेत्रों में पर्याप्त संख्या में अनुसूचित जाति और अनुसूचित

जनजातियों की उम्मीदवार उपलब्ध हैं, वहां आयोग ने अपने अथक प्रयास से अपनी परीक्षाओं को लोकप्रिय बनाया है और विगत कुछ वर्षों से इन वर्गों के छात्र-छात्राएं विविध परीक्षाओं के माध्यम से कर्मचारी आयोग द्वारा सम्मिलित किए जा रहे हैं। यह आयोग शिक्षण सामग्री और शिक्षण केंद्र आदि के माध्यम से नियुक्ति पूर्व प्रशिक्षण कार्यक्रम की व्यवस्था करके एक उत्प्रेरक अभिकरण की भूमिका भी निभाता है। कर्मचारी चयन आयोग मूक बधिर लोगों के लिए आरक्षित पदों को भरने के लिए विशेष भर्ती अभियान भी चलाता है। इस आयोग द्वारा परीक्षाएं आयोजित करने और उम्मीदवारों के चयन में अपनाई गई कार्य विधियां क्रियाएं संघ लोक सेवा आयोग द्वारा इस संदर्भ में दशकों से अपनाई गई प्रणाली पर ही आधारित है परंतु आयोग ने प्रशासनिक तंत्र की स्थिरता में महत्वपूर्ण योगदान देने वाले सरकारी कर्मचारियों की व्यापक नियुक्ति संबंधी अपेक्षाओं के अनुरूप कुछ नए परिवर्तन भी किए हैं।

12.6 कार्मिक अभिकरणों की भूमिका का मूल्यांकन

राज्य के स्वरूप और गतिविधियों के विस्तार के साथ प्रशासन का महत्व भी बढ़ता गया है। आज के संदर्भ में राज्य केवल सतही और विनियामक कार्य ही नहीं करता बल्कि वह लोगों की राज्य के प्रति आकांक्षाओं के अनुरूप आर्थिक विकास को गति देता है और सामाजिक और संस्कृति प्रगति को भी एक परिवर्तित रूप देता है। सरकार के कार्य, परिस्थितियों के अनुसार विगत कई दशकों से परिवर्तित हुए हैं और अब प्रशासन एक गतिमूलक, परिवर्तनमूलक और उद्देश्यमूलक प्रणाली का रूप ले चुका है। इस प्रकार की प्रशासनिक व्यवस्था में कार्मिक अति महत्वपूर्ण हो जाते हैं। कार्मिकों को व्यवसायिक और प्रेरणात्मक रूप से तैयार करने के लिए एक ठोस संगठनात्मक प्रणाली का विकसित होना अत्यावश्यक है और ऐसी संगठनात्मक संरचना की छवि हमें केंद्रीय कार्मिक अभिकरण में दिखाई पड़ती है। केंद्रीय कार्मिक अभिकरण ऐसे ही माध्यम हैं जो सभी महत्वपूर्ण कार्मिक गतिविधियों को क्रियान्वित करते हैं तथा भावी नीतियों को बनाने में और विकास कार्यक्रमों की योजना बनाने में सही दिशा भी प्रदान करते हैं। कार्मिक अभिकरण सक्रिय कार्मिक नीति बनाने और कार्मिक संबंधी आधुनिक प्रयोगों को लागू करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अपने 70 वर्ष के कार्यकाल में लोक सेवा आयोग ने अपने संविधानिक उद्देश्यों को काफी सीमा तक पूरा किया है और वास्तव में यह सिद्ध कर दिया है कि यह किसी खास वर्ग विशेष का प्रतिनिधि नहीं बल्कि निष्पक्ष और राजनीतिक रूप से किसी भी प्रकार के दबाबों से अपने आप को अछूता पाता है। आयोग ने कार्यपालिका के दबाव के विरुद्ध बिना भय या पक्षपात कर अधिक अच्छी मिसाल कायम की है।

अभ्यास प्रश्न-

1. केन्द्रीय कार्मिक विभाग की स्थापना कब की गई थी?
2. भारत के संविधान में लोक सेवा आयोगों के कितने वर्गो पर विचार किया गया है?
3. सम्मिलित रक्षा सेवा परीक्षा का आयोजन कौन करता है?
4. कर्मचारी चयन आयोग के कितने क्षेत्रीय कार्यालय हैं?

12.7 सारांश

इस प्रकार इस इकाई में हमने विविध केंद्रीय अभिकरण के उद्भव एवं विकास, संगठन एवं कार्यों के संबंध में व्यापक रूप से चर्चा की, जो विविध कार्मिक गतिविधियों के लिए जिम्मेदार हैं। परामर्श दात्री भूमिका तथा उन उपायों पर भी चर्चा की, जो सरकार द्वारा आयोग के परामर्श से संभावित अनादर के संबंध में संविधान में उपस्थित हैं। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान राष्ट्रवादियों ने जो राजनीतिक आन्दोलन चलाया, उसकी एक प्रमुख मांग थी कि लोक सेवा आयोग में भर्ती भारत में हो, क्योंकि तब इसकी परीक्षा इंग्लैंड में हुआ करती थी। प्रथम लोक सेवा आयोग की स्थापना अक्तूबर 1926 को हुई। आज़ादी के बाद संवैधानिक प्रावधानों के तहत 26 अक्तूबर 1950 को लोक आयोग की स्थापना हुई। इसे संवैधानिक दर्जा देने के साथ साथ स्वायत्ता भी प्रदान की गयी ताकि यह बिना किसी दबाव के योग्य अधिकारियों की भर्ती क़र सके। स्वतंत्रता के बाद, संविधान सभा ने अनुभव किया कि सिविल सेवाओं में निष्पक्ष भर्ती सुनिश्चित करने के साथ ही सेवा हितों की रक्षा के लिए संघीय एवं प्रांतीय, दोनों स्तरों पर लोक सेवा आयोगों को एक सुदृढ़ और स्वायत्त स्थिति प्रदान करने की आवश्यकता महसूस की गई। इस नव स्थापित लोक सेवा आयोग को संघ लोक सेवा आयोग नाम दिया गया। संघ लोक सेवा आयोग भारत के संविधान द्वारा स्थापित एक ऐसी संस्था है, जो भारत सरकार के लोक सेवा के अधिकारियों की नियुक्ति के लिए परीक्षाएँ संचालित करती है। आयोग की मुख्य भूमिका केंद्र तथा राज्यों (अर्थात अखिल भारतीय सेवा) के लिए सामान्य विभिन्न केंद्रीय सिविल सेवाओं तथा पदों एवं सेवाओं में नियुक्ति के लिए व्यक्तियों का चयन करना है।

संघ और राज्य लोक सेवाओं की स्थापना के अलावा वर्ष 1976 में कर्मचारी चयन आयोग का गठन किया गया जिसे सरकार के मध्य स्तरीय और गैर तकनीकी श्रेणी की अधीनस्थ कर्मचारियों की भर्ती संबंधी दायित्व सौंपा गया। इस इकाई में हमने कर्मचारी चयन आयोग के कार्यों की भी व्याख्या की है।

12.8 शब्दावली

संविधान- राजनीतिक व्यवस्था को नियमित एवं नियंत्रित करनेवाला देश का सर्वोच्च कानून, प्रश्रय- किसी पर अनुग्रह करके नियुक्ति प्रदान करने का तरीका, ढ़ांचा- संरचना, दिवालिया- ऐसा व्यक्ति जिसके पास धन धन लौटाने के लिए पर्याप्त धन माल्या संपत्ति ना हो, परिनिन्दा- त्रुटियों को दर्शाने वाली टिप्पणी, अध्यादेश- विधान मंडल की कार्यवाही न होने की स्थिति में राजनीतिक कार्यपालिका द्वारा लाया गया कानून

12.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. वर्ष 1970 में, **2.** तीन, **3.** संघ लोक सेवा आयोग, **4.** सात

12.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अवस्थी एवं माहेश्वरी, 2002, लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
2. निग्रो, फेलिक्स ए., 1963, पब्लिक पर्सनल एडमिनिस्ट्रैशन, हाल्ट, न्यूयॉर्क।
3. सरन, पी., 2005, आधुनिक लोक प्रशासन, मीनाक्षी प्रकाशन, नयी दिल्ली।

4. डे, बाटा के., 1978, भारत में नौकरशाही का विकास और लोक प्रबंध उप्पल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली।

12.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. शर्मा, एम. पी., 2005, लोक प्रशासन, किताब महल, इलाहाबाद।
2. भट्टाचार्य, मोहित, 2012, लोक प्रशासन, वर्ल्ड प्रेस, कोलकाता।

12.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संघ लोक सेवा आयोग के उद्भव एवं विकास का वर्णन कीजिए।
2. संघ लोक सेवा आयोग के कार्यों की समीक्षा कीजिए।
3. संघ लोक सेवा आयोग की परामर्शदात्री भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
4. कर्मचारी चयन आयोग की स्थापना के उत्तरदायी कारणों का विश्लेषण कीजिए।
5. कर्मचारी चयन आयोग के कार्यों का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई-13 राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग

इकाई की संरचना

13.0 प्रस्तावना
13.1 उद्देश्य
13.2 क्या हैं मानवाधिकार?
13.3 भारत में मानवाधिकारों की विकास-यात्रा
13.4 राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग
    13.4.1 आयोग का उद्देश्य
    13.4.2 आयोग का गठन
    13.4.3 आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति
    13.4.4 अध्यक्ष और सदस्यों का त्यागपत्र और हठाया जाना
    13.4.5 अध्यक्ष और सदस्यों की पदावधि
    13.4.6 आयोग के अधिकारी और कर्मचारी
13.5 आयोग के कार्य एवं शक्तियाँ
    13.5.1 आयोग की जाँच से संबंधित शक्तियाँ
    13.5.2 आयोग की अन्वेशण शक्तियाँ
    13.5.3 शिकायतों की जाँच प्रक्रिया
13.6 राज्य मानव अधिकार आयोग
    13.6.1 आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति
13.7 मानव अधिकार न्यायालय और उसकी स्थापना
    13.7.1 विशेष लोक अभियोजन
13.8 सारांश
13.9 शब्दावली
13.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
13.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
13.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
13.13 निबंधात्मक प्रश्न

13.0 प्रस्तावना

अपने विकास-क्रम में मनुष्य ने अपनी बेहतरी के लिए अथक प्रयास और प्रयोग किए, क्योंकि प्राणियों में मनुष्य ही अधिक बुद्धिवान था और अपनी बुद्धि के कारण ही वह अधिक सोचने वाला और उस सोच को क्रिया में बदलने वाला प्राणी था। मनुष्य को अपने विकास-क्रम में उसकी चिंतनशील प्रवृति के कारण जो भी उपलब्धियां मिली, उससे उसने अपने जीवन को बेहतर बनाने का कार्य किया और इसी बेहतरी के लिए उसने समाज बनाया और सामाजिक संरक्षण में वह सुरक्षा के साथ रहने लगा। समाज में मनुष्य को सर्वप्रथम जो बहुमुल्य अधिकार की आवश्यकता महसूस हुई होगी, वो सुरक्षा का अधिकार रहा होगा। बढते समाज में बढती आवश्यकताओं के अनुरूप उसे सुरक्षा के साथ-साथ अन्य अधिकारों की भी आवश्यकता महसूस हुई होगी।

अधिकार, मनुष्य के लिए समाज में सम्मान पूर्वक जीने की गारंटी हैं। अधिकारों के अभाव में मनुष्य अपने आप का विकास नहीं कर सकता और ना ही सामाजिक और पारिवारिक उत्तरदायित्वों का निर्वहन कर सकता है। विश्व के राष्ट्रों में बदलते शासन के रूपों और प्रशासनिक व्यवस्थाओं ने मानव के अधिकारों को भी प्रभावित किया है, लेकिन मनुष्य ने एक बेहतर जीवन के लिए लगातार संघर्ष किया है। उसके संघर्ष का यह परिणाम निकला कि विश्व स्तर पर मानव के अधिकारों की बात होने लगी और राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मावनाधिकारों को मान्यता मिली। मानवाधिकारों की सुरक्षा के लिए विश्व स्तर पर और विश्व के देशों द्वारा अपने-अपने संविधानों में उसकी व्याख्या की गई। इसका परिणाम यह हुआ कि द्वितीय विश्व युद्ध में मानवाधिकारों के हनन की घटनाओं को ध्यान में रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकारों की घोषणा का एक घोषणा-पत्र 10 दिसम्बर 1948 को लागू हुआ। यह घोषणा-पत्र विश्व के देशों से यह आग्रह करता है कि वह अपने-अपने संविधानों में मानवाधिकारों के संरक्षण के लिए प्रावधान करें।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के गठन और उसके उद्देश्य को जान पायेंगे।
- आयोग का कार्य एवं शक्तियों के विषय में जान पायेंगे।
- राज्य मानव अधिकार आयोग के विषय में जान पायेंगे।

13.2 क्या हैं मानवाधिकार?

मानव अधिकार की भावना का उदय सभ्यता के साथ ही हो गया था। मनुष्य प्राणियों में श्रेष्ठ इसलिए माना जाता है कि उसमें बुद्धि है ओर बुद्धि के प्रयोग से वह स्वतः की तथा दुसरों की सुख-सुविधाओं के विषय में सोचता है। इस परोपकारी सोच के कारण ही मनुष्य प्राणियों में श्रेष्ठ है और सभ्य कहलाता हैं।

अधिकार क्या हैं? कभी रुसो ने कहा था, "मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है लेकिन सर्वत्र जंजीरों(बंधनों) में जकड़ा हुआ है।" इसका स्पस्ट अर्थ है कि स्वतंत्रता मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है। रुसो से पहले जॉन लॉक ने स्वतंत्रता, सम्पत्ति और जीवन को मनुष्य के मौलिक अधिकार बताए। फ्रांस की राज्य क्रान्ति का नारा था "स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व ।"

अधिकार का सामान्य अर्थ उन सुविधाओं और परिस्थितियों से है, जो सभ्य समाज के एक सदस्य के रूप में व्यक्ति के सर्वागीण विकास के लिए आवश्यक है। अधिकारों की धारणा का सम्बन्ध, एक ओर व्यक्तियों की स्वतंत्रताओं से तथा दूसरी ओर राज्य की गतिविधियों के क्षेत्र से है। इस सम्बन्ध में लास्की ने लिखा है, "प्रत्येक राज्य अपने द्वारा प्रदान किये गये अधिकारों से आंका जाता है, बिना अधिकारों के स्वतंत्रता का आस्तित्व ही सम्भव नहीं है।" प्रत्येक मनुष्य में कुछ अन्तर्निहित शक्तियाँ होती हैं और इन शक्तियों के विकास से मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास होता है, लेकिन उन शक्तियों के विकास के लिए मनुष्य को कुछ सुविधाओं की आवश्यकता होती है। सुविधाओं की प्राप्ति के लिए मनुष्य समाज के समक्ष कुछ मागें रखता है। ये मागें अनेक प्रकार की हो सकती हैं, कुछ पूर्णतः स्वार्थ जनित, कुछ जनहित में तथा कुछ तटस्थ। समाज में प्रायः उन मागों को मान लिया जाता है, जो सार्वजनिक हित में हो तथा तटस्थ प्रगृति की हो। समाज द्वारा स्वीकृत ऐसी मागों को, जिन्हें राजनीतिक सत्ता द्वारा भी अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी जाती है, अधिकार कहते हैं।

अधिकार समाज की सृष्टि है। समाज द्वारा स्वीकृत होने के बाद ही मागें अधिकार का रूप लेती हैं। प्रायः कुछ विद्वान अधिकारों को राज्य की सृष्टि मानते हैं, वस्तुतः ऐसा नहीं है। जैसा कि लॉस्की ने इस सन्दर्भ में स्पष्ट किया है कि "राज्य अधिकारों की सृष्टि नहीं करता, अपितु उन्हें अपनी स्वीकृति प्रदान करता है तथा किसी समय राज्य के स्वरूप को समाज द्वारा प्रदत्त अधिकारों की मान्यता के आधार पर ही समझा जा सकता है।"

समाज के बाहर अधिकारों की सृष्टि नहीं होती है। समाज द्वारा स्वीकृत न किये जाने पर किसी मांग को बलपूर्वक कार्य रूप में लाया जा सकता है। उस दशा में अधिकार, अधिकार नहीं अपितु शक्ति हो जाते हैं, यह हॉब्स की प्राकृतिक दशा का चित्रण को दर्शाता है, कार्य रूप में इसका परिणाम यह होगा कि समाज अस्त-व्यस्त हो जायेगा। अतः मांग के पीछे समाज की स्वीकृति आवश्यक है। अधिकार समाज में ही सम्भव हैं। शून्य में व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं हो सकते। इसीलिए विद्वानों द्वारा बार-बार यह कहा जाता है कि राबिन्सन क्रूसो जैसे व्यक्ति के निर्जन टापू में कोई अधिकार नहीं थे।

अधिकारों का स्वरूप आवश्यक रूप से जनकल्याणकारी होता है। उनका आधार ही सामाजिक कल्याण है। मैकन ने तो अधिकारों को इसी दृष्टि से परिभाषित करते हुए कहा कि "अधिकार सामाजिक हित के लिए कुछ लाभदायक परिस्थितियाँ हैं, जो कि वास्तविक विकास के लिए अनिवार्य है।" अधिकारों के माध्यम से व्यक्ति और समाज के हितों में सामंजस्य स्थापित किया जाता है। अतः यह आवश्यक है कि उन्हीं मॉगों को स्वीकृति प्रदान की जाये जो इस ध्येय की प्राप्ति में सहायक हों। यही कारण है कि व्यक्ति को कभी भी ऐसे कार्यों को करने की स्वतंत्रता प्रदान नहीं की जाती है, जो उसने व्यक्तित्व के विकास के मार्ग में बाधक हो, जैसे- जुआ खेलना, शराब पीना, आत्महत्या करना आदि। इन कार्यों से समाज के सामूहिक हित में भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

अधिकारों का सामूहिक हित से सम्बद्ध होना इस बात को तय करता है कि अधिकार और कर्त्तव्य परस्पर आबद्ध हैं। एक व्यक्ति का अधिकार दूसरे का कर्त्तव्य है। अतः अधिकारों का उपभोग उसी दशा में हो सकता है जब व्यक्ति दूसरे के अधिकारों को भी स्वीकार कर ले। कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए ही व्यक्तियों को समाज द्वारा अधिकार प्रदान किये जाते हैं। हॉब्स ने इस सम्बन्ध में लिखा, "अधिकार और कर्त्तव्य सामाजिक कल्याण की दशाएँ हैं। समाज के प्रत्येक सदस्य का इस कल्याण के प्रति द्वैध सम्बन्ध है। उसका उसमें एक भाग है, वह उसके अधिकार हैं। उसको इसमें एक भाग लेना है- वह उसके कर्त्तव्य हैं।"

अधिकार एक महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि उसकी प्रत्याभूति(गारंटी) राज्य द्वारा प्रदान की जानी चाहिए। राज्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अधिकारों के पालन की उचित व्यवस्था बनाये। व्यक्तित्व के विकास की परिस्थितियों को समाज द्वारा स्वीकृति मिलने पर भी तब तक वे अधिकार नहीं कहला सकते हैं, जब तक कि राज्य उनके संरक्षण व पालन की जिम्मेदारी अपने ऊपर ना ले ले, अर्थात् उन्हें अपनी स्वीकृति प्रदान न कर दें। राज्य की स्वीकृति के अभाव में ऐसी मांगें परम्पराऐं व रीति-रिवाज हो सकती हैं, अधिकार नहीं। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए बोसांके ने कहा कि अधिकार वह मांग है, जिसे समाज स्वीकार करता है और राज्य लागू करता है।

सामान्यतया मानव अधिकारों को प्रकति की देन माना जाता है। मानव का अपने जीवन के प्रति सुरक्षा की भावना उसके अपने अधिकारों के प्रति चेतना की प्रथम जागृति है। यद्यपि मानवाधिकार क्या हैं? इसे किसी एक पदबनध में बॉध पाना सम्भव नहीं है। हैरल्ड लास्की ने मानवाधिकारों को परिभाषित करते हुए लिखा कि "Rights are those essential condition without a man can not do his best" बिना अधिकारों के मानव जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। अधिकार ही व्यक्ति को पूर्ण व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। मानव तथा अन्य प्राणियों में जो मुख्य अंतर है, वह है- विवेक, मनन व चिंतन करने की क्षमता। इसी क्षमता के कारण मानव सभी प्राणियों में श्रेष्ठ है। "यः मनन कारोति सः मानवः" अतः मनुष्य को अधिकार केवल इसलिए प्राप्त हैं कि वह अन्य प्राणियों की

अपेक्षा अधिक चिंतनशील, तर्कसम्पन्न तथा मुल्य युक्त है। अधिकारों के अभाव में मानव के मानवीय गुणों का विकास तथा उसके आध्यात्मिक एंव भौतिक आकांक्षाओं की संतुष्टि सम्भव नहीं होगी।

सामान्य अर्थों में मानवाधिकार से आशय है, मानव चाहे वह किसी भी लिंग, धर्म, वर्ग व जाति का हो, किसी भी देश, प्रदेश का हो, अमीर हो या गरीब, सभी को अपने पूर्ण विकास, सुरक्षा व सम्मान पूर्वक जीवन जीने का अधिकार जन्म के साथ ही प्राप्त होना चाहिए। अर्थात मानवाधिकार वे अधिकार हैं जो प्रत्येक मनुष्य को मानव जाति का सदस्य होने के नाते तथा सम्मान पूर्वक जीवन जीने के लिए व मानव जाति की श्रेष्ठता के लिए प्राप्त होते हैं। अधिकार मनुष्य को उसके सम्पूर्ण वयक्तित्व के विकास के लिए, उसकी प्रतिष्ठा के लिए तथा उसके शान्ति पूर्ण जीवन जीने के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता है।

प्रश्न यह भी है कि मानव अधिकारों की बात कहाँ पर आती है? अगर बात करें, प्रजातंत्रीय शासन-व्यवस्था की तो इस व्यवस्था में मौजुद संविधान तथा नियम-कानूनों को जनता के हितों को ध्यान में रखकर बनाया जाता है। एक लोक-कल्याणकारी राज्य का सपना इसी शासन-व्यवस्था में पूर्ण होता है। सामान्य जन की सुरक्षा, उसकी स्वतंत्रता उसके अधिकार, इन सभी को ध्यान में रखकर प्रजातंत्रीय शासन-व्यवस्था का जन्म हुआ है। जन-सामान्य के हितों का पूर्ति के लिए जनता द्वारा एक चुनी हुई सरकार होती है, उन्हें न्याय मिल सके इसके लिए एक निष्पक्ष न्यायपालिका होती है, जन-सामान्य सुरक्षित रह सके इसके लिए पुलिस प्रशासन होता है। ये सब होने के उपरान्त भी जन-सामान्य में असुरक्षा की भावना घर कर गयी है, लोग अपनी सामान्य आवश्यकताओं के लिए संघर्ष कर रहे हैं, न्याय मिल सके, निष्पक्ष न्याय मिल सके इसके लिए संघर्ष कर रहे हैं, तो एसी स्थिति में जब कि सब कुछ मौजुद है और प्राप्त नहीं हो रहा है तब अधिकारों, मानाधिकारों की बात आती है।

13.3 भारत में मानवाधिकारों की विकास-यात्रा

भारत में मानव अधिकारों का इतिहास बहुत पुराना है। प्राचीन काल से ही भारत में मानव अधिकारों का उल्लेख मिलता है। भारत में जितना पुराना मानव अधिकारों का इतिहास है उतना ही पुराना इसकी प्राप्ति के संघर्ष का भी इतिहास है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व भारतीयों ने लगातार अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए संघर्ष किया। यही संघर्ष विश्व समुदाय के लोगों ने भी किया। आधुनिक समय में भारत में मानव अधिकारों के लिए संघर्ष तो औपनिवेशिक काल में ही प्रारम्भ हो चूका था और इन अधिकारों को प्राप्त करने के लिए जिस संस्था की आवश्यकता थी, उसकी शुरुआत तो 1930 के लगभग जवाहर लाल नेहरु और उनके सहयोगियों ने "नागरिक स्वतंत्रता संघ" की स्थापना के साथ ही हो कर दी थी। यह संघ जनता के बीच संदेश पहुँचाने में सफल रहा था। सन् 1974 में गठित नागरिक स्वतंत्रता संगठन ने भी यही कार्य किया। 1975 में जय प्रकाश नारायण के नेतृत्व में नागरिक स्वतंत्रता तथा प्रजातांत्रिक अधिकारों के लिए संघ का गठन किया गया, जिसका ध्येय राज्य सत्ता के अत्याचारों के खिलाफ संघर्ष करना था। इसके साथ ही भारत के कई राज्यों में भी मानव अधिकार संगठनों का उदय हुआ। दिल्ली तथा मुम्बई में प्रजातांत्रिक अधिकारों की सुरक्षार्थ समिति बनी, वहीं बिहार में 'मुक्त विधिक सहायता समिति' का गठन किया गया।

परन्तु राजनीतिक दृष्टि से इस दिशा में पहला कदम जनता पार्टी द्वारा अपने चुनाव घोषणा-पत्र में इसका उल्लेख किया गया। जनता पार्टी 'नागरिक अधिकार आयोग' गठित करना चाहती थी, तथा इस आयोग में सदस्यों के रुप में न्यायाधीशों को प्राथमिकता देना था। 1983 के पूर्ववर्ती वर्षों में अल्प संख्यक आयोग ने सरकार से एक राष्ट्रीय एकाकारी मानवाधिकारी आयोग गठन करने की सिफारिश की तथा अल्प संख्यक आयोग ने सरकार से इस आयोग को संवैधानिक अधिकार दिये जाने की भी मांग की।

1991 के चुनावों में कांग्रेस पार्टी ने अपने 'चुनाव घोषणा-पत्र' में एक राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग गठित करने की घोषणा की। पार्टी के वरिष्ठ नेता श्री नरसिम्हाराव ने स्पष्ट रुप में घोषणा की कि किसी भी तरह से मानव अधिकारों के हनन् को सहन नहीं किया जा सकता है। 24 अप्रेल 1992 को कांग्रेस प्रवक्ता विठ्ठल नरहरि गाडगिल ने यह घोषणा की कि राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के गठन, भूमिका और प्रकृति के विषय में एक राष्ट्रीय चर्चा होनी चाहिए, क्योंकि वर्तमान में यह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दा है तथा वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग का गठन किया जाए। 14 सितम्बर 1992 के राज्यों के मुख्यमंत्रियों के सम्मेलन में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के गठन को लेकर एक प्रस्ताव रखा, लेकिन मिजोरम के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री लनथनवाला ने आयोग के गठन से सम्बन्धित प्रस्ताव की यह कह कर आलोचना की कि भारतीय संविधान पहले से ही नागरिकों के अधिकारों के सुरक्षा की गारंटी देता है और भारत में एक स्वतंत्र प्रेस के होते हुए इस तरह के आयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। आन्ध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री जनार्दन रेड्डी ने सचेत किया कि आयोग के कार्यों और अधिकारों की टकराहट पहले से स्थापित संस्थाओं के विधिक कार्यों से नहीं होनी चाहिए। सम्मेलन में उपस्थित हिमांचल प्रदेश, राजस्थान और मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्रियों ने सलाह दी कि एक ही राष्ट्रीय आयोग, अल्पसंख्यक, पिछड़े, अनुसूचित जाति, जनजाति आयोगों के कार्यों के साथ तालमेल कर सकता है। राजनीतिक दलों के अधिकांश राजनेता इस पक्ष में थे कि राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग का गठन होना चाहिए, जिसके चलते केन्द्रीय सरकार इस दशा में कदम उठाने के लिए मानसिक रुप से तैयार हुई। इन भीतरी परिस्थितियों के अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी मानव अधिकारों को लेकर गतिविधियाँ तेज हो रही थीं। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर तीसरी दुनियां के देशों पर मानव अधिकारों के हनन् को रोकने का एक बहुत बड़ा दबाव था, क्योंकि तीसरी दुनियां के देशों के सामने गहरी आर्थिक व राजनीतिक चुनौती थी, इसलिए इन देशों में मानव अधिकारों का हनन् भी हो रहा था, जिस कारण ये देश राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग बनाने के लिए प्रयासरत थे।

भारत सरकार ने आयोग के गठन की दिशा में एक दिन में सभी कदम नहीं उठाए वरन् इसके पिछे भारत के भीतर बढती मानव अधिकारों के हनन की घटनाएँ तथा अंतर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा उनकी आलोचनाओं ने भारत में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के गठन का मार्ग को प्रशस्त किया। इन कारणों के चलते भारत सरकार ने राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग संबंधी विधेयक 14 मई 1992 को संसद में रखा। विधेयक स्थायी समिति को सौंप दिया गया। 28 सितम्बर 1993 को राष्ट्रपति द्वारा मानव अधिकार संबंधी अध्यादेश जारी किया गया। थोड़े-बहुत सुझावों एंव संशोधनों के उपरान्त विधेयक को दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया गया। इसके उपरान्त यह "मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम-1993" के रुप में सामने आया। इसी अधिनियम के तहत् 12 अक्टुबर 1993 को 'राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग' का गठन हुआ।

13.4 राष्ट्रीय मानव अधिकारआयोग

भारत में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, राज्य मानव अधिकार आयोग और मानव अधिकारन्यायालयों की स्थापना तथा मानव अधिकारों की सुरक्षा के लिए संसद द्वारा ''मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993'' पारित किया गया, जो पूरे देश में 28 सितम्बर 1993 को प्रभावी हुआ। इसी अधिनियम के आधार पर भारत में 'राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग' का गठन किया गया। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग को विस्तार से समझने के लिए निम्नलिखित बिन्दुओं का अध्ययन करते हैं-

13.4.1 आयोग का उद्देश्य

मानव अधिकारों का बेहतर संरक्षण तथा संवर्धन(प्रोत्साहन), करना आयोग का महत्वपूर्ण उद्देश्य है।

13.4.2 आयोग का गठन

भारत सरकार ने 'मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993' के द्वारा प्राप्त शक्तियों और सौंपे गये कार्यों को सम्पादित करने के लिए राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग गठित किया। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के गठन के लिए-

1. केन्द्रीय सरकार, एक निकाय का, जो राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के नाम से ज्ञात होगा, इस अधिनियम के अधीन उसे प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करने और उसे सौंपे गए कृत्यों का पालन करने के लिए, गठन करेगी।
2. आयोग निम्नलिखित से मिलकर बनेगा, अर्थात-
   - एक अध्यक्ष, जो उच्चतम न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति है;
   - एक सदस्य, जो उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश है या रहा है;
   - एक सदस्य, जो किसी उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति है या रहा है;
   - दो सदस्य, जो ऐसे व्यक्तियों में से नियुक्त किए जाऐंगे, जिन्हें मानव अधिकारों से सम्बन्धित विषयों का ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव है।
3. राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग, राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग, राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग और राष्ट्रीय महिला आयोग के अध्यक्ष आयोग के सदस्य समझे जाऐंगे।
4. एक महासचिव होगा, जो आयोग का मुख्य कार्यपालक अधिकारी होगा और वह आयोग की ऐसी शक्तियों का प्रयोग और ऐसे कृत्यों का निर्वहन करेगा जो यथास्थिति, आयोग या अध्यक्ष उसे प्रत्यायोजित करें।
5. आयोग का मुख्यालय दिल्ली में होगा और आयोग, केन्द्रीय सरकार के पूर्व अनुमोदन से, भारत में अन्य स्थानों पर कार्यालय स्थापित कर सकेगा।

13.4.3 आयोग अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति

राष्ट्रीय मानवअधिकार आयोग के सदस्यों की नियुक्ति के लिए एक 'नियुक्ति समिति' है, जिसकी सिफारिश पर राष्ट्रपति द्वारा अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति की जाती है।

1. राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा अध्यक्ष और (अन्य सदस्यों) को नियुक्त करेगा, परन्तु इस उपधारा के अधीन प्रत्येक नियुक्ति ऐसी समिति की सिफारिशें प्राप्त होने के पश्चात की जाऐंगी, जो निम्नलिखित से मिलकर बनेगी, अर्थात-
   - प्रधानमंत्री- अध्यक्ष
   - लोकसभा का अध्यक्ष- सदस्य
   - भारत सरकार के गृह मंत्रालय का भारसाधन मंत्री- सदस्य
   - लोकसभा के विपक्ष का नेता- सदस्य
   - राज्यसभा में विपक्ष का नेता- सदस्य
   - राज्यसभा का उपसभापति- सदस्य
2. अध्यक्ष या किसी सदस्य की कोई नियुक्ति केवल समिति में कोई रिक्त होने के कारण अमान्य नहीं होगी।

13.4.4 अध्यक्ष और सदस्यों का त्यागपत्र और हटाया जाना

आयोग के सदस्यों को पद से हटाने के लिए अधिनियम में निम्नलिखित प्रावधान हैं-

अध्यक्ष या कोई सदस्य, राष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लिखित सूचना द्वारा अपना पद त्याग सकेगा।

आयोग के अध्यक्ष या किसी सदस्य को उसके पद से राष्ट्रपति के आदेश द्वारा, उनके उच्चतम न्यायालय को निर्देश दिये जाने पर उच्चतम न्यायालय के द्वारा उस संबंध में विहित प्रक्रिया के अनुसार की गयी जाँच पर यह रिपोर्ट देने के बाद कि अध्यक्ष या अन्य सदस्य किसी ऐसे कदाचार(र्दुव्यवहार) या अक्षमता के आधार पर हटाया जा सकता है। राष्ट्रपति आयोग के सदस्यों को-

- न्याय वर्णित दिवालिया घोषित कर दिया गया है,
- अपने पद के कर्तव्यों के बाहर किसी वैतनिक रोजगार में अपने कार्यकाल में लिप्त रहने पर,
- मानसिक या शरीर की दुर्बलता के कारण पद पर बने रहने के अयोग्य होने पर,
- विकृत चित्त का होने पर,
- किसी अपराध के लिए राष्ट्रपति की दृष्टि में नैतिक पतन वाला है, सिद्ध होने पर या सजा होने पर।

उपरोक्त परिस्थितियों में राष्ट्रपति आयोग के सदस्यों को अपने पद से हटा सकता है।

कोई भी सदस्य 70 वर्ष की आयु पूर्ण करने के बाद पद ग्रहण नहीं कर सकता है।

13.4.5 अध्यक्ष और सदस्यों की पदावधि

अध्यक्ष और सदस्यों की पदावधि के संबंध में निम्नलिखित प्रावधान हैं-

1. अध्यक्ष के रूप में नियुक्त किया गया कोई व्यक्ति, अपने पद ग्रहण की तारीख से पांच वर्ष की अवधि तक या सत्तर वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने तक, इनमें से जो भी पहले हो, अपना पद धारण करेगा।
2. सदस्य के रूप में नियुक्त किया गया कोई व्यक्ति, अपने पद ग्रहण की तारीख से पांच वर्ष की अवधि तक अपना पद धारण करेगा तथा पांच वर्ष की और अवधि के लिए पुनः नियुक्ति का पात्र होगा। परन्तु कोई भी सदस्य सत्तर वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने के पश्चात अपना पद धारण नहीं करेगा।
3. अध्यक्ष या कोई सदस्य, अपने पद पर न रह जाने पर, भारत सरकार के अधीन या किसी राज्य सरकार के अधीन किसी भी ओर नियोजन का पात्र नहीं होगा।

कुछ परिस्थितियों में सदस्य का अध्यक्ष के रूप में कार्य करना या उसके कार्यों का निर्वहन करना-

1. अध्यक्ष की मृत्यु, पदत्याग या अन्य कारण से उसके पद में हुई रिक्ति की दशा में राष्ट्रपति अधिसूचना द्वारा सदस्यों में से किसी एक सदस्य को अध्यक्ष के रूप में तब तक कार्य करने के लिए प्राधिकृत कर सकेगा, जब तक ऐसी रिक्ति को भरने के लिए नए अध्यक्ष की नियुक्ति नहीं हो जाती।
2. जब अध्यक्ष छुट्टी पर, अनुपस्थिति के कारण या अन्य कारण से अपने कृत्यों का निर्वहन करने में असमर्थ है, तब सदस्यों में से एक ऐसा सदस्य जिसे राष्ट्रपति अधिसूचना द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत करे, उस तारीख तक अध्यक्ष के कृत्यों का निर्वहन करेगा, जिस तारीख को अध्यक्ष अपने कर्तव्यों को फिर से संभालता है।

13.4.6 आयोग के अधिकारी और कर्मचारी

केन्द्रीय सरकार, आयोग को भारत सरकार के सचिव स्तर का एक अधिकारी, जो आयोग का महासचिव होगा, आयोग को उपलब्ध करायेगी। ऐसे अधिकारी के अधीन, जो पुलिस महानिदेशक के स्तर से नीचे का न हो, ऐसे पुलिस और अन्वेषण कर्मचारी तथा ऐसे अन्य अधिकारी और कर्मचारी, जो आयोग के कार्यों का दक्षतापूर्ण पालन करने के लिए आवश्यक हो, केन्द्र सरकार आयोग को उपलब्ध कराएगी।

ऐसे नियमों के अधीन रहते हुए, जो केन्द्रीय सरकार द्वारा इस निमित्त बनाए जाऐं, आयोग ऐसे अन्य प्रशासनिक, तकनीकी और वैज्ञानिक कर्मचारियों को नियुक्त कर सकेगा, जो वह आवश्यक समझे। नियुक्त अधिकारियों और अन्य कर्मचारी के वेतन, भत्ते और सेवा की शर्तें ऐसी होंगी, जो विहित की जाएं।

13.5 आयोग के कार्य एंव शक्तियाँ

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के अनेक कार्य हैं। इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य मानवाधिकारों का संरक्षण है और अन्य कार्य इसी से जुड़े हैं। मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम की धारा- 12 में आयोग के कार्यों/कृत्यों का उल्लेख किया गया है। जिसमें आयोग निम्नलिखित सभी या किन्हीं कृत्यों का पालन करेगा-

1. किसी पीड़ित व्यक्ति द्वारा या उसकी ओर से किसी व्यक्ति द्वारा या उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के निर्देश पर या स्वप्रेरणा से जाँच करना-
    - मानव अधिकारों का किसी लोक सेवक द्वारा अतिक्रमण या दुरुपयोग किए जाने की जाँच करेगी, तथा
    - ऐसे अतिक्रमण के निवारण में किसी लोक सेवक द्वारा की गई उपेक्षा की, शिकायत के बारे में जाँच करेगी।
2. किसी न्यायालय के समक्ष लंबित किसी कार्यवाही में, जिसमें मानव अधिकारों के उल्लंघन का कोई मामला है, उस मामले में हस्तक्षेप करना,
3. राज्य सरकार को सूचित करते हुए, राज्य सरकार के नियंत्रण के अधीन किसी जेल या किसी अन्य संस्था का, जहाँ व्यक्ति उपचार, सुधार या संरक्षण के प्रयोजनों के लिए निरूद्ध किया जाता है या रखा जाता है, उनके जीवन की परिस्थितियों का अध्ययन करने के लिए, निरीक्षण करना और उन पर सरकार को सिफारिश करना,
4. संविधान या मानव अधिकारों के संरक्षण के लिए प्रवृत्त किसी अन्य विधि द्वारा या उसके अधीन उपबंधित रक्षा उपायों का पुनर्विलोकन करना और उनके प्रभावपूर्ण कार्यन्वयन के लिए उपायों की सिफारिश करना,
5. ऐसी बातों का, जिनके अन्तर्गत आतंकवाद के कार्य हैं और जो मानव अधिकारों के उपभोग में विघ्न डालती हैं, पुनर्विलोकन करना और समुचित उपचार के उपायों की सिफारिश करना,
6. मानव अधिकारों से सम्बन्धित संधियों और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय लिखतों का अध्ययन करना और उनके प्रभावपूर्ण कार्यान्वयन के लिए सिफारिशें करना,
7. मानव अधिकारों के क्षेत्र में अनुसंधान करना और उसको प्रोत्साहित करना,
8. समाज के विभिन्न वर्गों के बीच मानव अधिकारों सम्बन्धी जानकारी का प्रसार करना और प्रकाशनों, संचार विचार माध्यमों, गोष्ठियों और अन्य उपलब्ध साधनों के माध्यम से इन अधिकारों के संरक्षण के लिए उपलब्ध रक्षा उपायों के प्रति जागरूकता का संवर्धन करना,

9. मानव अधिकारों के क्षेत्र में कार्यरत गैर-सरकारी संगठनों और संस्थाओं के प्रयासों को उत्साहित करना,

10. ऐसे अन्य कार्यों को करना, जो मानव अधिकारों के प्रोन्नति के लिए आवश्यक समझे जाए।

इस प्रकार आयोग की परिधि में वे सभी कार्य आते हैं जो किसी न किसी रुप में मानव अधिकारों से जुड़े होते हैं। वस्तुतः आयोग का कार्य मात्र मानव अधिकारों का संरक्षण करना ही नहीं है, अपितु मानव अधिकारों के प्रति जन- सामान्य में जागरुकता फैलाना और इस क्षेत्र में कार्य कर रहे संस्थाओं को प्रोत्साहित भी करना है।

13.5.1 आयोग की जाँच से सम्बन्धित शक्तियाँ

1. आयोग को, इस अधिनियम के अधीन शिकायतों के बारे में जाँच करते समय और विशिष्टतया निम्नलिखित विषयों के सम्बन्ध में वे सभी शक्तियाँ होगी जो सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के अधीन किसी वाद का विचारण करते समय सिविल न्यायालय को है; अर्थात्-

- साक्षियों को समन करना और हाजिर कराना तथा शपथ पर उनकी परीक्षा करना,
- किसी दस्तावेज को प्रकट और पेश करने की अपेक्षा करना,
- शपथ पत्रों पर साक्ष्य ग्रहण करना,
- किसी न्यायालय या कार्यालय से कोई लोक अभिलेख या उसकी प्रतिलिपि अपेक्षित करना,
- साक्षियों या दस्तावेजों की परीक्षा के लिए कमीशन निकालना,
- कोई अन्य विषय, जो विहित किया जाए।

2. आयोग को किसी व्यक्ति से, ऐसे किसी विशेषाधिकार के अधीन रहते हुए, जिसका उस व्यक्ति द्वारा तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के अधीन दावा किया जाए, ऐसी बातों या विषयों पर सूचना देने की अपेक्षा करने की शक्ति होगी, जो आयोग की राय में जाँच की विषयवस्तु के लिए उपयोगी हो या उससे सुसंगत हो और जिस व्यक्ति से, ऐसी अपेक्षा की जाए वह भारतीय दंड संहिता की धारा 176 और धारा 177 के अर्थ में ऐसी सूचना देने के लिए वैध रूप से आबद्ध समझा जाएगा।

3. आयोग या आयोग द्वारा इस निमित्त विशेषतया प्राधिकृत कोई ऐसा अन्य अधिकारी, जो राजपत्रित अधिकारी की पक्ति से नीचे का न हो, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 100 के उपबंधों के, जहाँ तक वे लागू हों, अधीन रहते हुए किसी ऐसे भवन या स्थान में, जिसकी बाबत आयोग के पास यह विश्वास करने का कारण है कि जाँच की विषय-वस्तु से सम्बन्धित कोई दस्तावेज वहाँ पाया जा सकता है, प्रवेश कर सकेगा और किसी ऐसे दस्तावेज को अभिगृहित कर सकेगा अथवा उससे उद्धरण या उसकी प्रतिलिपियाँ ले सकेगा।

4. आयोग को सिविल न्यायालय समझा जाएगा और जब कोई ऐसा अपराध, जो भारतीय दंड संहिता की धारा 175, धारा 178, धारा 179, धारा 180 या धारा 228 में वर्णित है, आयोग की दृष्टिगोचरता में या उपस्थिति में किया जाता है तब आयोग, अपराध गठित करने वाले तथ्यों तथा अभियुक्त के कथन को अभिलिखित करने के पश्चात, जैसा कि दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 में उपबंधित है, उस मामले को ऐसे मजिस्ट्रेट को भेज सकेगा जिसे उसका विचारण करने की अधिकारिता है और वह मजिस्ट्रेट जिसे कोई ऐसा मामला भेजा जाता है, अभियुक्त के विरूद्ध शिकायत सुनने के लिए इस प्रकार अग्रसर होगा, मानो वह मामला दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 346 के अधीन उसको भेजा गया हो।

5. आयोग के समक्ष प्रत्येक कार्यवाही को भारतीय दंड संहिता की धारा 193 और धारा 228 के अर्थ में तथा धारा 196 के प्रयोजनों के लिए न्यायिक कार्यवाही समझा जाएगा और आयोग को दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 195 और अध्याय 26 के सभी प्रयोजनों के लिए सिविल न्यायालय समझा जाएगा।
6. जहाँ आयोग ऐसा करना आवश्यक और समीचीन समझता है, वहाँ वह आदेश द्वारा, उसके समक्ष फाइल की गई या लम्बित किसी शिकायत को उस राज्य के राज्य आयोग को, जिससे इस अधिनियम के उपबंधों के अनुसार निपटारे के लिए शिकायत उद्भूत होती है, अन्तरित कर सकेगा; परन्तु ऐसी कोई शिकायत तब तक अन्तरित नहीं की जाएगी जब तक कि वह शिकायत ऐसी न हो जिसके सम्बन्ध में राज्य आयोग को उसे ग्रहण करने की अधिकारिता न हो।
7. अधीन अन्तरित की गई प्रत्येक शिकायत पर राज्य आयोग द्वारा ऐसे कार्यवाही की जाएगी और उसका निपटारा किया जाएगा, मानो वह शिकायत आरम्भ में उसके समक्ष फाइल की गई हो।

13.5.2 आयोग की अन्वेषण संबंधी शक्तियाँ

1. आयोग, जाँच से सम्बन्धित कोई अन्वेषण करने के प्रयोजन के लिए, यथास्थिति, केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार की सहमति से केन्द्रीय सरकार या उस राज्य सरकार के किसी अधिकारी या अन्वेषण अभिकरण की सेवाओं का उपयोग कर सकेगा।
2. जाँच से सम्बन्धित किसी विषय का अन्वेषण करने के प्रयोजन के लिए कोई ऐसा अधिकारी या अभिकरण, जिसकी सेवाओं उपयोग किया जाता है, आयोग के निदेशन और नियंत्रण के अधीन रहते हुए-
    - किसी व्यक्ति को समन कर सकेगा और हाजिर करा सकेगा तथा उसकी परीक्षा कर सकेगा,
    - किसी दस्तावेज को प्रकट और पेश किए जाने की अपेक्षा कर सकेगा, और
    - किसी कार्यालय से किसी लोक अभिलेख या उसकी प्रतिलिपि की अपेक्षा कर सकेगा।
3. किसी ऐसे अधिकारी या अभिकरण के समक्ष जिसकी सेवाओं का उपयोग किया जाता है, किसी व्यक्ति द्वारा किए गए किसी कथन के सम्बन्ध में वैसे ही लागू होंगे, जैसे वे आयोग के समक्ष साक्ष्य देने के अनुक्रम में किसी व्यक्ति द्वारा किए गए किसी कथन के सम्बन्ध में लागू होते है।
4. जिस अधिकारी या अभिकरण की सेवाओं का उपयोग किया जाता है, वह जाँच से सम्बन्धित किसी विषय का अन्वेषण करेगा और उस पर आयोग को ऐसी अवधि के भीतर, जो आयोग द्वारा इस निमित्त विनिर्दिष्ट की जाए, रिपोर्ट देगा।
5. आयोग को दी गई रिपोर्ट में कथित तथ्यों के और निकाले गए निष्कर्षों के यदि कोई हो, सही होने के बारे में अपना समाधान करेगा और इस प्रयोजन के लिए आयोग ऐसी जाँच, जिसके अन्तर्गत उस व्यक्ति की या उन व्यक्तियों की परीक्षा है, जिसने या जिन्होंने अन्वेषण किया हो या उसमें सहायता की हो, कर सकेगा, जो वह ठीक समझे।

13.5.3 जाँच संबंधी शक्तियाँ

आयोग, मानव अधिकारों के अतिक्रमण की शिकायतों की जाँच निम्नलिखित प्रक्रियाओं के माध्यम से करता है-
पहला- केन्द्र सरकार या किसी राज्य सरकार अथवा उसके अधीनस्थ किसी अन्य प्राधिकारी या संगठन से ऐसे समय के भीतर, जो आयोग द्वारा विनिर्दिष्ट किया जाए, जानकारी या रिपोर्ट मांग सकेगा। लेकिन यदि आयोग को

नियत समय के भीतर जानकारी या रिपोर्ट प्राप्त नहीं होती है तो वह शिकायत के बारे में स्वयं जाँच कर सकेगा। यदि जानकारी या रिपोर्ट की प्राप्ति पर, आयोग का यह समाधान हो जाता है कि कोई और जाँच अपेक्षित नहीं है अथवा अपेक्षित कार्यवाही सम्बन्धित सरकार या प्राधिकारी द्वारा आरम्भ कर दी गई है या की जा चुकी है तो वह शिकायत के बारे में कार्यवाही नहीं कर सकेगा और शिकायतकर्ता को तद्नुसार सूचित कर सकेगा,

दूसरा- पहले क्रम में अंतर्विष्ट किसी बात पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना यदि आयोग, शिकायत की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए आवश्यक समझता है तो जाँच आरम्भ कर सकेगा।

आयोग इस अधिनियम के अधीन की गई किसी जाँच के दौरान और उसके पूरा होने पर निम्नलिखित कार्यवाही कर सकेगा, अर्थात्-

1. जहाँ जाँच से किसी लोक सेवक द्वारा मानव अधिकारों का अतिक्रमण या मानव अधिकारों के अतिक्रमण के निवारण में उपेक्षा या मानव अधिकारों के अतिक्रमण का उत्प्रेरण प्रकट होता है, तो वहाँ वह सम्बन्धित सरकार या प्राधिकारी को-
    - शिकायतकर्ता या पीड़ित व्यक्ति या उसके कुटुम्ब के सदस्यों को ऐसा प्रतिकर या नुकसान का संदाय(भुगतान) करने की सिफारिश कर सकेगा, जो आयोग आवश्यक समझे,
    - सम्बन्धित व्यक्ति या व्यक्तियों के विरूद्ध अभियोजन के लिए कार्यवाहियाँ आरम्भ करने या कोई अन्य समुचित कार्यवाही करने के लिए सिफारिश कर सकेगा, जो आयोग ठीक समझे,
    - ऐसी अन्य कार्यवाही करने की सिफारिश कर सकेगा, जिसे वह ठीक समझे।
2. उच्चतम न्यायालय या सम्बन्धित उच्च न्यायालय को ऐसे निर्देश, आदेश या रिट के लिए जो, वह न्यायालय आवश्यक समझे, अनुरोध करना,
3. जाँच के किसी प्रक्रम पर सम्बद्ध सरकार या प्राधिकारी को पीड़ित व्यक्ति या उसके कुटुम्ब के सदस्यों को ऐसी तत्काल अन्तरिम सहायता मंजूर करने की, जो आयोग आवश्यक समझे, सिफारिश करना,
4. आयोग अपनी जाँच रिपोर्ट की एक प्रति अपनी सिफारिशों सहित, सम्बन्धित सरकार या प्राधिकारी को भेजेगा और सम्बन्धित सरकार या प्राधिकारी, एक मास की अवधि के भीतर या ऐसे और समय के भीतर जो आयोग अनुज्ञात करे, रिपोर्ट पर अपनी टीका-टिप्पणी आयोग को भेजेगा, जिसके अन्तर्गत उस पर की गई या की जाने के लिए प्रस्तावित कार्यवाही है,
5. आयोग, सम्बन्धित सरकार या प्राधिकारी की टीका-टिप्पणी सहित, यदि कोई हो, अपनी जाँच रिपोर्ट तथा आयोग की सिफारिशों पर सम्बन्धित सरकार या प्राधिकारी द्वारा की गई या की जाने के लिए प्रस्तावित कार्यवाही को प्रकाशित करेगा।

13.6 राज्य मानव अधिकार आयोग

मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 के अधीन राज्यों में मानवाधिकारों के उल्लंघन से संबंधित मामलों के लिए प्रत्येक राज्य 'राज्य मानव अधिकार आयोग' का गठन करेगा।

1. कोई राज्य सरकार, इस अध्याय के अधीन राज्य आयोग को प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करने के लिए और सौंपे गए कृत्यों का पालन करने के लिए एक निकाय का गठन कर सकेगी जिसका नाम (राज्य का नाम) मानव अधिकार आयोग होगा।

2. राज्य आयोग ऐसी तारीख से, जो राज्य सरकार अधिसूचना द्वारा विनिर्दिष्ट करे, निम्नलिखित से मिलकर बनेगा, अर्थात्-
    - एक अध्यक्ष, जो किसी उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति रहा है,
    - एक सदस्य, जो किसी उच्च न्यायालय का न्यायाधीश है या रहा है, या राज्य में जिला न्यायालय का न्यायाधीश है या रहा है और जिसे जिला न्यायाधीश के रूप में कम से कम सात वर्ष का अनुभव है,
    - एक सदस्य, जो ऐसे व्यक्तियों में से नियुक्त किया जाएगा, जिन्हें मानव अधिकारों से सम्बन्धित विषयों का ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव है।
3. एक सचिव होगा, जो राज्य आयोग का मुख्य कार्यपालक अधिकारी होगा और वह राज्य आयोग की ऐसी शक्तियों का प्रयोग और ऐसे कृत्यों का निर्वहन करेगा, जो राज्य आयोग उसे प्रत्यायोजित करें।
4. राज्य आयोग का मुख्यालय ऐसे स्थान पर होगा जो राज्य सरकार अधिसूचना द्वारा विनिर्दिष्ट हो।
5. कोई राज्य आयोग केवल संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची 2 और 3 में प्रगणित प्रविष्टियों में से किसी से सम्बन्धित विषयों की बाबत मानव अधिकारों के अतिक्रमण किए जाने की जाँच कर सकेगा।

   परन्तु यदि किसी ऐसे विषय के बारे में आयोग द्वारा या तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के अधीन सम्यक् रूप से गठित किसी अन्य आयोग द्वारा पहले से ही जाँच की जा रही है, तो राज्य आयोग उक्त विषय के बारें में जाँच नहीं करेगा।

   परन्तु यह और कि जम्मू-कश्मीर मानव अधिकार आयोग के सम्बन्ध में, यह उपधारा ऐसे प्रभावी होगी मानो "केवल संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची 2 और 3 में प्रगणित प्रविष्टियों में से किसी से सम्बन्धित विषयों की बाबत" शब्द और अंकों के स्थान पर" जम्मू-कश्मीर राज्य को यथा लागू संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची 3 में प्रगणित प्रविष्टियों में से किसी से सम्बन्धित विषयों की बाबत और उन विषयों की बाबत जिनके सम्बन्ध में उस राज्य के विधान-मंडल को विधियां बनाने की शक्ति है" शब्द और अंक रख दिए गए हों।
6. दो या दो से अधिक राज्य सरकारें, राज्य आयोग के अध्यक्ष या सदस्य की सहमति से, यथास्थिति, ऐसे अध्यक्ष या सदस्य को साथ-साथ अन्य राज्य आयोग का सदस्य नियुक्त कर सकेगी यदि ऐसा अध्यक्ष या सदस्य ऐसी नियुक्ति के लिए सहमति देता है।

परन्तु उस राज्य की बाबत जिसके लिए, यथास्थिति, सामान्य अध्यक्ष या सदस्य दोनों नियुक्त किए जाने हैं इस धारा के अधीन की गई प्रत्येक नियुक्ति धारा 22 की उपधारा (1) में निर्दिष्ट समिति की सिफारिशें अभिप्राप्त करने के पश्चात् की जाएगी।

13.6.1 आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति

राज्यपाल अपन हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा अध्यक्ष और सदस्यों को नियुक्त करेगा। परन्तु प्रत्येक नियुक्ति ऐसी समिति की सिफारिशें प्राप्त होने के पश्चात की जाएगी, जो निम्नलिखित से मिलकर बनेगी, अर्थात-

- मुख्यमंत्री- अध्यक्ष
- विधानसभा का अध्यक्ष- सदस्य

- उस राज्य के गृह विभाग का भारसाधक मंत्री- सदस्य
- विधानसभा में विपक्ष का नेता- सदस्य

परन्तु जहाँ राज्य में विधान परिषद है, वहाँ उस परिषद का सभापति और उस परिषद में विपक्ष का नेता भी समिति के सदस्य होंगे। तथा उच्च न्यायालय का कोई आसीन न्यायाधीश या कोई आसीन जिला न्यायाधीश, सम्बन्धित राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात ही नियुक्त किया जाएगा, अन्यथा नहीं। राज्य आयोग के अध्यक्ष या किसी सदस्य की कोई नियुक्ति, केवल इस कारण अविधिमान्य नहीं होगी कि उप निर्दिष्ट समिति में कोई रिक्ति है।

13.7 मानव अधिकार न्यायालय और उसकी स्थापना

न्याय प्रणाली को गति प्रदान करने का कार्य न्यायालय का होता है। न्यायालयों के माध्यम से ही पीड़ित एंव व्यथित व्यक्तियों को न्याय प्राप्त होता है। अधिकारों में संशोधन भी न्यायालयों द्वारा ही होता है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि मानव अधिकारों के संरक्षण के लिए भी न्यायालय स्थापित हो।

मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम-1993, की धारा 30 में मानवाधिकार न्यायालयों की स्थापना में विषय में कहा गया है कि "मानवाधिकारों के उल्लंघन से संबंधित मामलों के त्वरित विचारण हेतु राज्य सरकार अधिसूचना जारी करके प्रत्येक जिले के लिए एक सेशन न्यायालय को मानवाधिकार न्यायालय के रुप में विनिर्दिष्ट कर सकती है।" ऐसा करने से पहले राज्य सरकार को उस राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श कर सहमति प्राप्त करनी होगी, साथ ही इन न्यायालयों का कार्य मानवाधिकारों के उल्लंघन से संबंधित मामलों/अपराधों का निपटारा करना होगा।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि, कोई सेंशन न्यायालय पहले से ही मानवाधिकारों से संबंधित मामलों के लिए विशेष न्यायालय के रूप में विनिर्दिष्ट है अथवा मानवाधिकारों से संबंधित मामलों के लिए पहले से ही कोई विशेष न्यायालय गठित है तो इस धारा के उपबन्ध लागू नहीं होंगे, अर्थात् राज्य सरकार के लिए अधिसूचना जारी कर ऐसे न्यायालय को विनिर्दिष्ट करने की आवश्यकता नहीं होगी।

मानवाधिकार संरक्षण की की धारा 30 के प्रावधानों से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक जिले में एक मानवाधिकार न्यायालय होना चाहिए। ऐसा न्यायालय पृथक से विशेष न्यायालय हो सकता है या सेशन न्यायालय को ही मानवाधिकार न्यायालय के रुप में विनिर्दिष्ट किया जा सकता है।

जैसा कि दण्ड प्रक्रिया संहिता- 1973 की धारा 09 में प्रविधिक है कि प्रत्येक जिले में एक सेशन न्यायालय होगा। सेशन न्यायालयों की अधिकारिता के विषय में प्रावधान दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 26 में किया गया है। इस धारा के अनुसार सेशन न्यायालय को भारतीय दण्ड संहिता की परिधि में आने वाले मामलों की सुनवाई की अधिकारिता तो होती ही है, परन्तु इसी धारा के खण्ड (ख) के अन्तर्गत ऐसे मामलों का विचारण भी हो सकता है, जो किसी अन्य विधि के अधीन विनिर्दिष्ट हैं। मानवाधिकार संबंधी मामले भी इसी खण्ड के अन्तर्गत आते हैं। मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम की धारा- 30 में मानवाधिकार मामलों के विचारण के लिए सेशन न्यायालय को अधिकार प्रदान किये गये हैं, इसलिए सेशन न्यायालय द्वारा ऐसे मामलों का विचारण किया जा सकता है।

13.7.1 विशेष लोक अभियोजन

मानवाधिकार न्यायालयों में राज्य की ओर से मामलों की पैरवी करने के लिए मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम की धारा- 31 में विशेष लोक अभियोजनों को नियुक्त करने के विषय में प्रावधान है। जिसके अन्तर्गत राज्य सरकार अधिसूचना जारी करके प्रत्येक मानवाधिकार न्यायालय के लिए किसी को लोक अभियोजन के रुप में विनिर्दिष्ट

कर सकती है, अथवा किसी को विशेष लोक अभियोजन के रुप में नियुक्त कर सकती है। इस लोक अभियोजन अथवा विशेष लोक अभियोजन के लिए ऐसे अधिवक्ता पात्र होंगे, जिन्हें कम से कम सात वर्षों के वकालत का अनुभव रहा हो। लोक अभियोजन को नियुक्त करने के संबंध में प्रावधान दण्ड प्रक्रिया संहिता-1973 की धारा 24 में किया गया है। इसकी उप-धारा (7) में लोक अभियोजन के लिए न्यूनतम सात वर्षों का अधिवक्ता के रुप में अनुभव का होना निर्धारित किया गया है।

अभ्यास प्रश्न-

1. 'नागरिक स्वतंत्रता संघ' की स्थापना कब हुई?

2. किस भारतीय राजनीतिक दल द्वारा 'राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग' के गठन की घोषणा अपने चुनावी घोषणा-पत्र में की गयी?

3. मानव अधिकार संबंधी विधेयक संसद में कब रखा गया?

4. 12 अक्टुबर 1993 को राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग का गठन किया गया। सत्य/असत्य

5. यह कथन किसका है कि "मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है, लेकिन सर्वत्र जंजीरों में जकड़ा हुआ है।"

6. फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति का नारा था "स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व।" सत्य/असत्य

7. मानव अधिकारों का बेहतर संरक्षण और संवंर्धन राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग का उद्देश्य है । सत्य/असत्य

8. उच्चतम न्यायालय का सेवानिवृत्त मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग का अध्यक्ष होता है। सत्य/असत्य

9. आयोग के अध्यक्ष का कार्यकाल 05 वर्ष तक या 65 वर्ष तक की आयु प्राप्त करने तक होता है। सत्य/असत्य

13.8 सारांश

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग एक स्वायत्त, निष्पक्ष एंव न्यायप्रिय संस्था है। बुनियादी प्रश्न यह है कि आयोग द्वारा दिये गये सुझावों और सिफारिशों पर भारत सरकार या कोई राज्य सरकार कितनी अमल करती है? दुनिया के प्रत्येक मानव अधिकार से संबंधित संस्था की अलग-अलग स्थिति है। भारत में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग एक विधि आधारित संस्था है।

13.9 शब्दावली

अन्वेशण- जाँच, संवर्धन- प्रोत्साहन, त्वरित- जल्दी या शीघ्र, समीचीन- उचित या ठीक होना

13.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1930 में, **2.** कांग्रेस, **3.** 19 मई 1992, **4.** सत्य, **5.** रूसो, **6.** सत्य, **7.** सत्य, **8.** सत्य, **9.** असत्य

13.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अरुण राय, भारत में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग- गठन, कार्य और भावी परिदृष्य।
2. भारत में मानव अधिकार आयोग की भूमिका, न्यायमूर्ति डॉ ए0 एस0 आनंद।
3. डा0 गुरुबक्श सिंह, मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम-1993,
4. डा0 बन्सीलाल बावेल, मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम-1993,
5. मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम-1993, संशोधित रुप में (राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग द्वारा प्रकाशित)

13.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी।
2. भारत में लोक प्रशासन- डॉ0 बी0एल0 फड़िया।

13.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के गठन की चर्चा कीजिए।
2. मानवाधिकार क्या हैं ? अपने शब्दों में विस्तार से बतलाईये।

इकाई- 14 राष्ट्रीय महिला आयोग

इकाई की संरचना

14.0 प्रस्तावना
14.1 उद्देश्य
14.2 राष्ट्रीय महिला आयोग
    14.2.1 आयोग के उद्देश्य
    14.2.2 आयोग का गठन
14.3 आयोग के कार्य एवं शक्तियाँ
14.4 आयोग से संबंधित विभाग
    14.4.1 शिकायत विभाग
    14.4.2 विधि विभाग
    14.4.3 अनुसंधान विभाग
    14.4.4 निगरानी विभाग
    14.4.5 जन-सम्पर्क, पुस्तकालय और प्रशासन विभाग
14.5 आयोग का अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में प्रतिनिधित्व
14.6 संविधान और संविधान प्रदत विधियों में महिला अधिकार
14.7 सारांश
14.8 शब्दावली
14.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
14.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
14.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
14.12 निबंधात्मक प्रश्न

14.0 प्रस्तावना

महिलाऐं किसी भी समाज का एक अटूट अंग हैं। किसी भी तरह के कार्यों के सम्पादन में महिलाओं की भूमिका की अनदेखी करके उस कार्य के पूर्ण होने की कल्पना नहीं की जा सकती। महिलाओं की शक्ति और उनके ज्ञान, समाज और राष्ट्र निमार्ण में उनकी भागीदारी को स्वीकार करने के उपरान्त भी आज महिलाऐं अपनी सुरक्षा और सम्मान के लिए संर्घष कर रही है। प्रत्येक सभ्य समाज का यह दायित्व है कि महिलाओं की सुरक्षा और सम्मान को सुनिश्चित करें। मानव ने अपने विकास क्रम में समाज में महिलाओं की भूमिका में अनेक बदलाव किये और करता आया। पुरूष प्रधान समाज हर मोड़ पर उसके लिए एक नई चुनौती खड़ा करता गया। किन्तु राजनीतिक सोच और इच्छा शक्ति ने महिलाओं की सुरक्षा और सम्मान के लिए अनेक नियम-कानूनों का निर्माण किया, परन्तु स्थिति में कोई संतोषजनक सुधार नहीं हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी अनेक प्रयास किये गये। विश्व के देश ने भी अपने संविधानों में महिलाओं की सुरक्षा, सम्मान और बराबरी का स्थान दिलाने के लिए प्रावधान किये हैं। इसी कड़ी में भारत में राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन महिलाओं के अधिकारों के संरक्षण तथा सुरक्षा के लिए वर्ष 1992 में एक शीर्ष संवैधानिक निकाय के रूप में किया गया। भारतीय संसद द्वारा 1990 में पारित अधिनियम के तहत, जनवरी 1992 में, एक संवैधानिक निकाय के रूप में 'राष्ट्रीय महिला आयोग' का गठन किया गया।

राष्ट्रीय महिला आयोग एक ऐसी इकाई है, जो शिकायत या स्वतः संज्ञान के आधार पर महिलाओं के संवैधानिक हितों और उनके लिए कानूनी सुरक्षा उपायों को लागू कराती है।

14.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राष्ट्रीय महिला आयोग के उद्देश्य और गठन के विषय में जान पायेंगे।
- आयोग की कार्य एवं शक्तियों से अवगत हो पायेंगे।
- आयोग से संबंधित विभागों के विषय में अवगत हो पायेंगे।
- संविधान द्वारा प्रदत महिला अधिकारों के संबंध में जान पायेंगे।

14.2 राष्ट्रीय महिला आयोग

आयोग की स्थापना जनवरी 1992 में राष्ट्रीय महिला आयोग अधिनियम 1990 संख्या 20 के तहत एक संवैधानिक निकाय के रूप में की गई। राष्ट्रीय महिला आयोग के अन्तर्गत राज्य महिला आयोग भी स्थापित किए गए हैं, जो अब अधिकांश राज्यों में काम कर रहे हैं।

14.2.1 आयोग के उद्देश्य

महिलाओं के लिए संवैधानिक तथा कानूनी उपायों का पुनरीक्षण करने, उपचार के रूप में विधायी उपायों की संस्तुति करने, शिकायतों के निवारण को सुविधाजनक बनाने तथा महिलाओं को प्रभावित करने वाले सभी नीतिगत मामलों में सरकार को सलाह देना, आयोग के मुख्य उद्देश्य हैं।

14.2.2 आयोग का गठन

केन्द्र सरकार एक निकाय का गठन करेगी जो राष्ट्रीय महिला आयोग के नाम से जाना जायेगा, जो इस अधिनियम के अधीन दी गयी शक्तियों का प्रयोग करेगी और दिये गये कार्यों का सम्पादन करेगी। आयोग निम्नलिखित व्यक्तियों द्वारा गठित होगा-

1. केन्द्र सरकार द्वारा नाम निर्दिष्ट एक अध्यक्ष, जो महिलाओं के प्रति समर्पित हो।
2. योग्य और निष्ठावान व्यक्तियों में से केन्द्र सरकार द्वारा नामनिर्दिष्ट पांच सदस्य जो विधि अथवा विधापन, व्यवसाय संघ, उद्योग अथवा संस्था जो नियोजन में महिलाओं की वृद्धि हेतु समर्पित हों के प्रबन्धन, महिलाओं के स्वैच्छिक संगठनों (महिला कार्यकर्ताओं को शामिल करते हुए) के प्रशासन, आर्थिक विकास, शिक्षा तथा सामाजिक कल्याण के क्षेत्र में अनुभव रखते हो।
3. परन्तु उपर्युक्त में से कम से कम एक-एक सदस्य, क्रमश: अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति में से होगा।
4. केन्द्र सरकार द्वारा नाम निर्दिष्ट एक सदस्य सचिव, जो प्रबन्ध, सामाजिक आन्दोलन के संगठनात्मक क्षेत्र का विशेषज्ञ हो अथवा एक अधिकारी हो, जो संघ की सिविल सेवा अथवा अखिल भारतीय सेवा का सदस्य हो अथवा संघ के अधीन सिविल पद को समुचित अनुभव के साथ धारण करता हो।

14.2.3 आयोग के कार्य एवं शक्तियाँ

आयोग निम्नलिखित कार्यों में सभी को अथवा किसी को भी सम्पन्न कर सकेगा-

1. संविधान और अन्य विधियों के अधीन महिलाओं के लिए रक्षोपायों से सम्बन्धित सभी मामलों का अन्वेषण और परीक्षण करना।
2. केन्द्र सरकार को उन रक्षोपायों के क्रियान्वयन के बारे में वार्षिक रूप से और ऐसे अन्य समय पर जब आयोग उचित समझे, रिपोर्ट प्रस्तुत करना।
3. ऐसी रिपोर्टों में संघ अथवा किसी राज्य द्वारा महिलाओं की दशा सुधारने के लिए उन रक्षापायों को प्रभावी क्रियान्वयन हेतु सुझाव देना।
4. संविधान और महिलाओं को प्रभावित करने वाली अन्य विधियों के वर्तमान उपबन्धों का समय-समय पर पुनरीक्षण और उसमें ऐसे संशोधनों के लिए सुझाव देना जिसमें ऐसे विधानों के लोप, अपर्याप्तता अथवा दोषों को दूर करने के लिए उपचारात्मक विधान के बारे में सुझाव हो।
5. संविधान अथवा महिलाओं से सम्बन्धित किसी अन्य विधियों के उपबन्धों के उल्लघंन के मामलों को समुचित प्राधिकारियों के समक्ष प्रस्तुत करना।
6. परिवादों को देखना और निम्नलिखित मामलों के सम्बन्ध में स्वप्रेरणा से ध्यान देना तथा ऐसे मामलों से उत्पन्न विवादों को समुचित प्राधिकारियों के समक्ष उठाना।
7. महिलाओं को संरक्षण प्रदान करने और समानता एवं विकास के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए निर्मित विधियों का लागू न किया जाना, महिलाओं की कठिनाईयों को दूर करने और कल्याण को सुनिश्चित करने एवं अनुतोष(संतुष्टि) प्रदान करने के सम्बन्ध में लिए गये नीतिगत निर्णयों, दिशा-निर्देशों अथवा अनुदेशों का अनुपालन।
8. महिलाओं के विरूद्ध विभेद और अत्याचार से उत्पन्न विशेष समस्याओं अथवा परिस्थितियों के बारे में विशेष अध्ययन अथवा अन्वेषण करना तथा कारणों की पहचान करना जिससे उनके निवारण हेतु उपाय सुझाया जा सके।
9. शैक्षिक और विकास परक शोध करना जिससे कि सभी क्षेत्रों में महिलाओं के सम्यक(समान) प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित करने हेतु उपाय सुझाया जा सके और उनके विकास में अवरोध पैदा करने के लिए उत्तरदायी तत्वों यथा- निवास और मूलभूत सुविधाओं का आभाव, कठोर श्रम और व्यावसायिक स्वास्थ्य दशाओं को कम करने के लिए एवं उनकी उत्पादकता में वृद्धि करने हेतु सेवाओं एवं तकनीकी की अपर्याप्तता, की पहचान करना।
10. महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक विकास हेतु योजनाओं में सहभागिता तथा सुझाव।
11. केन्द्र और किसी राज्य के अधीन महिलाओं के विकास की प्रगति का मूल्यांकन करना।
12. जेल, रिमाण्ड, गृह, महिला संस्थान अथवा अभिरक्षा के अन्य स्थान, जहाँ महिलाओं को कैदियों के रूप में अथवा अन्य रूप में रखा जाता है, का निरीक्षण करना और यदि आवश्यक हो तो संतोषजनक कार्यवाही हेतु सम्बन्धित प्राधिकारियों के समक्ष आवेदन करना।
13. महिलाओं के विस्तृत समुदाय को प्रभावित करने वाले विवादों को निर्दिष्ट(उल्लेखित) करने वाले मामलों के लिए धन उपलब्ध कराना।
14. महिलाओं से सम्बन्धित किसी मामले तथा विशेष रूप से उन कठिनाईयों के बारे में जिनमें महिलायें कार्य करती हैं, पर सरकार को सामाजिक रिपोर्ट देना।

14.3 आयोग से संबंधित विभाग

समस्याओं के निवारण और महिलाओं के संवैधानिक रक्षा उपायों के प्रभावी क्रियान्वयन के लिए आयोग सरकार को सिफारिश करने, महिलाओं को प्रभावित करने वाले कानूनों के पूर्व प्रावधानों की समीक्षा कर, कमियों और त्रुटियों को दूर करने के लिए सरकार को सिफारिश करने, शिकायतों की जाँच के अलावा स्वप्रेरणा से भी महिला अधिकार वंचन पर ध्यान दे। कानूनी सुरक्षा के उपायों का उल्लंघन करने संबंधी मामलों को संबंधित अधिकारियों के समक्ष उठाने, महिलाओं के सामाजिक आर्थिक विकास की योजना प्रक्रिया में भाग लेने और प्रगति का मूल्यांकन करने जैसे महत्वपूर्ण कार्य आयोग के जिस्मे हैं। इसके अलावा महिला सुधार-गृहों, कारागारों तथा अन्य स्थानों जहाँ स्त्रियों को बंदी रूप में रखा जाता है, का निरीक्षण करना तथा उनके पुनर्वास के उपायों की सिफारिश करना भी महिला आयोग का एक प्रमुख कार्य है। आयोग अपने कार्यों का सम्पादन निम्न विभागों के माध्यम से करता है-

14.3.1 शिकायत विभाग

शिकायत विभाग आयोग के सबसे महत्त्वपूर्ण विभागों में से एक है, जिसके माध्यम से देश की महिलाएँ आयोग से जुड़ी हुई हैं। राष्ट्रीय महिला आयोग अधिनियम की धारा 10 के अन्तर्गत यह विभाग विभिन्न प्रकार की लिखित और मौखिक शिकायतों पर कार्यवाही करता है। शिकायतों को दूर करने के लिए विभाग पारिवारिक विवादों को दोनों पक्षों के बीच सलाह व समझौते द्वारा सुलझाने, यौन उत्पीड़न मामलों में सम्बन्धित संगठनों व संस्थानों को शीघ्र कार्यवाही के लिए प्रेरित करने, उन्हें आगाह करने तथा उनके निकारण पर निगरानी रखने आदि उपायों द्वारा निबटाया जाता हैं। गंभीर मामलों में आयोग स्वयं अपनी जाँच समिति गठित करता है, जो स्वयं घटना स्थल पर जाती है। कुछ मामलों में यह जाँच दल स्वप्रेरणा से भी काम करता है और उचित कार्यवाही के लिए संबंधित अधिकारियों से संपर्क करता है। इसके अतिरिक्त महिलाओं के प्रति बढ़ते अपराधों में कमी लाने के लिए मौजुद सरकारी तौर-तरीकों की कमियों को समझकर समय-समय पर सुधारात्मक उपाय सुझाने के लिए शिकायतों का विश्लेषण किया जाता है। शिकायतों का पुलिस, न्यायपालिका अभियोजकों, वकीलों, वैज्ञानिकों व अन्य प्रशासनिक कार्यकर्ताओं के लिए अध्ययनों के रूप में भी प्रयोग किया जाता है। इन कार्यों में राज्य महिला आयोगों, गैर-सरकारी संगठनों और विशेषज्ञों की भागीदारी भी सुनिश्चित की जाती है।

14.3.2 विधि विभाग

महिलाओं को प्रभावित करने वाले विभिन्न कानूनों और नीतियों की समीक्षा करने संबंधी आयोग का प्रमुख कार्य विधि विभाग में निष्पादित होता है। सभी न्यायिक मामलों, कानूनी संशोधनों, नए विधेयकों की सिफारिशों, पारिवारिक महिला लोक अदालतों, सशक्तीकरण कार्यक्रमों, कार्यशालाओं और सेमिनारों का आयोजन भी करता है, जिसमें विशेषज्ञों का सहयोग लिया जाता है। विधि विभाग हिरासत में रह रही महिलाओं और मानसिक चिकित्सालयों में रहने वाली महिलाओं की स्थितियों का अध्ययन कर सरकारों को उचित सलाह देता है।

14.3.3 अनुसंधान विभाग

अनुसंधान विभाग का कार्य देश में महिलाओं के सामाजिक-आर्थिक मामलों का अध्ययन करना, लिंग-भेद से उत्पन्न विशेष स्थितियों व समस्याओं का विश्लेषण कर तदानुसार जाँच का प्रस्ताव करना, महिलाओं संबंधी विकास कार्यों की प्रगति का मूल्यांकन करना तथा सभी क्षेत्रों में महिलाओं के प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित कराना, इस विभाग का कार्य है। साथ ही राज्य महिला आयोगों व सरकारों के सहयोग से सेमिनार व कार्यशालाएँ

आयोजित कर, उपचारात्मक सुझाव प्रस्तुत करना आदि कार्य भी यह विभाग करता है। इसके लिए आयोग ने दो विशेषज्ञ समितियाँ गठित की हैं , पहला- कानूनी विशेषज्ञों की समिति और दुसरा- महिला सशक्तीकरण समिति।

14.3.4 निगरानी विभाग

आयोग द्वारा की गई प्रत्येक जाँच की सिफारिशों पर, की जाने वाली कार्यवाही पर निगरानी रखना, इस विभाग का विशेष काम है।

14.3.5 जन-संपर्क, पुस्तकालय व प्रकाशन विभाग

आयोग का जन-सम्पर्क विभाग, पुस्तकालय व प्रकाशन विभाग भी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहा हैं। जन-संपर्क विभाग सूचनाओं के आदान-प्रदान के साथ ही विभिन्न संगठनों, सरकारी विभागों व राज्य महिला आयोगों के कार्यों में तालमेल बैठाकर, नेटवर्किंग का काम भी करता है, जिसके लिए राज्य के दौरे भी आयोजित किए जाते हैं। प्रकाशन विभाग द्वारा विभिन्न रिपोर्टों और जरूरी सूचनाओं वाली पुस्तकों का प्रकाशन किया जाता है। रिपोर्टों से अध्येता और अनुसंधानकर्ता लाभ उठाते हैं, तो छोटी-छोटी सूचनाप्रद पुस्तिकाएँ आम महिलाओं के लिए, मामलों से संबंधित जरूरी जानकारियाँ जुटाने में सहायक सिद्ध होती हैं।

इस प्रकार, महिला आयोग के सारे क्रियाकलाप आज की भारतीय नारी को जागरूक, स्वस्थ, शिक्षित, आत्मनिर्भर तथा सांस्कृतिक रूप से भी सशक्त बनाने के लिए संकल्पित हैं। विशेष रूप से इस दिशा में स्त्री घर में व घर के बाहर सुरक्षित हो, उसे एक नागरिक के सभी अधिकार सहज प्राप्त हों और वह जीवन के सभी क्षेत्रों में अपना योगदान देने में सक्षम हो।

14.4 आयोग का अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में प्रतिनिधित्व

संयुक्त राष्ट्र संघ की 'महिला अधिकार आयोग' के परिषद में राष्ट्रीय महिला आयोग की सदस्याऐं हैं और उनकी स्थिति सलाहकार के रूप में है। विश्व के सभी प्रमुख महिला-मंडलों से भी परिषद संपर्कित है। भारत में होने वाले परिषद के सभी वार्षिक सम्मेलनों में विभिन्न देशों की प्रतिनिधि भाग लेती है। विश्व में होने वाली महिला कॉनफ्रेंसों, महिला संगठनों के महत्त्वपूर्ण अधिवेशनों तथा संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा आयोजित विशेष मीटिंगों, गोष्ठियों व सेमिनारों में परिषद, भारतीय महिलाओं का प्रतिनिधित्व करती है।

14.5 संविधान और संविधान प्रदत्त विधियों में महिला अधिकार

"सभ्य समाज की कसी भी परिकल्पना में मानवीय गरिमा, सामाजिक न्याय एवं समता के आदर्श पंथिक आस्थाओं, परम्पराजन्य विश्वासों तथा अहमवादी उद्-घोषों से निश्चय ही वरीय(Preferable) है। महिला अधिकारों का प्रश्न उक्त आदर्शों का पारदर्शी मापदण्ड है।" भारत का संविधान न केवल महिलाओं को समानता का मूल अधिकार प्रदान करता है वरन् उनके लिए सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक और राजनीतिक क्षेत्रों में अलाभकारी स्थितियों को उन्मूलन करने का उपाय करने के लिए राज्यों को निर्देशित भी करता है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में "सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा, राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता।" आदि मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता व्यक्त की गई है।

प्रस्तावना की सबसे महत्वपूर्ण बात देश के समस्त नागरिकों के लिए न्याय एवं समानता सुनिश्चित किए जाने का आश्वासन है, क्योंकि एक सच्चे लोकतंत्र के लिए समानता ही नहीं वरन् न्याय की सुनिश्चिता भी आवश्यक है। इसी को ध्यान में रखते हुए न केवल धर्म, लिंग, जाति इत्यादि के आधार पर राज्य द्वारा भेदभाव का निषेध करते

हुए प्रतिष्ठा और अवसर की समता का उपबन्ध किया गया, बल्कि इसके साथ-साथ पिछड़ों और कमजोर वर्ग के लोगों का उत्थान करने के लिए विशेष प्रावधान करने का उपबन्ध भी किया गया। सामाजिक न्याय में- धन और अवसर, नस्ल, धर्म, लिंग, जाति या अन्य किसी भी असमानता सहित सभी प्रकार की असमानताओं का उन्मूलन अपेक्षित है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए कार्य की मानवीय स्थितियों, मातृत्व सुविधा, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्वतंत्रता, श्रम एवं उद्योगों में बालश्रम का निवारण, निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा, पिछड़ी जातियों का शैक्षिक और आर्थिक उत्थान, बन्धुआ मजदूरी पर प्रतिबन्ध सहित सामाजिक न्याय से सम्बन्धित कल्याणकारी कार्यक्रमों को प्रवृत्त करने का निर्देश संविधान में अन्तर्निहित है। आर्थिक न्याय के विचार में समान कार्य के लिए समान वेतन का भाव निहित है। राजनीतिक न्याय से भेदभाव रहित राजनीतिक कार्यक्षेत्र अभिप्रेत है। वयस्क मताधिकार, साम्प्रदायिक आरक्षण के उन्मूलन और नस्ल, जाति, लिंग, निवास, जन्म स्थान, धर्म के भेदभाव के बिना राज्यों के अधीन नियोजन प्राप्त करने के अधिकार को अंगीकार कर इसे संविधान में सुनिश्चित किया गया है। ज्ञातव्य है कि स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व भी कतिपय विधान महिलाओं की प्रस्थिति के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण थे, यथा- बंगाल सती अधिनियम,1829; हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम,1959 (1859 का 15); भारतीय दण्ड संहिता, 1860 (1860 का 45); धर्म परिवर्तित विवाह समापन अधिनियम,1869; तलाक अधिनियम,1869; विवाहित महिला का सम्पत्ति अधिनियम,1874; मुख्तारनामा का अधिकार अधिनियम, 1882; नागरिक प्रक्रिया संहिता, 1908; कानूनी वकालत संशोधन अधिनियम,1923; भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925; बाल विवाह प्रतिबन्ध अधिनियम, 1929; बोम्बे हिन्दू द्वि-विवाह अपराध निवारण अधिनियम,1946। प्रस्तावना के साथ-साथ संविधान के भाग तीन, जो मूल अधिकारों से सम्बन्धित है, के अनुच्छेद 14, 15, 16 और राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्तों में भी महिलाओं को विशेष स्थिति प्रदान की गई है।

अभ्यास प्रश्न-

1. राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन किस वर्ष किया गया?
2. क्या राष्ट्रीय महिला आयोग एक संवैधानिक निकाय है?
3. महिलाओं को कानूनी और संवैधानिक संरक्षण देना क्या राष्ट्रीय महिला आयोग का उद्देश्य है?
4. राष्ट्रीय महिला आयोग के अन्तर्गत विधि विभाग कार्य करता है?
5. राष्ट्रीय महिला आयोग अपनी वार्षिक रिपोर्ट के माध्यम से अपने कार्यों की जानकारी देता है। सत्य/असत्य

14.6 सारांश

राष्ट्रीय महिला आयोग एक वैधानिक निकाय है। जम्मू-काश्मीर राज्य को छोड़कर यह आयोग सम्पूर्ण भारत में कार्य करता है। महिला आयोग का उद्देश्य महिलाओं के संरक्षण के लिए वैधानिक तथा कानूनी उपाय करने, महिला शिकायतों के समाधान को सुलभ बनाने, तथा महिलाओं को प्रभावित करने वाले नीतिगत मामलों पर सरकार को सलाह देना है। आयोग आपने कार्यों को विभिन्न विभागों के माध्यम से करता है।

14.7 शब्दावली

संवैधानिक निकाय- संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त संस्था, अपर्याप्तता- पर्याप्त न होना, स्वैच्छिक संगठन- स्वयं से कार्य करने वाला संगठन(समूह), अन्वेशण- जाँच, अनुसंधान- खोज या शोध, वरीय- अधिमान्य, पंथिक आस्थाऐं- धार्मिक मान्यताऐं

14.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1992 में, **2.** हाँ, **3.** हाँ, **4.** हाँ, **5.** सत्य

14.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारत और मानवाधिकार- सम्पादक, एस. गोपालन।
2. महिला और मानवाधिकार , रमा मिश्रा और एम0 के0 मिश्रा , 2012, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।

14.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारत और मानवाधिकार- सम्पादक, एस0 गोपालन।
2. महिला और मानवाधिकार , रमा मिश्रा और एम0के0 मिश्रा , 2012 , अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।

14.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रीय महिला आयोग के उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए इसके कार्यों की व्याख्या कीजिए।
2. राष्ट्रीय महिला आयोग से संबंधित विभागों की विस्तार से चर्चा कीजिए।

ईकाई- 15 राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग और राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग

ईकाई की संरचना

15.0 प्रस्तावना
15.1 उद्देश्य
15.2 राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग
- 15.2.1 आयोग का गठन
- 15.2.2 आयोग के कार्य एवं दायित्व
- 15.2.3 आयोग के परामर्शी अधिकार
- 15.2.4 विशिष्ट शिकायतों की जाँच एवं पद्धति
- 15.2.5 दीवानी अदालत के रुप में भूमिका
- 15.2.6 आयोग के प्रतिवेदन एवं रिपोर्ट

15.3 राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग
- 15.3.1 आयोग का गठन
- 15.3.2 आयोग के कार्य एवं दायित्व
- 15.3.3 आयोग के कानून तथा विधान
- 15.3.4 विशिष्ट शिकायतों की जाँच एवं पद्धति
- 15.3.5 दीवानी अदालत के रुप में भूमिका
- 15.3.6 आयोग के परामर्शी अधिकार
- 15.3.7 आयोग के प्रतिवेदन एवं रिपोर्ट

15.4 सारांश
15.5 शब्दावली
15.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
15.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
15.8 सहायक उपयोगी/पाठ्य सामग्री
15.9 निबन्धात्मक प्रश्न

15.0 प्रस्तावना

भारतीय संविधान के भाग- 16 'कुछ वर्गों के संबंध में विशेष उपबन्ध' के अन्तर्गत (अनुच्छेद 338 तथा 341 व 342 में) अनसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक उत्थान के लिए खास प्रावधान किये गये हैं। अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए संविधान में दिए गये सुरक्षणों की व्यवस्था करने तथा अन्य विभिन्न प्रकार के सुरक्षात्मक कानूनों के कार्यान्वयन के लिए संविधान में अनुच्छेद- 338 के अन्तर्गत एक विशेष आयोग व अधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी है। संविधान में उल्लिखित इस अधिकारी को 'अनुसूचित जाति एवं जनजाति आयुक्त' के नाम से सम्बोधित किया गया है। इसे अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों से सम्बन्धित कानूनों एवं सुरक्षात्मक उपायों का अन्वेषण करने तथा इसके कार्यान्वयन आदि से सम्बन्धित प्रतिवेदन राष्ट्रपति के सम्मुख प्रस्तुत करने का कार्य सौंपा गया। इसके साथ ही आयुक्त को

सौपें गये सभी कार्यों को भलीभांति सम्पन्न करने हेतु देश के भिन्न-भिन्न भागों में आयुक्त के 17 क्षेत्रीय कार्यालयों की भी व्यवस्था की गयी।

किन्तु, अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों से सम्बन्धित संवैधानिक, सुरक्षात्मक उपायों एवं अन्य प्रावधानों के कार्यान्वयन एवं उचित देख-रेख करने में यह पूरी तरह सक्षम नहीं सिद्ध हो रहा था। अतः इस एक सदस्यीय व्यवस्था को सर्वप्रथम बहु-सदस्यीय करने की मांग की गयी। आम लोगों, जनप्रतिनिधियों एवं सामाजिक संगठनों की तेजी से बढ़ती हुई मांग को देखते हुए सरकार(गृह मंत्रालय) ने 1978 में पारित एक संकल्प द्वारा एक प्रशासनिक निर्णय लेते हुए एक बहुसदस्यीय आयोग के गठन का निर्णय लिया। फलतः अगस्त, 1978 में श्री भोला पासवान शास्त्री की अध्यक्षता में चार सदस्यों सहित, अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए एक बहुसदस्यीय आयोग का गठन किया गया। पूर्व में गठित आयुक्त के क्षेत्रीय कार्यालयों को इसके नियन्त्रण में लाया गया। यद्यपि इस आयोग के कार्य भी पूर्व में, नियुक्त किये गये आयुक्त के समान ही थे। हालांकि बाद में 1987 में कल्याण मन्त्रालय के द्वारा पारित एक संकल्प द्वारा आयोग के कार्यों में संशोधन किया गया और इसे राष्ट्रीय अनुसूचित जाति तथा राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग के रुप में पुनर्नामित किया गया। इस आयोग का गठन मूलतः एक सलाहकारी निकाय के रुप में किया गया, जिसका कार्य सरकार को नीतिगत मुद्दों एवं अन्य विकास से सम्बन्धित उपायों आदि पर सलाह देना था। बाद में इसे एक आयोग के रुप में संविधान (65वां संशोधन) विधेयक,1990 पारित होने के फलस्वरुप स्थापित किया गया। इस प्रकार कल्याण मन्त्रालय के संकल्प द्वारा 1987 में गठित आयोग के स्थान पर संविधान के अनुच्छेद- 338 के अनुरूप पहले आयोग का गठन मार्च, 1992 को किया गया।

संविधान में किये गये 89वें संशोधन अधिनियम, 2003 के द्वारा राष्ट्रीय अनुसूचित जाति तथा जनजाति आयोग को पृथक-पृथक क्रमशः पहला, राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग, दूसरा राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग के रुप में प्रतिस्थापित किया गया। इस पृथक राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग के नियम सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मन्त्रालय द्वारा दिनांक 20 फरवरी, 2004 की पूर्णतया अधिसूचित किया गया। इस प्रकार 2004 से अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए अलग-अलग आयोग अस्तित्व में आया।

15.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और जनजाति आयोग की आवश्यकता एवं महत्ता को समझ सकेंगे।
- राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और जनजाति आयोग के कार्य एवं दायित्वों से भलीभांति अवगत हो सकेंगे।
- राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और जनजाति आयोग द्वारा विशिष्ट शिकायतों की जाँच तथा अपनायी गयी पद्धति को समझ सकेंगे।

15.2 राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग

राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग एक ऐसा संवैधानिक निकाय है, जिसके माध्यम से देश में अनुसूचित जाति समाज के विकास और उन्हें समाज में सम्मान-पूर्वक स्थान दिलाने के लिए महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। आईये विस्तार से इसका अध्ययन करते हैं।

15.2.1 आयोग का गठन

राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग का गठन संविधान के अनुच्छेद- 338 के अधीन पृथक रुप से (89वें संविधान संशोधन) अधिनियम-2003 के द्वारा किया गया। इस आयोग को बकायदा 20 फरवरी, 2004 को अधिसूचित किया गया। इस प्रथम आयोग का गठन करते हुए इसका अध्यक्ष श्री सूरज भान, उपाध्यक्ष श्री फकीर भाई बघेला को तथा श्री फूलचन्द वर्मा, श्री देवेन्द्र जी और श्रीमती सुरेखा लाम्बुतरे को सदस्य नामित किया गया। इसके पश्चात मई, 2007 को दूसरे अनुसूचित जाति आयोग का गठन किया गया। इसका अध्यक्ष डॉ0 बूटा सिंह, उपाध्यक्ष प्रो0 नरेन्द्र एम0 काम्बले तथा श्रीमती सत्याबहन, श्री महेन्द्र बौद्ध को सदस्यों के रुप में नामित किया गया। राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा आयोग के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष एवं सदस्यों को नियुक्त करता है। इनकी सेवा की शर्ते एवं पदावधि भी राष्ट्रपति द्वारा अवधारित की जाती है। किन्तु आयोग के पास अनुसूचित जाति से सम्बन्धित प्रक्रिया स्वयं विनियमित करने की शक्ति होती है।

15.2.2 आयोग के कार्य एवं दायित्व

संविधान में अनुसूचित जाति आयोग के कार्यो एवं दायित्वों का स्पष्ट रुप से निर्धारण किया गया है, जिसे निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत भलीभांति समझा जा सकता है-

1. अनुसूचित जातियों के लिए इस संविधान या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि या सरकार के किसी आदेश के अधीन उपबंधित रक्षोपायों से सम्बन्धित विषयों का अन्वेषण करना और उन पर निगरानी रखना तथा ऐसे रक्षोपायों के कार्यकरण का मूलयांकन का कार्य करना।
2. अनुसूचित जातियों को उनके अधिकारों और सुरक्षणों(संरक्षण) से वंचित करने की बावत निर्दिष्ट शिकायतों की जाँच का कार्य करना।
3. अनुसूचित जातियों के सामाजिक-आर्थिक विकास की योजना प्रक्रिया विषय में भाग लेना और सलाह देना तथा संघ और किसी राज्य के अधीन उनके विकास में प्रगति का मूल्यांकन करना।
4. उन रक्षोपायों के बारे में प्रतिवर्ष और ऐसे अन्य समयों पर जो आयोग ठीक समझे, राष्ट्रपति को प्रतिवेदन प्रस्तुत करने का कार्य करना।
5. ऐसे प्रतिवेदनों में उन रक्षापायों के बारे में जो उन रक्षापायों के प्रभावपूर्ण कार्यान्वयन के लिए संघ या किसी राज्य द्वारा किये जाने चाहिए तथा अनुसूचित जातियों के संरक्षण, कल्याण और सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए अन्य उपायों के बारे में सिफारिश का कार्य करना।
6. अनुसूचित जातियों के संरक्षण, कल्याण, विकास तथा उन्नयन के सम्बन्ध में ऐसे अन्य कृत्यों का निर्वहन करे, जो राष्ट्रपति संसद द्वारा बनायी गई किसी विधि के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, नियम द्वारा विनिर्दिष्ट हो।

आयोग संविधान द्वारा निर्धारित उपर्युक्त महत्वपूर्ण कार्यों के सन्दर्भ में ही दायित्वों का विभाजन एवं कार्यों का आबंटन करता है, जिसमें अध्यक्ष आयोग का प्रधान होता है और आयोग में उत्पन्न सभी विषयों पर निर्णय लेने की अवशिष्ट शक्ति उसी में निहित होती है। अध्यक्ष ही अन्य सदस्यों को कार्यों का आबंटन करता है। कार्यों के आबंटन से सम्बन्धित आदेश को आयोग के सचिवालय द्वारा सम्बन्धित व्यक्तियों तक पहुँचाया जाता है। आयोग के बैठकों की अध्यक्षता, अध्यक्ष करता है। इसके अनुमोदन के पश्चात ही कोई निर्णय लिया जाता है। अध्यक्ष किसी भी विषय पर जिसे वह आवश्यक समझता हो स्वंय ही निर्णय ले सकता है। उपाध्यक्ष उन सभी कार्यों को करता है जो अध्यक्ष द्वारा उसको सौंपा जाता है। इसी प्रकार आयोग के सदस्यों का सामूहिक दायित्व होता है। सदस्यों का सबसे महत्वपूर्ण कार्य अनुसूचित जातियों के कल्याण से सम्बन्धित योजनाओं आदि के सम्बन्ध में

सम्बन्धित राज्य सरकारों को परामर्श देना है। इसी प्रकार आयोग का सचिव जो आयोग का प्रशासनिक अध्यक्ष होता है वह अपने विभिन्न अधिकारियों की सहायता से आयोग के कार्यों के सुचारु संचालन में अध्यक्ष एवं सदस्यों को सहयोग प्रदान करता है। इस प्रकार से अनुसूचित जाति आयोग अपने कार्यों एवं दायित्वों का भलीभांति निर्वहन करता है।

15.2.3 आयोग के परामर्शी अधिकार

आयोग के परामर्शी अधिकार एवं भूमिका का अवलोकन हम मुख्यतः दो स्तरों पर कर सकते हैं- राज्य सरकारों के साथ और योजना आयोग के साथ।

आयोग, राज्य सरकारों के साथ अपनी परामर्शी भूमिका का निर्वहन अपने सदस्यों, सचिवालय एवं राज्य कार्यालयों के माध्यम से करता है। किसी राज्य या संघ-राज्य क्षेत्र का प्रभारी सदस्य बैठकों या व्यक्तिगत मुलाकातों, पत्रों आदि के द्वारा राज्य सरकार से पारस्परिक सम्बन्ध रखता है। इस सम्बन्ध में सूचना सम्बन्धित विभाग को पहले भेजी जानी चाहिए। राज्य कार्यालयों को भी सूचना भेजी जानी चाहिए। आयोग इसके लिए विस्तृत मार्गदर्शी सिद्धान्त बनाता है। इसमें आयोग का सचिवालय सम्बन्धित सदस्यों को सूचना आदि प्रदान कर सहयोग करता है। आयोग के सदस्य द्वारा निभायी जा रही इस परामर्शी भूमिका का ठीक तरह से निर्वहन करने हेतु सम्बन्धित राज्य सरकार द्वारा परिवहन, आवास एवं सुरक्षा आदि की सुविधाऐं उन्हें उपलब्ध करायी जाती हैं।

अनुसूचित जाति आयोग 'योजना आयोग' के साथ अपनी परामर्शी भूमिका का निर्वहन, उसके द्वारा गठित विभिन्न समितियों, कार्यकारी दलों में अपने प्रतिनिधित्व के माध्यम से करता है। समय-समय पर आयोग, योजना आयोग को इस प्रकार के कार्यदल बनाने का परामर्श भी देता रहता है। इसके साथ ही योजना आयोग द्वारा अनुसूचित जातियों से सम्बन्धित योजनाओं तथा विकास प्रक्रिया सम्बन्धी दस्तावेजों के मूल्यांकन सम्बन्धी कार्यवाही को आगे बढ़ाने का भी परामर्श देता है। आयोग, पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने हेतु भी योजना आयोग को विभिन्न प्रकार के परामर्श समय-समय पर उपलब्ध कराता रहता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्यों में स्थित अपने राज्य कार्यालयों के माध्यम से राज्य सरकारों से भी आयोग एक मजबूत कड़ी स्थापित करता है, जिससे अनुसूचित जातियों से सम्बन्धित विकास योजनाऐं उसके कुशल मार्गदर्शन में चलती रहती हैं।

15.2.4 विशिष्ट शिकायतों की जाँच एवं पद्धति

अनुसूचित जाति आयोग अपने अधिकार के अन्तर्गत आने वाले विषयों की जाँच करने के लिए अनेक विधियां अपनाता है। जैसे आयोग सीधे ही जाँच कर सकता है, या मुख्यालय में गठित जाँच दल द्वारा, या राज्य कार्यालयों के माध्यम से या फिर राज्य एजेंसियों के माध्यम से अथवा केन्द्रीय सरकार द्वारा वित्त या कोई अन्य संस्था और इसके विधिक निकाय द्वारा अपना जाँच कार्य सम्पन्न कराती है। आयोग अनुसूचित जातियों से सम्बन्धित विशिष्ट शिकायतों की जो उसके सुरक्षा, कल्याण और विकास से सम्बन्धित हैं, उसकी जाँच आयोग सीधे ही कर सकता है। इसके लिए कोई भी कार्यवाही शुरु करते समय सम्बन्धित पार्टियों एवं अनुसूचित जाति के सदस्यों को सूचना का प्रेषण सुनिश्चित किया जाता है। आयोग राज्य के सभी सचिवों, पुलिस महानिदेशकों की वर्ष में एक बार बैठक आयोजित कर अनुसूचित जाति के सुरक्षा सम्बन्धी मुद्दों पर विचार कर कार्यान्वयन की पहल करता है। आयोग के पास विशिष्ट शिकायतों की जाँच करते समय दीवानी अदालत की वे सभी शक्तियाँ होंगी, जो समाधान हेतु जरुरी हैं।

जाँच करते समय आयोग यदि किसी व्यक्ति की उपस्थिति आवश्यक समझता है तो वह अध्यक्ष के अनुमोदन से उसे 'समन' भेज सकता है। आयोग जाँच के अन्तर्गत किसी मामले में साक्ष्य होने के लिए संविधान के अनुच्छेद-

338 के खण्ड 8(ङ) के अन्तर्गत पत्र जारी कर सकता है और इस उद्देश्य के लिए लिखित आदेश द्वारा किसी व्यक्ति को नियुक्त कर सकता है। जाँच करने वाला सदस्य एक रिपोर्ट तैयार करेगा और वह रिपोर्ट नियम- 34 के अन्तर्गत नियुक्त जाँच अधिकारियों को भेजी जायेगी। अन्ततः यह रिपोर्ट तीन दिनों के भीतर अध्यक्ष के समक्ष प्रस्तुत की जायेगी। इसके पश्चात अध्यक्ष के अनुमोदन से ही उस पर कार्यवाही प्रारम्भ की जायेगी। अध्यक्ष यह भी निर्णय ले सकता है कि प्रस्तुत रिपोर्ट का अन्वेषण व जाँच आयोग के मुख्यालय में गठित एक अन्वेषण दल द्वारा किया गया। परन्तु यदि मामला गम्भीर और तुरन्त कार्यवाही का है तो उस पर तुरन्त निर्णय आयोग के अध्यक्ष द्वारा लिया जायेगा।

विशिष्ट शिकायतों की एक स्पष्ट एवं सुव्यवस्थित जाँच पद्धति होती है। अतः आयोग उसकी परिधि में ही अपनी कार्यवाही करता है, इसीलिए उन मामलों पर कोई कार्यवाही नहीं करता है जो न्यायाधीन हैं। उन मामलों को भी आयोग नये सिरे से नहीं उठाता है जो न्यायालय द्वारा अंतिम निर्णय की स्थिति प्राप्त कर चुके हैं। आयोग स्थानान्तरण, तैनाती, आरक्षण तथा विभिन्न आदेशों आदि से सम्बन्धित प्रकरण को तब तक जाँच हेतु स्वीकार नहीं करता है जब तक कि अनुसूचित जाति के किसी व्यक्ति के उत्पीड़न का आधार न हो। अनुसूचित जाति के किसी व्यक्ति के विरुद्ध किये गये अत्याचार के मामलों में आयोग तत्काल कार्यवाही करते हुए जिला प्रशासन द्वारा की गयी कार्यवाही का ब्योरा मांगता है तथा आरोपी के खिलाफ कार्यवाही ना होने की स्थिति में प्राथमिकी दर्ज करने की सिफारिश करता है। यह भी छानबीन करता है कि अत्याचार की सूचना प्राप्त होने पर जिले के कलेक्टर और पुलिस अधीक्षक द्वारा तुरन्त दौरा किया गया है या नहीं? आयोग स्वयं स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए घटना स्थल का दौरा भी करता है। इस प्रकार सक्रिय भूमिका का निर्वहन करते हुए आयोग पीड़ित को न्याय दिलाता है।

15.2.5 दीवानी अदालत के रुप में भूमिका

भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 338 क (5) के उपखण्ड (क) में निर्दिष्ट किसी विषय का अन्वेषण या उपखण्ड (ख) में निर्दिष्ट किसी शिकायत की जाँच करते समय आयोग को दीवानी अदालत की वे शक्तियाँ प्राप्त होंगी जो उसे किसी मुकदमें को चलाने के लिए प्राप्त होती है। आयोग की दीवानी अदालत के रुप में भूमिका का अवलोकन निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत कर सकते हैं-

1. भारत के किसी भी भाग से किसी व्यक्ति को 'समन' करना, आयोग के समक्ष उपस्थिति के लिए बाध्य करना, तथा शपथ पर उसका परीक्षण करना।
2. किसी दस्तावेज के प्रकटीकरण और प्रस्तुतीकरण के लिए आदेश देना।
3. शपथ-पत्र पर साक्ष्य ग्रहण करना।
4. किसी न्यायालय या कार्यालय से लोक अभिलेख या उसकी प्रति को मांगना।
5. गवाहों और दस्तावेजों के परीक्षण के लिए कमीशन जारी करना।
6. कोई अन्य विषय जिसे राष्ट्रपति नियम द्वारा विनिर्धारित(उल्लेखित) करे।

इस प्रकार अनुसूचित जाति आयोग उपर्युक्त आधारों पर कार्य करते हुए अनुसूचित जातियों को न्याय दिलाने हेतु एक दीवानी अदालत की भूमिका का निर्वहन करता है।

15.2.6 आयोग के प्रतिवेदन एवं रिपोर्ट

अनुसूचित जातियों के संरक्षण एवं उसके उपायों तथा अन्य विकासात्मक गतिविधियों के बारे में जैसा कि संविधान के अनुच्छेद- 338 के खण्ड 5(घ) में व्यवस्था है, कि अनुसूचित जाति आयोग प्रतिवर्ष और ऐसे अन्य

समयों पर जो आयोग ठीक समझे राष्ट्रपति को प्रतिवेदन एवं रिपोर्ट प्रस्तुत करें। आयोग अनुसूचित जातियों से सम्बन्धित उन संरक्षणात्मक उपायों के राज्यों द्वारा कार्यान्वयन से सम्बन्धित सिफारिश भी अपने रिपोर्ट में राष्ट्रपति से करे।

अनुसूचित जाति आयोग का यह कर्त्तव्य है कि वह संवैधानिक सुरक्षणों के कार्यकरण तथा अनुसूचित जातियों के संरक्षण और कल्याण के लिए संघ और राज्यों द्वारा किये गये उपायों पर प्रति वर्ष रिपोर्ट प्रस्तुत करे। इस श्रृखला में देखा जाय तो 1992 से 2004 तक ही अवधि में आयोग द्वारा सात वार्षिक रिपोर्ट तथा चार विशेष रिपोर्ट और अनेक सिफारिशें प्रस्तुत की गयी। ऐसी ही अपेक्षा आयोग से आगे भी की जा रही है। राष्ट्रपति संविधान के अनुच्छेद- 338 के खण्ड (6) के अनुसार सभी प्रतिवेदनों को तथा संघ से सम्बन्धित सिफारिशों पर की गयी या प्रस्तावित कार्यवाही को, संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवाता है।

इसी प्रकार संविधान के अनुच्छेद- 338 के खण्ड 7 में व्यवस्था है कि, जहाँ कोई प्रतिवेदन या उसका कोई भाग किसी ऐसे विषय से सम्बन्धित है जिसका किसी राज्य सरकार से सम्बन्ध है तो ऐसे प्रतिवेदन की एक प्रति उस राज्य के राज्यपाल को भेजी जायेगी जो उसे राज्य से सम्बन्धित सिफारिशों पर की गयी कार्यवाही या प्रस्तावित कार्यवाही को राज्य के विधान-मण्डल के समक्ष रखवायेगा।

अभ्यास प्रश्न-1

1. राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग का गठन किस संविधान संशोधन के तहत हुआ?
2. राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग का गठन भारतीय संविधान के अनुच्छेद-338 के तहत हुआ। सत्य/असत्य
3. राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग के पहले अध्यक्ष कौन थे?
4. राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग, योजना आयोग के साथ अपने परामर्शी अधिकार का प्रयोग करता है। सत्य/ असत्य
5. क्या राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग अपने विशिष्ट शिकायतों की जाँच न्यायालय द्वारा करवाता है? सत्य/ असत्य

15.3 राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग

भारत वर्ष में फैले लगभग 450 जनजातीय समूहों को भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 342 के तहत अनुसूचित जनजाति घोषित किया गया है। वर्तमान में अनुसूचित जनजातियों की संख्या लगभग 6 करोड़ 70 लाख है, जो भारत की पूरी आबादी का 8.08 प्रतिशत है। यानि प्रत्येक 100 भारतीय नागरिकों में से 08, जनजाति समूहों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अनुसूचित जनजातियॉ देश के विभिन्न भागों में वितरित हैं और इनकी प्रमुख विशेषता है इनकी विविधता। राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग पर विस्तार से अध्ययन करते हैं-

15.3.1 आयोग का गठन

राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग का गठन, संविधान के अनुच्छेद- 338 के अधीन संविधान तथा अन्य कानूनों के अधीन जनजाति को दिये गये सभी संरक्षणों की समीक्षा करने के उद्देश्य से किया गया। यद्यपि 1987 में पारित एक संकल्प द्वारा अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयोग का गठन एक साथ समन्वित रूप से किया गया, परन्तु जब सरकार इस वस्तुस्थिति से अवगत हुई कि भौगोलिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से अनुसूचित जनजातियां, अनुसूचित जातियों से भिन्न है और उसकी समस्याऐं भी भिन्न है, तब संविधान में किये गये (89वें संशोधन) अधिनियम 2003 द्वारा पृथक रूप में पहला अनुसूचित जनजाति आयोग गठित हुआ। अन्त: संविधान

में संशोधन करते हुए एक नया अनुच्छेद- 338 (क) जोड़ते हुए दिनांक 19 फरवरी, 2004 को एक नये आयोग की स्थापना की गयी। अनुसूचित जातियों के कल्याण और विकास को और तीव्र करने के लिए ऐसा अपरिहार्य हो गया। इससे अनुसूचित जनजातियों के सामाजिक, आर्थिक और चहुमुखी विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ।

संविधान के 89 संशोधन अधिनियम, 2003 के द्वारा पहला अनुसूचित जनजाति आयोग श्री कुवंर सिंह की अध्यक्षता में 20 फरवरी 2004 को गठित किया गया। इसके सदस्यों में श्री लामा लोबजंग, श्रीमती प्रेमाबाई मांडवी और बुदरु श्री निवासुलु थे। उपाध्यक्ष का पद श्री तापिर गाव को दिया गया था, जो बाद में उनके इस्तीफे कारण रिक्त हो गया।

15.3.2 आयोग के कार्य एवं दायित्व

संविधान में अनुसूचित जनजाति आयोग के कर्त्तव्य, कार्य तथा शक्तियाँ (89वें संशोधन) अधिनियम 2003 द्वारा यथा संशोधित संविधान के अनुच्छेद- 338 (क) के खण्ड (5), (8) तथा (9) में निर्धारित किए गए हैं। आयोग के इन कार्यों एवं दायित्वों का अवलोकन निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत भलीभांति किए जा सकते हैं-

1. अनुसूचित जनजातियों के लिए इस संविधान या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि या सरकार के किसी आदेश के अधीन उपबंधित रक्षोपायों से सम्बन्धित विषयों का अन्वेषण करना और उन पर निगरानी रखना तथा ऐसे रक्षोपायों(सुरक्षा) के कार्यकरण का मूल्यांकन का कार्य करना।
2. अनुसूचित जनजातियों को उनके अधिकारों और सुरक्षणों से वंचित करने की बावत निर्दिष्ट शिकायतों की जाँच का कार्य करना।
3. अनुसूचित जनजातियों के सामाजिक-आर्थिक विकास की योजना प्रक्रिया विषय में भाग लेना और सलाह देना तथा संघ और किसी राज्य के अधीन उनके विकास में प्रगति का मूल्यांकन करना।
4. उन रक्षोपायों के बारे में प्रतिवर्ष और ऐसे अन्य समयों पर जो आयोग ठीक समझे, राष्ट्रपति को प्रतिवेदन प्रस्तुत करने का कार्य करना।
5. ऐसे प्रतिवेदनों में उन रक्षापायों के बारे में जो उन रक्षापायों के प्रभावपूर्ण कार्यान्वयन के लिए संघ या किसी राज्य द्वारा किये जाने चाहिए तथा अनुसूचित जनजातियों के संरक्षण, कल्याण और सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए अन्य उपायों के बारे में सिफारिश का कार्य करना।
6. अनुसूचित जनजातियों के संरक्षण, कल्याण, विकास तथा उन्नयन के सम्बन्ध में ऐसे अन्य कृत्यों का निर्वहन करना, जो राष्ट्रपति संसद द्वारा बनायी गई किसी विधि के उपबन्धों के अधीन हो।

आयोग संविधान द्वारा निर्धारित उपर्युक्त महत्वपूर्ण कार्यों के सन्दर्भ में ही दायित्वों का विभाजन एवं कार्यों का आबंटन करता है, जिसमें अध्यक्ष आयोग का प्रधान होता है और आयोग में उत्पन्न सभी विषयों पर निर्णय लेने की अवशिष्ट शक्ति उसी में निहित होती है। अध्यक्ष ही अन्य सदस्यों को कार्यों का आबंटन करता है। कार्यों के आबंटन से सम्बन्धित आदेश आयोग के सचिवालय द्वारा सम्बन्धित व्यक्तियों तक पहुँचाया जाता है। आयोग के बैठकों की अध्यक्षता, अध्यक्ष करता है। इसके अनुमोदन के पश्चात ही कोई निर्णय लिया जाता है। अध्यक्ष किसी भी विषय पर जिसे वह आवश्यक समझता हो स्वंय ही निर्णय ले सकता है। उपाध्यक्ष उन सभी कार्यों को करता है, जो अध्यक्ष द्वारा उसको सौंपा जाता है। इसी प्रकार आयोग के सदस्यों का सामूहिक दायित्व होता है। सदस्यों का सबसे महत्वपूर्ण कार्य अनुसूचित जनजातियों के कल्याण से सम्बन्धित योजनाओं आदि के सम्बन्ध में सम्बन्धित राज्य सरकारों को परामर्श देना है। इसी प्रकार आयोग का सचिव जो आयोग का प्रशासनिक अध्यक्ष होता है, वह अपने विभिन्न अधिकारियों की सहायता से आयोग के कार्यों के सुचारु संचालन में अध्यक्ष एवं सदस्यों को

सहयोग प्रदान करता है। इस प्रकार से अनुसूचित जनजाति आयोग अपने कार्यों एवं दायित्वों का भलींभांति निर्वहन करता है।

15.3.3 आयोग के कानून तथा विधान

अनुसूचित जनजातियों के संरक्षण एवं विकास से सम्बन्धित अनेक कानून तथा विधान संघ और राज्य सरकारों द्वारा बनाये गये हैं। इनमें से कुछ संवैधानिक प्रावधानों से उत्पन्न हुए हैं। जिसे निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है- न्यूनतम मजदूरी अधिनियम- 1948, बंधित श्रम पद्धति (उन्मूलन) अधिनियम- 1976, बाल श्रम (प्रतिषेध तथा विनियमन) अधिनियम- 1986 और भूमि के हस्तांतरण को प्रतिषिद्ध करने सम्बन्धी अधिनियम आदि।

उपर्युक्त कानून तथा विधान के माध्यम से अनुसूचित जनजाति आयोग, अनुसूचित जनजातियों की न्यूनतम मजदूरी के निर्धारण का कार्य करता है, बंधुआ मजदूर बनने से रोक लगाता है और बालश्रम को प्रतिबंधित करता है तथा आदिवासियों की भूमि को संरक्षित करने का कार्य करता है।

15.3.4 विशिष्ट शिकायतों की जाँच एवं पद्धति

अनुसूचित जनजाति आयोग, अनुसूचित जनजातियों के अधिकारों के उल्लंघन या उन पर होने वाले अत्याचारों का त्वरित जाँच कर कार्यवाही सुनिश्चित करता है। आयोग द्वारा शिकायतों की जाँच को कारगर तरीके से करने के लिए अनुसूचित जनजाति के लोगों को यह स्पष्ट संदेश देता है कि वे अपनी शिकायतें प्रमाणित दस्तावेजों के साथ तथा संगत उपबन्धों के साथ करते हैं तो उनकी तुरन्त सहायता की जायेगी। अतः आयोग के साथ शिकायतें प्रस्तुत करते समय निम्नलिखित बिन्दुओं का अवश्य ही ध्यान रखना चाहिए-

- शिकायतकर्ता को अपनी पूरी पहचान, पूरा पता हस्ताक्षर सहित अवश्य अंकित करना चाहिए।
- शिकायत, सीधे अध्यक्ष/उपाध्यक्ष/सचिव/आयोग अथवा राज्य कार्यालयों के प्रधान को संबोधित होना चाहिए।
- शिकायतें स्पष्ट रुप से लिखित अथवा टंकित होनी चाहिए, साथ ही प्रमाणित दस्तावेजों के साथ भेजी जानी चाहिए।
- न्यायाधीन मामलों को आयोग को नहीं भेजना चाहिए तथा जिन पर निर्णय हो गया हो उन मामले पुनः नये सिरे से आयोग के समक्ष नहीं प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

अनुसूचित जनजाति आयोग अपने अधिकार के अन्तर्गत आने वाले विषयों की जाँच करने के लिए अनेक विधियां अपनाता है। जैसे आयोग सीधे ही जाँच कर सकता है, या मुख्यालय में गठित जाँचदल द्वारा, या राज्य कार्यालयों के माध्यम से या फिर राज्य एजेंसियों के माध्यम से अथवा केन्द्रीय सरकार द्वारा वित्त या कोई अन्य संस्था और इसके विधिक निकाय द्वारा अपना जाँच कार्य सम्पन्न कराती है। आयोग अनुसूचित जनजातियों से सम्बन्धित विशिष्ट शिकायतों की जो उसके सुरक्षा, कल्याण और विकास से सम्बन्धित हैं, उसकी जाँच आयोग सीधे ही कर सकता है। इसके लिए कोई भी कार्यवाही शुरु करते समय सम्बन्धित पार्टियों एवं अनुसूचित जाति के सदस्यों को सूचना का प्रेषण सुनिश्चित किया जाता है। आयोग राज्य के सभी सचिवों, पुलिस महानिदेशकों की वर्ष में एक बार मीटिंग आयोजित कर अनुसूचित जनजाति के सुरक्षा सम्बन्धी मुद्दों पर विचार कर कार्यान्वयन की पहल करता है। आयोग के पास विशिष्ट शिकायतों की जाँच करते समय दीवानी अदालत की वे सभी शक्तियाँ होंगी, जो समाधान हेतु जरुरी हैं।

जाँच करते समय आयोग यदि किसी व्यक्ति की उपस्थिति आवश्यक समझता है तो वह अध्यक्ष के अनुमोदन से उसे 'समन' भेज सकता है। आयोग जाँच के अन्तर्गत किसी मामले में साक्ष्य होने के लिए संविधान के अनुच्छेद-338 के खण्ड 8(ङ) के अन्तर्गत पत्र जारी कर सकता है और इस उद्देश्य के लिए लिखित आदेश द्वारा किसी व्यक्ति को नियुक्त कर सकता है। जाँच करने वाला सदस्य एक रिपोर्ट तैयार करेगा और वह रिपोर्ट नियम 34 के अन्तर्गत नियुक्त जाँच अधिकारियों को भेजी जायेगी। अन्ततः यह रिपोर्ट तीन दिनों के भीतर अध्यक्ष के समक्ष प्रस्तुत की जायेगी। इसके पश्चात अध्यक्ष के अनुमोदन से ही उस पर कार्यवाही प्रारम्भ की जायेगी। अध्यक्ष यह भी निर्णय ले सकता है कि प्रस्तुत रिपोर्ट का अन्वेषण व जाँच आयोग के मुख्यालय में गठित एक अन्वेषण दल द्वारा किया गया। परन्तु यदि मामला गम्भीर और तुरन्त कार्रवाई का है तो उस पर तुरन्त निर्णय आयोग के अध्यक्ष द्वारा लिया जायेगा।

विशिष्ट शिकायतों की एक स्पष्ट एवं सुव्यवस्थित जाँच पद्धति होती है। अतः आयोग उसकी परिधि में ही अपनी कार्यवाही करता है। इसीलिए उन मामलों पर कोई कार्यवाही नहीं करता है जो न्यायाधीन हैं। उन मामलों को भी आयोग नये सिरे से नहीं उठाता है जो न्यायालय द्वारा अंतिम निर्णय की स्थिति प्राप्त कर चुके हैं। आयोग स्थानान्तरण, तैनाती, आरक्षण तथा विभिन्न आदेशों आदि से सम्बन्धित प्रकरण को तब तक जाँच हेतु स्वीकार नहीं करता है, जब तक कि अनुसूचित जाति के किसी व्यक्ति के उत्पीड़न का आधार न हो। अनुसूचित जनजाति के किसी व्यक्ति के विरुद्ध किये गये अत्याचार के मामलों में आयोग तत्काल कार्यवाही करते हुए जिला प्रशासन द्वारा की गयी कार्यवाही का ब्योरा मांगता है तथा आरोपी के खिलाफ कार्यवाही ना होने की स्थिति में प्राथमिकी दर्ज करने की सिफारिश करता है। यह भी अनुवीक्षण करता है कि अत्याचार की सूचना प्राप्त होने पर जिले के कलेक्टर और पुलिस अधीक्षक द्वारा तुरन्त दौरा किया गया है? आयोग स्वयं स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए घटना स्थल का दौरा भी करता है। इस प्रकार सक्रिय भूमिका का निर्वहन करते हुए आयोग पीड़ित व्यक्ति को न्याय दिलाता है।

15.3.5 दीवानी अदालत के रुप में भूमिका

अनुसूचित जनजाति आयोग की दीवानी अदालत के रुप में भूमिका का प्रावधान भारतीय संविधान के अनुच्छेद-338 क (5) के उपखण्ड (क) में है, कि किसी शिकायत की जाँच करते समय आयोग को दीवानी अदालत की वे शक्तियाँ प्राप्त होंगी, जो उसे किसी मुकदमें को चलाने के लिए प्राप्त होती हैं। आयोग की दीवानी अदालत के रुप में भूमिका का अवलोकन निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत कर सकते हैं-

- भारत के किसी भी भाग से किसी व्यक्ति को 'समन' करना, आयोग के समक्ष उपस्थिति के लिए बाध्य करना, तथा उसका परीक्षण करना।
- किसी दस्तावेज के प्रकटीकरण और प्रस्तुतीकरण के लिए आदेश देना।
- शपथ-पत्र पर साक्ष्य ग्रहण करना।
- किसी न्यायालय या कार्यालय से लोक अभिलेख या उसकी प्रति को मांगना।
- गवाहों और दस्तावेजों के परीक्षण के लिए कमीशन जारी करना।
- कोई अन्य विषय जिसे राष्ट्रपति नियम द्वारा विनिर्धारित करें।

इस प्रकार अनुसूचित जनजाति आयोग, जनजातियों को उनकी शिकायतों के आधार पर न्याय दिलाने हेतु समन जारी कर सम्बन्धित व्यक्ति को दस्तावेजों को उपलब्ध कराने का आदेश देता है, साक्ष्य ग्रहण करता है और लोक

अभिलेख को मंगाता है तथा कमीशन जारी कर दस्तावेजों का परीक्षण करता है। इस प्रकार आयोग दीवानी अदालत की भूमिका का भलीभांति निर्वहन करता है।

15.3.6 आयोग के परामर्शी अधिकार

अनुसूचित जनजाति आयोग अपनी इस परामर्शी भूमिका का निर्वहन अपने सदस्यों, सचिवालय एवं राज्य कार्यालयों के माध्यम से करता है। वह राज्य सरकारों से पारस्परिक संबंध रखते हुए अपनी इस भूमिका का निर्वहन करता है। आयोग की इस भूमिका का अवलोकन दो स्तरों, पहला राज्य सरकारों के साथ तथा दूसरा योजना आयोग के साथ के स्तर पर समझा जा सकता है। आयोग, राज्य सरकारों के साथ अपनी परामर्शी भूमिका का निर्वहन, अपने सदस्यों, सचिवालय एवं राज्य कार्यालयों के माध्यम से करता है। किसी राज्य या संघ राज्य क्षेत्र का प्रभारी सदस्य बैठकों या व्यक्तिगत मुलाकातों, पत्रों आदि के द्वारा राज्य सरकार से पारस्परिक संबंध रखता है। इस सम्बन्ध में सूचना सम्बन्धित विभाग को पहले भेजी जानी चाहिए। राज्य कार्यालयों को भी सूचना भेजी जानी चाहिए। आयोग इसके लिए विस्तृत मार्गदर्शी सिद्धान्त बनाता है। इसमें आयोग का सचिवालय सम्बन्धित सदस्यों को सूचना आदि प्रदान कर सहयोग करता है। आयोग के सदस्य द्वारा निभायी जा रही इस परामर्शी भूमिका का भलीभांति निर्वहन करने हेतु सम्बन्धित राज्य सरकार द्वारा परिवहन, आवास एवं सुरक्षा आदि की सुविधाऐं उन्हें उपलब्ध करायी जाती हैं।

योजना आयोग के साथ अपनी परामर्शी भूमिका का निर्वहन, अनुसूचित जनजाति आयोग उसके द्वारा गठित विभिन्न समितियों, कार्यकारी दलों में अपने प्रतिनिधित्व के माध्यम से करता है। समय-समय पर आयोग, योजना आयोग को इस प्रकार के कार्यदल बनाने का परामर्श भी देता रहता है। इसके साथ ही योजना आयोग द्वारा अनुसूचित जातियों से सम्बन्धित योजनाओं तथा विकास प्रक्रिया सम्बन्धी दस्तावेजों के मूल्यांकन की कार्यवाही को आगे बढ़ाने का भी परामर्श देता है। आयोग, पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने हेतु भी योजना आयोग को विभिन्न प्रकार के परामर्श को समय-समय पर उपलब्ध कराता रहता है।

15.3.7 आयोग के प्रतिवेदन एवं रिपोर्ट

राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग, जनजातियों के संरक्षणात्मक उपायों एवं विकासात्मक गतिविधियों के बारे में संविधान के अनुच्छेद- 338 खण्ड 5(घ) के अनुसार राष्ट्रपति को प्रतिवर्ष या फिर ऐसे अन्य समयों पर जो आयोग उचित समझता है, रिपोर्ट प्रस्तुत करता है। आयोग, अनुसूचित जातियों से सम्बन्धित उन संरक्षणात्मक उपायों के राज्यों द्वारा कार्यान्वयन से सम्बन्धित सिफारिश भी अपने रिपोर्ट में राष्ट्रपति से करें।

अनुसूचित जनजाति आयोग का यह कर्त्तव्य है कि वह संवैधानिक सुरक्षणों के कार्यकरण तथा अनुसूचित जनजातियों के संरक्षण और कल्याण के लिए संघ और राज्यों द्वारा किये गये उपायों पर प्रतिवर्ष रिपोर्ट प्रस्तुत करे। इस श्रृखला में देखा जाय तो 1992 से 2004 तक ही अवधि में आयोग द्वारा सात वार्षिक रिपोर्ट तथा चार विशेष रिपोर्ट और अनेक सिफारिशें प्रस्तुत की गयी। ऐसी ही अपेक्षा आयोग से आगे भी की जा रही है। राष्ट्रपति संविधान के अनुच्छेद- 338 के खण्ड (6) के अनुसार सभी प्रतिवेदनों को तथा संघ से सम्बन्धित सिफारिशों पर की गयी या प्रस्तावित कार्यवाही को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवाता है।

इसी प्रकार संविधान के अनुच्छेद- 338 के खण्ड 7 में व्यवस्था है कि, 'जहाँ कोई प्रतिवेदन या उसका कोई भाग किसी ऐसे विषय से सम्बन्धित है, जिसका किसी राज्य सरकार से सम्बन्ध है तो ऐसे प्रविवेदन की एक प्रति उस राज्य के राज्यपाल को भेजी जायेगी जो उसे राज्य से सम्बन्धित सिफारिशों पर की गयी कार्यवाही या प्रस्तावित कार्यवाही को राज्य के विधान-मण्डल के समक्ष रखवायेगा।''

अभ्यास प्रश्न- 2

1. अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयोग से सम्बन्धित प्रावधान संविधान के किस अनुच्छेद में किया गया है?
2. अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयोग का कार्य निम्नलिखित में से कौन नहीं है?
3. अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयोग का पृथक-पृथक गठन किस संविधान संशोधन द्वारा किया गया?
4. अनुसूचित जनजाति आयोग के पहले अध्यक्ष थे?

15.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत आप लोगों ने अनुसूचित जाति व जनजाति आयोग की गठन प्रक्रिया, उसके कार्यों एवं दायित्वों और परामर्शी भूमिका, विधान तथा विशिष्ट शिकायतों की जाँच पद्धति का विस्तारपूर्वक एक विश्लेषणपरक अध्ययन किया। आयोग द्वारा संविधान के अनुच्छेद- 338 के अन्तर्गत दिये गये दीवानी अदालत की भूमिका का जिसके अन्तर्गत वह समन जारी कर किसी भी व्यक्ति को प्रमाणित दस्तावेजों के साथ उपस्थित होने का आदेश जारी करता है, का भी अवलोकन किया गया, क्योंकि आयोग अत्याचार से सम्बन्धित शिकायतों के त्वरित निपटारे हेतु स्वंय सक्रिय भूमिका निभाता है। वह जिला प्रशासन द्वारा गम्भीर घटनाओं के सम्बन्ध में की गयी कार्यवाही का भी अनुवीक्षण करता है।

वर्तमान उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण के इस आर्थिक दौर में अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति आयोग पृथक-पृथक अपनी भूमिका का संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार निवर्हन करते हुए उनके सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक उत्थान हेतु हर संभव कदम उठा रहा है। अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों से सम्बन्धित सुरक्षात्मक उपायों एवं विकासात्मक गतिविधियों में और तीव्रता लाने हेतु आयोग प्रतिवर्ष तथा समय-समय पर अपना प्रतिवेदन एवं रिपोर्ट राष्ट्रपति को सौंपता रहता है। राष्ट्रपति इस प्रतिवेदन को संसद में रखवाकर कानून निर्माण तथा क्रिवान्वयन द्वारा उसका पालन सुनिश्चित कराता है। इतना ही नहीं विशिष्ट शिकायतों की जाँच से सम्बन्धित पद्धति को निर्धारित करने की शक्ति संविधान द्वारा स्वयं आयोग को प्रदान की गयी है, जिससे आयोग अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के हितों को पूरी तरह संरक्षित एवं संवर्धित करता है। आयोग एक सकारात्मक एवं प्रभावी भूमिका का निर्वहन करता आ रहा है।

2003 के बाद अनुसूचित जाति आयोग तथा अनुसूचित जनजाति आयोग अलग-अलग कार्य करने लगे।

15.5 शब्दावली

उपबन्ध- कानून/ प्रावधान, कार्यान्वयन- लागू करना, पारमर्शी भूमिका- सलाह देने का कार्य, प्रतिवेदन- रिपोर्ट जो आयोग प्रतिवर्ष राष्ट्रपति को सौंपता है, जाँच पद्धति- जाँच हेतु अपनाया गया तरीका या विधि, सुरक्षणों- संविधान में जनजातियों की सुरक्षा के लिए किए गये प्रावधान/संरक्षण, प्रथक-प्रथक- अलग-अलग, रक्षोपायों- रक्षा के उपाय या रक्षा कवच, अन्वेषण- जाँच-पड़ताल, उपबन्ध- कानून या प्रावधान, कार्यान्वयन- लागू करना, पारमर्शी भूमिका- सलाह देने का कार्य,प्रतिवेदन- रिपोर्ट जो आयोग प्रतिवर्ष राष्ट्रपति को सौंपता है, जाँच पद्धति- जाँच हेतु अपनाया गया तरीका या विधि।

15.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न-1 **1.** 89वें संविधान संशोधन अधिनियम, **2.** सत्य, **3.** श्री सूरज भान, **4.** सत्य, **5.** असत्य

अभ्यास प्रश्न-2 **1.** अनुच्छेद-338, **2.** दण्ड देने का कार्य, **3.** 89वें संविधान संशोधन अधिनियम, **4.** श्री कुंवर सिंह

15.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. शर्मा, ब्रज किशोर (2007) ''भारत का संविधान'' पेरेटिस हाल आफ इंडिया प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. भारत का संविधान (2000), भारत सरकार विधि न्याय एवं कंपनी कार्य मंत्रालय।
3. त्रिवेदी, आर0एन0 एवं राय, एम0 पी0 ''भारतीय सरकार एवं राजनीति'' कालेज बुक डिपो प्रकाशन जयपुर।
4. 'हैण्ड बुक' (अनुसूचित जनजाति आयोग) 2009, हिन्दी।

15.8 सहायक उपयोगी/ पाठ्य सामग्री

1. पायली, एम0 वी0, इण्डियन कांस्टीट्यूशन।
2. राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग, पुस्तिका (हैण्डबुक) जून, 2005
3. फड़िया, बी0एल0, भारतीय लोक प्रशासन।

15.9 निबंधामक प्रश्न

1. राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग के गठन, कार्य एवं दायित्वों का विश्लेषण कीजिए।
2. राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग की विशिष्ट शिकायतों की जाँच-पद्धति तथा दीवानी अदालत के रुप में उसकी भूमिका का परीक्षण कीजिए।
3. राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग के गठन और उसके कार्य एवं दायित्वों का विश्लेषण कीजिए।
4. राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग की विशिष्ट शिकायतों की जाँच-पद्धति तथा दीवानी अदालत के रुप में उसकी भूमिका का परीक्षण कीजिए।

इकाई- 16 राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग और राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग

इकाई की संरचना

16.0 प्रस्तावना
16.1 उद्देश्य
16.2 राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग
    16.2.1 आयोग का संगठनात्मक ढ़ाँचा
    16.2.2 आयोग की कार्य-प्रणाली
    16.2.3 आयोग के उद्देश्य एवं कार्य
    16.2.4 आयोग की भूमिका
16.3 राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग
    16.3.1 अल्पसंख्यक आयोग का गठन
    16.3.2 अल्पसंख्यक आयोग के कार्य
    16.3.3 अल्पसंख्यक आयोग की सिफारिशें
    16.3.4 अल्पसंख्यक आयोग की प्रभावशीलता
16.4 सारांश
16.5 शब्दावली
16.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
16.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
16.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
16.9 निबंधात्मक प्रश्न

16.0 प्रस्तावना

भारतीय समाज विविधताओं से भरा है। भारतीय लोकतंत्र में सभी वर्गों को सामाजिक समानता और सुरक्षा प्रदान हो सके इसके लिए संविधान में व्यवस्था की गयी है। समाज के वंचित समुदाय को विशेष सुविधाऐं, सुरक्षा और आर्थिक सुरक्षा के लिए रोजगार अवसर मिल सकें, इसकी व्यवस्था की गयी है। पिछड़े और अल्पसंख्यक वर्गों का चहुमुखी विकास और उनका जीवन स्तर सामान्य वर्गों के बराबर हो सके, इसके लिए संवैधानिक प्रावधानों के अन्तर्गत 'राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग' और 'राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग' का गठन किया गया है।

इस इकाई में हम राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग और राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग के गठन/संगठनात्मक ढ़ाँचे , उनके कार्यों और उनकी भूमिका का अध्ययन करेंगे।

16.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग के संगठनात्मक ढ़ाँचे और कार्यप्रणाली से अवगत होंगे।
- राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग के उद्देश्य, कार्य एवं भूमिका के विषय में जान पायेंगे।
- राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग की आवश्यकता एवं महत्व को समझ सकेंगे।

- अल्पसंख्यक आयोग के कार्यों से अवगत हो सकेंगे।

16.2 राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग

भारत के संविधान में समाज के पिछड़े वर्गों के लिए विशेष सुविधाऐं एवं आरक्षण प्रदान किये गये हैं, ताकि इन जातियों एवं वर्गों का बहुमुखी विकास एवं जीवन स्तर अन्य वर्गों के समान हो सके। शैक्षिक और सामाजिक रूप से वंचित, पिछड़े वर्ग सम्बन्धी समस्याओं एवं विविध नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए सरकार ने राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग अधिनियम,1993 के अधीन एक पांच सदस्यीय एक आयोग का गठन किया है। भारत सरकार द्वारा गठित वी0पी0 मण्डल आयोग की संस्तुतियों के सन्दर्भ में माननीय उच्चतम न्यायालय की नौ सदस्यीय विशेष संविधान पीठ ने 1992 में 'इंदिरा साहनी बनाम भारतीय संघ' केस में अपने ऐतिहासिक फैसले में परमादेश जारी किया कि अन्य पिछड़े वर्ग में जातियों को सम्मिलित/निष्कासित करने के सम्बध में प्रत्येक राज्य सरकार एवं केन्द्र सरकार द्वारा ऐसे न्यायाधिकरण या आयोग गठित किये जायेंगे, जो शासन को अपनी संस्तुति देंगे, जिन्हें सरकार सामान्यतया मानने के लिए बाध्य होगी।

मण्डल मामले के फैसले के बाद सुप्रीम कोर्ट के दिशा-निर्देशों के अनुसार, भारत सरकार ने पिछड़ा वर्ग के लिए एक राष्ट्रीय आयोग की स्थापना, पिछड़ा वर्ग अधिनियम, 1993 (1993 के अधिनियम की संख्या 27) के अंतर्गत की। अधिनियम, 02 अप्रैल 1993 को प्रभाव में आया तथा इसके प्रावधानों के अनुरूप 14 अगस्त 1993 को तीन वर्ष की अवधि के लिए प्रथम राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग क गठन हुआ। आयोग का पुनर्गठन 28 फरवरी 1997, 28 जुलाई 2000, 24 मार्च 2002, 14 अगस्त 2006 तथा 07 जून 2010 को किया गया है।

आयोग के गठन के पूर्व पिछड़ा वर्ग के मामलों से सम्बन्धित पिछड़ा वर्ग प्रकोष्ठ 1985 तक गृह मंत्रालय में स्थापित था। 1985 में गृह मंत्रालय से पिछड़ा वर्ग कल्याण प्रभाग को अलग कर कल्याण मंत्रालय को संगठित किया गया। अनंतर इस मंत्रालय का नाम मई 1998 में सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय में बदल दिया गया।

16.2.1 आयोग का संगठनात्मक ढ़ाँचा

राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग अधिनियम, 1993 की धारा- 3 के अनुसार आयोग पांच सदस्यीय होगा, जिसका अध्यक्ष सर्वोच्च न्यायालय या किसी उच्च न्यायालय का एक वर्तमान या सेवानिवृत्त न्यायाधीश होगा। इसके अतिरिक्त आयोग में एक सामाजिक वैज्ञानिक, पिछड़े वर्ग से सम्बन्धित मामलों के ज्ञाता दो व्यक्ति तथा केंद्र सरकार में सचिव स्तर का एक अधिकारी होते हैं। सचिव स्तर का यह अधिकारी आयोग के सदस्य-सचिव के रूप में कार्य करता है। इसका कार्यकाल तीन वर्ष का होता है। इसके साथ ही आयोग में उप-सचिव, अनुभाग अधिकारी, वित्त एवं लेखाधिकारी, शोध अधिकारी, अन्वेषण अधिकारी निजी सचिव और अन्य लिपिकीय स्टाफ के पद सृजित किये गये हैं। पिछड़े वर्गों के लिए राष्ट्रीय आयोग का कार्यालय भीकाजी कामाप्लेस, नई दिल्ली में स्थित है।

16.2.2 आयोग की कार्य-प्रणाली

राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग को सौपें गये दायित्वों के निर्वहन हेतु आयोग द्वारा 'कार्य प्रक्रिया विनियमावली' निर्मित की गयी है, जिसके अनुसार देश के अन्य पिछड़े वर्गों के रक्षोपायों के संबंध में तथा उनकी विशिष्ट शिकायतों के निराकरण एवं शिकायतों की जाँच की जाती है। आयोग में इस कार्य हेतु शोध प्रकोष्ठ, जाति सम्मिलन निष्कासन, नियोजन मूल्यांकन, आरक्षण, उत्पीड़न आदि प्रकोष्ठ स्थापित किये गये हैं।

आयोग के शोध प्रकोष्ठ द्वारा पिछड़ी जाति की सूची में किसी जाति को सम्मिलित करने, पिछड़ी जाति की सूची से किसी जाति को निष्कासित करने, पिछड़ी जाति की सूची में शामिल करने तथा जातियों के नामों को संशोधित किये जाने के संबंध में प्राप्त प्रत्यावेदनों के निष्पादन हेतु शोध कार्य किया जाता है। मूल्यांकन एवं नियोजन प्रकोष्ठ द्वारा सरकार के विभिन्न विभागों द्वारा संचालित विभिन्न कार्यक्रमों एवं प्रदत्त अन्य सुविधाओं में पिछड़ा वर्ग के लिए प्रतिपादित आरक्षण की व्यवस्था ठीक तरह से लागू हो रही है कि नहीं, का अन्वेषण/परीक्षण किया जाता है। शिकायत प्रकोष्ठ के अन्तर्गत अन्य पिछड़े वर्ग के लोगों से उनके उत्पीड़न या अन्य सुसंगत शिकायतों के बारे में सुनवाई एवं निस्तारण के उपरान्त आयोग द्वारा सम्बन्धित विभाग को संस्तुति की जाती है।

16.2.3 आयोग के उद्देश्य एवं कार्य

राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग के प्रमुख उद्देश्य एवं कार्य निम्नलिखित हैं -

1. अन्य पिछड़े वर्गों की सूची में अपेक्षित संयोजन/निष्कासन एवं तत्संबधी शिकायतों पर सम्यक रूप से विचार कर संस्तुति देना।
2. अन्य पिछड़े वर्गों के संबंध में राज्य सरकार द्वारा संदर्भित किसी अन्य बिन्दु पर सलाह देना।
3. पिछड़े वर्गों के विकास का मूल्यांकन करना।

16.2.4 आयोग की भूमिका

अधिनियम की व्यवस्थानुसार केन्द्र सरकार इस अधिनियम के लागू होने से दस वर्ष की समाप्ति पर और उसके बाद दस साल की हर अवधि पर या किसी भी समय सूचियों के पुनर्रीक्षण का कार्य करवा सकती है।

समस्त सेवाओं में अन्य पिछड़े वर्गों को 27 प्रतिशत आरक्षण अनुमन्य कराने हेतु राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग प्रयासरत है। आयोग की भूमिका निम्नवत है-

1. आयोग अनुसूची में किसी वर्ग के नागरिकों को पिछड़े वर्ग के सम्मिलित किये जाने के अनुरोधों का परीक्षण करेगा और अनुसूची में किसी पिछड़े वर्ग के गलत सम्मिलित किये जाने की शिकायतें सुनेगा और केंद्र सरकार को उचित सलाह देगा।
2. तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के अधीन पिछड़े वर्ग के लिए उपबन्धित रक्षोपायों से सम्बन्धित सभी मामलों का अन्वेषण और अनुश्रवण करेगा और ऐसे रक्षोपायों की प्रणाली का मूल्यांकन करेगा।
3. पिछड़े वर्ग के अधिकारों से वंचित किये जाने के सम्बन्ध में विशिष्ट शिकायतों की जाँच करेगा।
4. पिछड़े वर्ग के सामाजिक-आर्थिक विकास की योजना प्रक्रिया में भाग लेना और उस पर सलाह देना और उनके विकास की प्रगति का मूल्यांकन करना।
5. केंद्र सरकार को उन रक्षोपायों की कार्यप्रणाली पर वार्षिक व ऐसे अन्य समयों पर जैसा आयोग उचित समझे, प्रतिवेदन प्रस्तुत करना।
6. पिछड़े वर्ग के संरक्षण, कल्याण, विकास और अभिवृद्धि के सम्बन्ध मे ऐसे अन्य कृत्यों का जो केंद्र सरकार द्वारा उसको निर्दिष्ट किये जायें, निर्वहन करना।

आयोग, पिछड़े वर्ग के विद्यार्थियों को छात्रवृति, अध्ययन सामग्री और छात्रावास आदि की व्यवस्था करता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग वित्त और विकास निगम भी सक्रिय है, जो गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाले पिछड़े वर्ग को विशेष आर्थिक सहायता और सस्ते ब्याज दर पर स्वरोजगार के लिए ऋण आदि की व्यवस्था करता है।

16.3 राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग

अल्पसंख्यक वर्गों को संरक्षित करने हेतु, स्वतंन्त्रता के पश्चात अधिनियमित संविधान के भाग 3, (अनुच्छेद 29 व 30) के अन्तर्गत विशेष प्रावधान किये गये। एक लोकतान्त्रिक सरकार का यह सबसे बड़ा दायित्व भी बनता है कि वह अल्पसंख्यक वर्गों के अधिकारों को किस प्रकार संरक्षित करे। अनुकूल परिस्थितियों में समग्र विकास के अवसर उपलब्ध कराना और निरन्तर प्रयत्नशील रहना उसका सबसे बड़ा दायित्व है। अल्पसंख्यक वर्ग का तात्पर्य उस समूह से है जो जाति, भाषा, धर्म की दृष्टि से बहुमत से भिन्न है। इसी प्रकार 1957 में केरल एजूकेशन बिल के सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय ने भी माना कि 'वह समूह जिसकी संख्या 50 प्रतिशत से कम हो वह अल्पसंख्यक वर्ग में आता है।'

संविधान भाषाई, धार्मिक और सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों को मान्यता प्रदान करता है। अल्पसंख्यक वर्गों के हितों का संरक्षण (अनुच्छेद- 29) के अन्तर्गत प्रावधान किया गया है कि ''भारत के राजक्षेत्र या उसके किसी भाग के निवासी नागरिकों के किसी अनुभाग को, जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाये रखने का अधिकार होगा।'' इसी प्रकार अनुच्छेद- 30 के अन्तर्गत यह प्रावधान किया गया है कि शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन करने का अधिकार धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों का होगा। मूलाधिकार के रूप में संविधान में इन प्रावधानों का उल्लेख करने का मूल उद्देश्य संविधान निर्माताओं का यह विश्वास था कि बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक वर्ग राष्ट्रीय जीवन में एक-दूसरे के सहयोगी और पूरक बनकर ही देश की लोकतान्त्रिक व्यवस्था को सशक्त कर सकते हैं। इसीलिए राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग का आगे चलकर गठन किया गया। निर्वाचन आयोग भी अल्पसंख्यक वर्गों के अधिकारों को संरक्षित करने में एक सहयोगी एवं पूरक की भूमिका निभाता है।

16.3.1 अल्पसंख्यक आयोग का गठन

अल्पसंख्यक वर्गों को सामाजिक न्याय दिलाने हेतु एक क्रान्तिकारी कदम उठाते हुए जनता पार्टी की सरकार (1978) द्वारा एक अल्पसंख्यक आयोग का गठन किया गया। स्वतन्त्रता के पश्चात से ही यह वर्ग अपने प्रति होने वाले भेदभावों को लेकर शिकायत करता रहता था। इस तरह के सभी भेदभावों से बचाने के लिए जनता पार्टी की सरकार द्वारा यह अयोग गठित किया गया।

अल्पसंख्यक आयोग जिसका गठन 1978 में किया गया। उस समय उसमें एक अध्यक्ष सहित तीन सदस्य थे। एम0 आर0 मसानी इस अयोग के अध्यक्ष थे और आर0ए0 अंसारी तथा वी0 वी0 जॉन इसके सदस्य थे। बड़े-बड़े मुस्लिम नेताओं ने यह भी मांग की कि जब सबसे बड़ा अल्पसंख्यक वर्ग मुसलमान है तो आयोग के अध्यक्ष पद पर भी किसी मुसलमान की नियुक्ति होनी चाहिए। इसके पश्चात सिखों ने भी अपना कोई प्रतिनिधि इस आयोग में ना होने पर अप्रसन्नता जाहिर की। यद्यपि सरकार ने इस मांग को प्रथम दृष्टया अतार्किक कहकर मानने से इन्कार कर दिया, परन्तु कुछ समय पश्चात मोरारजी देसाई जी ने आयोग के सदस्यों की संख्या 3 से बढ़ाकर 5 कर दी और अप्रत्यक्ष रुप से मांग स्वीकार कर ली। जब अध्यक्ष (एम0आर0 मसानी) ने 1978 में अपना त्यागपत्र सरकार को सौंपा, उसी समय आर0ए0 अंसारी को इसका अध्यक्ष बनाया गया। इसके साथ ही आयोग में सिखों, बौद्धों, ईसाईयों तथा पारसियों के प्रतिनिधियों को भी सदस्य बनाया गया। इससे आयोग के प्रति विश्वास में वृद्धि हुई। आज भी आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति में इसी परम्परा का अनुकरण किया जा रहा है।

16.3.2 अल्पसंख्यक आयोग के कार्य

अल्पसंख्यक आयोग का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यही है कि वह यह पता लगाये कि अल्पसंख्यकों को उनके अधिकारों तथा संविधान द्वारा प्रदत्त रक्षोपायों से वंचित तो नहीं किया जा रहा है, अथवा उनको वे सभी अधिकार उसी रूप में प्राप्त हो रहे हैं कि नहीं। बहुसंख्यक वर्गों के हितों को प्राथमिकता देने के चक्कर में अल्पसंख्यक वर्गों के हितों की कुर्बानी तो नहीं दी जा रही है।

आयोग के कार्यों का अवलोकन इसके अतिरिक्त निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत किया जा सकता है-

1. अल्पसंख्यक वर्गों से सम्बन्धित संवैधानिक रक्षोपायों के कानूनों का विश्लेषण करना।
2. ऐसे कानूनों के निर्माण की सिफारिश करना जो अल्पसंख्यक वर्गों के हितों को पूर्णतया संरक्षित करता हो।
3. संघीय तथा राज्य सरकारों से अल्पसंख्यक वर्गों के हितों को संरक्षित एवं संवर्द्धित करने से सम्बन्धित कानूनों

को जानने एवं लागू करने की सिफारिशें करना।

4. अल्पसंख्यकों के विरुद्ध होने वाले सामाजिक भेदभावों के विरुद्ध दूरदर्शी कदम उठाने हेतु सरकारों को प्रेरित

करना।

5. अल्पसंख्यक वर्गों से सम्बन्धित सूचनाओं को बनाने में एवं लागू करने में मदद करना।
6. समय-समय पर अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित रिपोर्ट को सरकार को सौंपना आदि।

आयोग, अपने कार्यों से सम्बन्धित क्रियाविधि स्वयं निर्धारित करता है। प्रत्येक मन्त्रालय तथा विभाग के लिए यह आवश्यक है कि वे आयोग के द्वारा मांगी गयी किसी भी प्रकार की सूचना एवं दस्तावेज उपलब्ध करायें। इसी प्रकार की अपेक्षा राज्य सरकारों से भी की जाती है कि वे आयोग को अल्पसंख्यक वर्गों के हितों से सम्बन्धित सूचनाऐं जो मांगी जाय, उपलब्ध करायें। अयोग अपनी क्रियाविध दिल्ली स्थित मुख्यालय से संचालित करता है।

16.3.3 अल्पसंख्यक आयोग की सिफारिशें

अल्पसंख्यक आयोग अपने कार्यों की तथा उसके साथ अल्पसंख्यकों के हितों से सम्बन्धित सभी रिपोर्ट राष्ट्रपति को सौंपता है। यदि आयोग आवश्यक समझता है तो अपनी सिफारिशों से सम्बन्धित रिपोर्ट राष्ट्रपति को एक वर्ष में एक से अधिक बार भी सौंप सकता है। राष्ट्रपति इन रिर्पोटों को संसद के समक्ष रखवाता है। जब भी कोई रिपोर्ट संसद के समक्ष रखी जाती है तब सरकार को उस रिपोर्ट से सम्बन्धित जो भी कार्यवाही की गयी होती है, उसे संसद के पटल पर रखना होता है। सामान्यतया सरकार आयोग की सिफारिशों को नजरन्दाज नहीं कर पाती है। इससे सरकार की अल्पसंख्यकों के प्रति जबावदेही सुनिश्चित होती है।

16.3.4 अल्पसंख्यक आयोग की प्रभावशीलता

अल्पसंख्यक आयोग की रिपोर्टों एवं सिफारिशों का प्रभाव यह रहा है कि अल्पसख्यकों के अधिकारों को संघ एवं राज्य सरकारों द्वारा संरक्षित किया गया है। किन्तु आयोग का अपना स्वयं का प्रभाव अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित कानूनों एवं नीतियों को लागू करवाने में नगण्य है। सरकारें इस तरफ अधिक संवेदनशील यद्यपि रही ही हैं, इसका सबसे बड़ा कारण यह भी रहा है कि विभिन्न राजनीतिक दलों में स्वयं को धर्मनिरपेक्ष दिखाने की प्रतिस्पर्धा रही है, जिससे चुनावों में उनको लाभ मिल सके। आयोग की संवैधानिक स्थिति को देखा जाय तो इसकी स्थापना कार्यपालिका के आदेश के द्वारा की गयी है। इसीलिए अल्पसंख्यक आयोग एक गैर-संवैधानिक

निकाय है। इसकी कोई कानूनी हैसियत नहीं है। इसीलिए इसकी प्रभावशीलता कम है या नगण्य ही कहा जा सकता है। संघ एवं राज्यों की सरकारें इसकी निरन्तर उपेक्षा करती रहती है।

राज्य सरकारों द्वारा आयोग को उसके द्वारा मांगी गयी सूचनाओं को देने से भी इंकार किया गया है। जम्मू-कश्मीर की सरकार द्वारा आयोग को जाँच-पड़ताल करने से साफ मना कर दिया गया, यह कहते हुए कि जम्मू-कश्मीर उसके क्षेत्राधिकार से बाहर है। इसके पश्चात प्रधानमंत्री के दबाव का भी राज्य के मुख्यमंत्री पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसी प्रकार अल्पसंख्यक अयोग की उपेक्षा, उत्तर प्रदेश एवं बिहार की सरकारों द्वारा भी किया जाता रहा है। इस स्तर पर आयोग पूर्णतया प्रभावहीन दिखाई पड़ता है।

वास्तव में देखा जाय तो अल्पसंख्यक आयोग की सिफारिशों की उपेक्षा केवल राज्य सरकारों ने ही नहीं की, अपितु संघ सरकार द्वारा भी किया जाता रहा है। आयोग को गठित करने वाली जनता पार्टी सरकार द्वारा भी आयोग द्वारा प्रस्तुत चार रिपोर्टों में से एक भी रिपोर्ट सामने नहीं रखा गया और ना ही स्वीकार किया गया। आयोग ने एक महत्वपूर्ण सिफारिश करते हुए हैदराबाद, मुम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास में क्षेत्रीय कार्यालय खोले जाने की बात कही गयी, किन्तु सरकार ने उसी समय इन्कार कर दिया था।

आयोग की प्रभावहीनता का एक प्रमुख कारण यह भी है कि इसके सदस्यों की नियुक्ति साम्प्रदायिकता के आधार पर की जाती है। विशेष रूप से अध्यक्ष एक मुसलमान सिर्फ इसलिए बनाया जाता है, क्योंकि अल्पसंख्यकों में सबसे बड़ा वर्ग मुसलमानों का है। जबकि एक गैर-मुसलमान अध्यक्ष भी अल्पसंख्यकों के हितों को संरक्षित करने की योग्यता रखता है। आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष आर0ए0 अंसारी की संदिग्ध भूमिका इस सन्दर्भ में जगजाहिर है। जमशेदपुर के साम्प्रदायिक दंगों में आर0एस0एस0 का हाथ है ऐसा बयान देना, भुट्टों को फांसी देने के पश्चात जलाये गये गिरजाघरों पर चुप्पी साध लेना और अलीगढ़ के कुछ छात्रों को गुण्डागर्दी करते हुए पकड़े जाने पर मुख्यमंत्री को तार देकर उन्हें छुड़ाने के लिए कहना आदि ऐसे कदम रहे, जिसके कारण आयोग की शाख गिरी। साथ ही आयोग के सदस्यों पर अध्यक्ष का अनुशासनिक नियन्त्रण नहीं रहता है, क्योंकि अध्यक्ष न तो सदस्य का तबादला कर सकता है और न ही उनकी गोपनीय रिपोर्ट लिख सकता है। आयोग में स्टाफ की कमी भी रही है। अल्पसंख्यकों को संविधान द्वारा जो अधिकार दिये गये हैं, उनकी रक्षा करने से सम्बन्धित कोई भी मशीनरी नहीं है। अतः आयोग की प्रभावशीलता इसीलिए आज भी क्षीण सी ही है, अर्थात अपने दायित्वों का निर्वहन वह आज भी भलीभांति नहीं कर पा रहा है।

अभ्यास प्रश्न-

1. राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग का गठन, पिछड़ा वर्ग आयोग अधिनियम- 1993 के अधीन किया गया। सत्य/असत्य
2. क्या राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग एक पॉंच सदस्यीय आयोग है?
3. क्या राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग, पिछड़े वर्ग के विकास का मूल्यांकन करता है?
4. पिछड़े वर्ग को कितने प्रतिशत आरक्षण के लिए राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग प्रयासरत है?
5. राष्ट्रीय अल्पसंख्यक वर्गों से सम्बन्धित प्रावधान संविधान में मूल अधिकारों के अन्तर्गत किया गया है। सत्य/असत्य
6. राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग का गठन कब किया गया?
7. राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करता है?
8. राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग का कार्यालय कहाँ स्थित है?

16.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग और राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग की गठन प्रक्रिया, उसकी शक्तियाँ एवं कार्यों के साथ ही साथ उसकी सिफारिशों और प्रभावशीलता के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक किये गये आलोचनात्मक विश्लेषण का अध्ययन किया गया। पिछड़े वर्गों और अल्पसंख्यक वर्गों के अधिकारों को संरक्षित करने हेतु गठित आयोग की कार्यप्रणाली पर इस इकाई के अन्तर्गत मुख्य रुप से प्रकाश डाला गया है। इसके साथ ही संविधान में दिये गये प्रावधानों का भी विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। पिछड़ा वर्ग और अल्पसंख्यक वर्ग किसे कहा जा सकता है, इसे समझने के क्रम में उच्चतम न्यायालय द्वारा अपने न्यायिक निर्णयों में दी गयी टिप्पणी को सबसे सरल रूप प्रस्तुत किया गया है। हमारा संविधान भाषाई, धार्मिक और सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों को ही मान्यता प्रदान करता है।

16.5 शब्दावली

अनंतर- उसके उपरान्त या बाद, ज्ञाता- जानकार या विशेषज्ञ, रक्षोपायों- रक्षा के उपाय, तत्सम्य प्रवृत्त- उसके समान, अल्पसंख्यक- जो वर्ग समूह जाति, भाषा, धर्म की दृष्टि से बहुमत से भिन्न है।, प्रासंगिकता- उपयोगिता, प्रावधान- कानूनी व्यवस्थाप्रतिवेदन- रिपोर्ट जो आयोग प्रतिवर्ष राष्ट्रपति को सौंपता है।

16.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, **2.** हाँ, **3.** हाँ, **4.** 27 प्रतिशत, **5.** सत्य, **6.** 1978 में, **7.** राष्ट्रपति को, **8.** भीकाजी काम्पलेक्स, नई दिल्ली

16.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. त्रिवेदी, आर0एन0 एवं राय, एम0 पी0, भारतीय सरकार एवं राजनीति, कालेज बुक डिपो प्रकाशन, जयपुर।
2. पायली, एम0वी0, कांस्टीट्यूशनल गवर्नमेंट इन इण्डिया।
3. सिवाच, जे0आर0 (2002), भारत की राजनीतिक व्यवस्था, हरियाणा साहित्य अकादमी।

16.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सिवाच, जे0आर0 (2002) भारत की राजनीतिक व्यवस्था, हरियाणा साहित्य अकादमी।
2. नारायण, इकबाल (1967) स्टेट पालिटिक्स इन इण्डिया।

16.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग के संगठनात्मक ढ़ाँचे और भूमिका की विस्तार से चर्चा कीजिए।
2. राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग के गठन और उसके कार्य एवं दायित्वों का विश्लेषण कीजिए।